दर्शन सिद्धान्त

श्री स्वामी रामदेव जी महाराज

❀ श्री हरिः ❀

दर्शन सिद्धान्त

लेखक :—

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजकाचार्य्य तपोमूर्ति वीतराग

श्री १००८ श्री स्वामी रामदेव जी महाराज

प्रकाशक :—

सूर्य्यस्वरूप ब्रह्मचारी,

गङ्गाबाग, पो० गङ्गाघाट, जि० उन्नाव

(उत्तर प्रदेश)

प्रथमवार १०००

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा

वि० सं० २०१३

दर्शन सिद्धान्त की विषय सूची

प्रकाशकीय वक्तव्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

परब्रह्म परमात्मा की असीम अनुकम्पा से आज हम दर्शन सिद्धान्त नामक ग्रन्थरत्न विचारशील पाठकों के समक्ष हिन्दी भाषा में उपस्थित कर रहे हैं। हमारी चिरकाल से उत्कट अभिलाषा थी कि संस्कृतज्ञ एवं हिन्दी भाषाभिज्ञ तत्व जिज्ञासु पाठकों के लिए एक ऐसे ग्रन्थ का प्रणयन किया जाय जो उन्हें विश्व के विभिन्न दर्शनों की विचारधारा का सम्यक् बोध करा दे। हमें प्रसन्नता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ इस उद्देश्य की पूर्ति करता है, यह दर्शन प्रेमियों के लिए बोधगम्य, विद्वानों के लिए मननीय एवं दर्शनों के उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए शुभ प्रेरणा प्रदान करता है। जन साधारण की धारणा है कि दर्शनों का विषय नीरस, क्लिष्ट एवं अरुचिकर होता है, कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि दर्शनों का विशाल ज्ञान भाण्डार विशाल काय ग्रन्थों में निहित है जो संस्कृत वाङ्मय के रत्न हैं, विरले ही महापुरुष इनका अध्ययन कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम धारणा की निःसारता सिद्ध करता है, दर्शन (शास्त्र) का विषय ही रस (ब्रह्म) का प्रतिपादन करना है, जहां रस है वहां क्लिष्टता एवं अरुचि भगवान् शङ्कर के दूषणों की भाँति भूषण बन जाते हैं। दूसरी धारणा में आंशिक सत्यता है, दर्शन का प्रतिपाद्यविषय प्रायः 'ब्रह्म या आत्मा' है जिसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (अणु से छोटा और बड़ा से बड़ा) कहा गया है। वेदों में नेति नेति कह कर जिसकी महिमा गाई है, उसके प्रतिपादन

के लिए मानव का बड़ा से बड़ा प्रयत्न अल्प ही है। ऐसी दशा में यदि ब्रह्मतत्व या आत्मतत्व प्रतिपादक ग्रन्थ विस्तृत हो तो आश्चर्य की क्या बात है ?

भारतवर्ष में अध्यात्मविद्या का स्थान सब विद्याओं में श्रेष्ठ माना गया है, इसके अनुशीलन से मानव आध्यात्मिक उन्नति करने के साथ ही लौकिक अभ्युदय की भी प्राप्ति करता है। मानवधर्म या कर्तव्य के निर्णय की सर्वोत्तम कसौटी पुरातन काल से यह विद्या ही रही है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने धर्म निर्णय के लिए जहाँ एक ओर धर्मज्ञ वेदज्ञाता विद्वानों के समूह सभा को धर्म निर्णय का अधिकार दिया है, वहीं दूसरी ओर अकेले अध्यात्मवेत्ता को धर्म व्यवस्था देने में प्रमाण माना है। अतः पारलौकिक एवं लौकिक श्रेयस् की प्राप्ति के लिए भी अध्यात्मविद्या के स्रोत दर्शनों का अध्ययन करना अनिवार्य है। क्योंकि मानव की शास्त्रानुरूप चेष्टाएँ पुरुषार्थ चतुष्टय "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" की जनक हैं और अशास्त्रीय क्रियाएँ परम अनर्थकारी हैं। मानव की उन अनर्थकारी चेष्टाओं के निवारणार्थ ही त्रिकालदर्शी महर्षियों ने "दर्शन सिद्धान्त" रूप अवलम्ब प्रदान किया है। क्योंकि पतनोन्मुख मानव के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई अवलम्ब नहीं है।

परम श्रद्धेय पूज्यपाद अनन्त श्री विभूषित स्वामी रामदेव जी महाराज ने इसी अभिप्राय से कई पुस्तकों की रचना की है, यह 'दर्शन-सिद्धान्त' आपकी पाँचवीं रचना है। इसमें स्वामी जी महाराज ने आस्तिक और नास्तिक समस्त दार्शनिकों के मौलिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन अत्यन्त संक्षेप में कराया है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी जी ने आस्तिक दर्शनों का अपूर्व सम्बन्ध स्थापित किया है, सर्व प्रथम न्याय-दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन का वर्णन किया है, जिसके जानने के लिये भक्त एवं जिज्ञासु जन चिरकाल से लालायित थे। इसके पश्चात् अन्य

दर्शनों का वर्णन है। क्योंकि इस क्रम से दर्शन शास्त्र का अध्ययन करने पर दर्शन सिद्धान्त का बोध सुगमता पूर्वक होता है, इसी कारण दर्शनों के अध्ययन में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के पारिभाषिक शब्द उपकारक सिद्ध होते हैं। अतएव आस्तिक मानव समाज को 'दर्शन-सिद्धान्त' का अध्ययन करके अपना कल्याण अवश्य सम्पादन करना चाहिए।

स्वामी जी महाराज प्रकाशन तथा विज्ञापन के संसार से पृथक् रहने वाले विशुद्ध तितिक्षा-उत्कृष्ट साधना सम्पन्न वीतराग महात्मा हैं। आपके द्वारा लिखित समस्त पुस्तकें धार्मिक उदार भक्तजनों के सत्-प्रयत्न से बिना मूल्य आस्तिक जनों को प्रदान करने के लिये प्रकाशित की गई हैं। आधुनिक वातावरण में जब कि प्रत्येक मानव अपना चरम लक्ष्य अर्थोपार्जन ही समझ बैठा है, ऐसे भीषण समय में मानव कल्याण के लिए निःशुल्क 'दर्शन सिद्धान्त' प्रदान की व्यवस्था करना बड़े नैतिक साहस का कार्य है। इस स्तुत्य धार्मिक आयोजन के लिए उदार भक्तजन धन्यवाद के पात्र हैं। विशेषकर मैं अपने कर्मठ सहयोगी अनेक ग्रन्थों के रचयिता श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी परिव्राजक (विशुद्धसाहित्यमाला-पैसिया, पो० सिधौली जि० सीतापुर) का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने अनवरत परिश्रम करके प्रूफ संशोधन [illegible] में अपना अमूल्य समय दिया है। इसके साथही मैं आयुर्वेदाचार्य पं०उपेन्द्रनाथजी शुक्ल एम०ए०का भी हार्दिक धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने प्रकाशन में आने वाली कठिनाइयों के अवसरपर मेरा उत्साह वर्द्धन किया। प्रस्तुत पुस्तक को शुद्ध बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है किन्तु फिर भी मुद्रण में जो त्रुटियां रह गई हैं उन्हें पाठकजन सुधार कर पढ़ें। निवेदक :—

सूर्यस्वरूप ब्रह्मचारी

गङ्गाबाग, पो० गङ्गाघाट, जि० उन्नाव।

दर्शन सिद्धान्त—
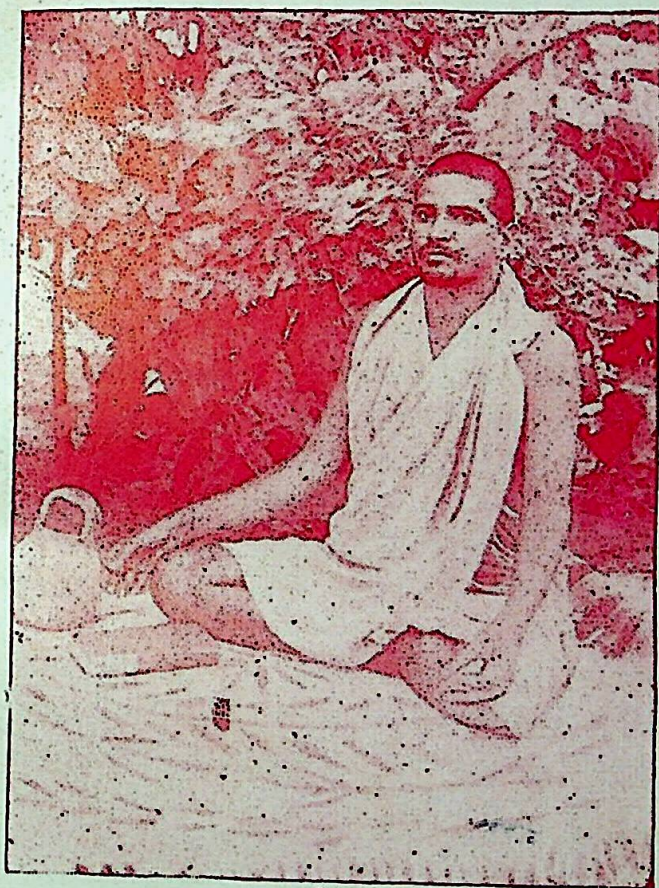
श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजकाचार्य्य तपोमूर्ति वीतराग
श्री १००८ श्री स्वामी रामदेव जी महाराज

दर्शन सिद्धान्त की भूमिका।

संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिस में विचार करने की शक्ति है। किन्तु वह विचार शक्ति सभी मनुष्यों में समान नहीं होती, अतएव सब के विचार करने की पद्धति तथा विचार द्वारा निश्चित सिद्धान्त विभिन्न होते हैं। सभी विचारक चाहते यही हैं कि इस विचार के द्वारा हम सुख शान्ति प्राप्त करें। लक्ष्य सबका एक ही है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों में मतभेद है। जैसे भूखे मनुष्य का लक्ष्य होता है भूख की निवृत्ति, किन्तु उसकी निवृत्ति एक ही प्रकार के साधन से नहीं होती। देश, काल, परिस्थिति तथा मनुष्य की प्रकृति के अनुसार रुचिकर भोजन सब का विभिन्न होता है। जिसको जो भोजन रुचिकर होता है उसी से उसकी भूख निवृत्त होती है। कितना ही भूखा मनुष्य क्यों न हो, यदि उसकी रुचि के अनुसार भोजन नहीं मिलता, तो उसकी तृप्ति नहीं होती। हां, किसी विशेष कारण से रुचि में परिवर्तन अवश्य हो सकता है। रुचिकर भोजन भी, तभी लाभ-दायक हो सकता है जब उसके पचाने की शक्ति होती है। यदि पचाने की शक्ति नहीं तो रुचिकर होने पर भी उससे हानि ही होती है। मनुष्य में सबसे बड़ा एक दोष भी है कि यह अपनी इन्द्रियों के वश होकर अपना अनर्थ कर बैठता है। अतएव मनुष्य के लिये ही अनेक प्रकार के नियम बने हुए हैं। जिसके पालन करने से ही उसका कल्याण हो सकता है। किन्तु उन नियमों का प्रतिपालन विरले ही पुरुष करते हैं।

प्राचीन समय में संसार के सभी देशों में मानव कल्याण के लिये जो मार्ग बतलाये गये हैं। वे उनकी योग्यता के अनुसार ही बतलाये गये हैं। क्योंकि जिस मनुष्य में जिस मार्ग पर चलने की योग्यता होती है। वह उसी पर चल कर परम शान्ति प्राप्त कर सकता है। अन्यथा कभी नहीं। किस मनुष्य में किस मार्ग पर

चलने की योग्यता है इसका विचार उपदेशक आचार्य्य को करना चाहिए। उपदेशक आचार्य्य वही हो सकता है। जिसमें मानव प्रकृति विचार की सामर्थ्य हो। यही सिद्धान्त दार्शनिक क्षेत्र में भी लागू होता है। जिस दर्शन के पढ़ने की योग्यता जिस मनुष्य में हो उसको उसी दर्शन का अध्ययन कराना और करना चाहिए। भारतीय षड्आस्तिक दर्शनों का तो यही नियम है। उन सब में अधिकारी–विषय सम्बन्ध–प्रयोजन रूप, अनुबन्ध चतुष्टय का विचार किया गया है। अध्यापक आचार्य्य सब दर्शनों का ज्ञाता होने पर भी उनके समीप जिस दर्शन के अध्ययन की योग्यता वाला विद्यार्थी जाता था उसको उसी का अध्ययन कराते थे। तभी उसकी बुद्धि में उस दर्शन का सिद्धान्त प्रविष्ट होता था। जब किसी एक दर्शन का सिद्धान्त समझ में आ गया, तब सभी दर्शन समझ में आ सकते हैं। उसमें किसी प्रकार की भी कठिनाई प्रतीत नहीं होती। जो दर्शन जिस भाषा में रचा गया है। उस भाषा का परिज्ञान आवश्यक है। भाषा परिज्ञान के लिये भाषा के नियम का परिज्ञान भी आवश्यक है। (उसी नियम को ही व्याकरण कहते हैं।) भाषा के नियम का परिज्ञान होने पर भी किसी दर्शन सिद्धान्त का परिज्ञान स्वयं अध्ययन करने से ठीक नहीं हो सकता। अतएव अध्ययन आचार्य्य के द्वारा ही करना चाहिए। भारतीय दर्शन संसार की सबसे प्राचीन भाषा संस्कृत में हैं। अतएव भारतीय दर्शनों को यथार्थ रूप से समझने के लिये संस्कृत भाषा का अध्ययन परमावश्यक है। भारतीय दर्शन के अध्ययन का क्रम इस प्रकार है। न्याय–वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा का क्रमशः अध्ययन करना चाहिए। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों के अध्ययन के पूर्व वेदाध्ययन आवश्यक है। क्योंकि सभी वेद को प्रमाण मानते हैं। पूर्वोत्तर मीमांसा का अध्ययन तो वेदाध्ययन के विना हो ही नहीं सकता, क्योंकि इन में वेद वाक्यों का ही विचार है।

वेद को प्रायः सभी आस्तिक दर्शन अनादि मानते हैं। यद्यपि न्याय तथा वैशेषिक मत में वेद पौरुषेय हैं। तथापि किस पुरुष का रचा हुआ है जब इसका विचार किया जाता है। तब सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान पुरुष विशेष ईश्वर ही वेद का कर्ता सिद्ध होता है। जब

ईश्वर सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान है तब जब से ईश्वर है तब से वेद है। ईश्वर अनादि अनन्त है अतएव वेद भी अनादि अनन्त है। निरीश्वर सांख्य दर्शनकार भी वेद को अनादि अपौरुषेय ही मानते हैं। योगदर्शन में भी ईश्वर के द्वारा ही वेद का आविर्भाव माना गया है पूर्वोत्तर मीमांसा में वेद को अपौरुषेय माना ही गया है। जो लोग वेद को अपौरुषेय या ईश्वर कृत नहीं मानते वे भी वेद को सबसे प्राचीन मानते हैं। और उसमें समस्त मानव की सुख शान्ति का साधन है ऐसा स्वीकार करते हैं। जो वेद को समझते नहीं अथवा पढ़ते नहीं वे ही वेद की निन्दा करते हैं।

यदि कहा जाय कि वेद के मानने वालों में भी मतभेद है तो वह मतभेद अधिकार भेद से है। जितने आर्ष ग्रन्थ तथा प्राचीन टीकायें हैं। उनमें मतभेद नहीं। यदि कहीं मतभेद की प्रतीति होती है वह वास्तविक नहीं।

इस दर्शन सिद्धान्त में हमने आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तोंको संक्षेप में ही दिया है, तथा शङ्कर-रामानुज, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्य्य महानुभावों के सिद्धान्तों का संक्षेप में ही वर्णन किया है। नकुलीश, पाशुपति, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर दर्शन के सिद्धान्त को भी संक्षेप में ही लिखा है। यद्यपि अन्य भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं तथापि वे सभी इन्हीं के अन्तर्गत आजाते हैं, षड् आस्तिक दर्शनों के भाष्य तथा टीकाओं में जो सूक्ष्म मतभेद है। उसका उल्लेख हमने नहीं किया। क्योंकि उससे ग्रन्थ का कलेवर अति विस्तृत हो जाता।

आस्तिक दर्शनों के अनन्तर नास्तिक दर्शनों का भी हमने वर्णन किया है उनकी भी संख्या ६ है। यथा चार्वाक, योगाचार, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक, जैन। इनमें चार्वाक दर्शन का मूल उपलब्ध नहीं। योगाचारादि बौद्ध मत के ही भेद हैं। इनकी पुस्तकें उपलब्ध हैं। इनके सिद्धान्त को भी संक्षेप में ही लिखा है। क्योंकि ये सभी पूर्व पक्ष के रूप में आस्तिक दर्शनों में भी आ जाते हैं। वास्तव में जो कुछ कहा सुना जाता है वह सब एक ही तत्व है। जैसा कि पाणिनि दर्शन सिद्धान्त में दिखलाया है कि शब्द ब्रह्म का ही रूप है। शब्द और अर्थ में भी कोई भेद नहीं। अतएव किसी

भी शब्द से कुछ भी कहा जाय वह ब्रह्म से भिन्न नहीं। अर्थात् अस्ति, नास्ति या अन्य किसी शब्द से किसी भी सिद्धान्त का प्रति-पादन किया जाना ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। अतएव जितने भी भारतीय दर्शनकार हैं। उन्होंने निज सिद्धान्त को सिद्ध करके मानव को कल्याण मार्ग की ओर ही ले जाने का प्रयत्न किया है। उनमें किसी भी प्रकार का राग द्वेष नहीं था। यदि राग द्वेष से युक्त मनुष्य होता है तो वह दार्शनिक हो ही नहीं सकता। राग-द्वेष के कारण बुद्धि स्थिर नहीं होती। बुद्धि स्थिर न होने से किसी भी सिद्धान्त का निश्चय नहीं होता। बिना किसी सिद्धान्त में निश्चय हुये सुख शान्ति की प्राप्ति कभी हो नहीं सकती यह सब दर्शनों का सिद्धान्त है।

इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है किन्तु वर्तमान समय में बिना दर्शनों का अध्ययन किये ही कुछ लोग दार्शनिक बनते हैं। अतएव दर्शनों के अभिप्राय को समझ ही नहीं पाते। इसी कारण अपनी भावना को दूषित कर लेते हैं। और दर्शनकारों में रागद्वेष आदि की कल्पना कर लेते हैं। हमने अन्य देशीय दर्शनों के सिद्धान्तोंको भी संक्षेप में दिया है। किन्तु हम यह निश्चित नहीं कह सकते कि उन पाश्चात्य दर्शनकारों का वास्तविक भाव क्या था। क्योंकि हम उनकी भाषा को नहीं जानते। उनके अनुवाद जो कुछ हिन्दी भाषा में मिले हैं। उन्हीं के आधार पर हमने कुछ लिखने का प्रयत्न किया है। अनुवादक लोग प्रायः अपने भाव के अनुसार ही अनुवाद करते हैं। अनुवाद भी सम्पूर्ण दर्शनों का अविकल रूप से नहीं प्राप्त हुआ। किन्तु कुछ आंशिक अनुवाद ही प्राप्त हुआ। यह तो निश्चित ही है कि प्रायः सभी देशों में समय २ पर दार्शनिकों का आविर्भाव हुआ करता है। और वे संसार के मनुष्यों को सुख शान्ति प्राप्ति का मार्ग अपनी विचार पद्धति द्वारा प्रदर्शित करते हैं।

हमने दर्शनकारों की जीवनी तथा उनके प्रादुर्भाव होने के समय का विचार नहीं किया, क्योंकि भारतीय दर्शनकारों के समय का तो कुछ निश्चय ही नहीं हो पाया है। केवल अनुमान के बल पर ही लोग निर्णय करते हैं। अनुमान विपरीत भी होता है। अन्य

देशों के दार्शनिकों का समय भी हमने नहीं लिखा है। क्योंकि यह कार्य्य इतिहासकारों का है। हमने तो दर्शनसिद्धान्त का ही दिग्दर्शन कराया है। जिससे दर्शन सिद्धान्त के जिज्ञासु कुछ लाभ उठा सकें। किन्तु लाभ उन्हीं को होगा जो अधिकारी होंगे। केवल दर्शन सिद्धान्त को रट लेने से ही लाभ नहीं होगा, वर्तमान समय में अधिकारी का विचार नहीं किया जा रहा है। सभी सब को अपने अपने सिद्धान्त समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं उससे मनुष्य की बुद्धि में संदेह बढ़ता ही जा रहा है। प्राचीन समय में योग्य विद्वान दार्शनिक सिद्धान्त का आपस में विचार करते थे। उस विचार से तत्व का निर्णय होता था। यदि जय पराजय के लिये विचार होता था तो उस समय विद्वानों की सभा होती थी। उसमें जो विद्वान् सबसे अधिक योग्य तथा पक्षपात रहित होता था उसको सभापति या मध्यस्थ बनाया जाता था। उस सभा का नियम होता था। उस नियम के अनुसार ही वादी प्रतिवादी व्यवहार करते थे। नियम भङ्ग करने वालों को सभापति नियन्त्रित करता था। मध्यस्थ के निर्णय को वादी प्रतिवादी स्वीकार करते थे। उस सभा का प्रवन्ध शासक की ओर से होता था। यदि मध्यस्थ के निर्णय को कोई स्वीकार नहीं करता था तो शासक उसको दण्डित करता था। वर्तमान समय में उस प्रकार की सभा नहीं होती। अधिकतर अशिक्षित जनता की सभा इकट्ठी करके उसको ही अपने सिद्धान्त का समझाने का प्रयत्न किया जाता है। जिसके प्रभाव से जनता प्रभावित हो जाती है। उसकी बात को स्वीकार करती है। जिसकी बात अधिक जनता स्वीकार करती है वही उस सभा में विजयी होता है। किन्तु संसार में अब भी अधिकांश जनता अशिक्षित है। वह विना पेंदी के लोटे के समान इधर उधर लुढ़का करती है। अर्थात् कभी किसी की बात मानती है कभी किसी की। यदि कहीं कोई जिज्ञासु किसी उपदेशक आचार्य के समीप जाता है तो वे आचार्य नामधारी उसकी परीक्षा विना किये ही अपने सिद्धान्त को उसकी बुद्धि में बलात् प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं। यदि आचार्य्य के पास न भी गया तो भी आज कल मुद्रणालय (छापाखाना) के कारण पुस्तकें सुलभ होजाने से समी प्रकार की पुस्तकें अध्ययन करने के लिये प्राप्त हो जाती हैं। प्रायः सभी दर्शन सिद्धान्त की पुस्तकें अथवा धार्मिक

आदि पुस्तकें पुस्तक विक्रेताओं के द्वारा उपलब्ध हो जाती हैं। पुस्तक विक्रेता यह नहीं विचार कर सकता कि कौनसी पुस्तक को कौन समझ सकता है। वह तो मूल्य लेकर पुस्तक विक्रय कर देता है। यदि वह योग्यव्यक्ति की परीक्षा करके पुस्तक विक्रय करने लगे तो उसका व्यापार ही ठप्प हो जाय। ऐसे ही अनेक प्रकार की पत्र पत्रिकायें निकल रही हैं। उनका नाम अति आकर्षक रख कर उनके द्वारा भी अनेक सिद्धान्त का प्रचार किया जा रहा है। किसी २ पत्रिका में तो अनेक सिद्धान्तों की खिचड़ी होती है। जिनको पढ़ कर साधारण मनुष्य का सन्देह और भी बढ़ जाता है। मनुष्य "किं कर्तव्य विमूढ़" हो रहा है कितने तो गंभीर सिद्धान्त को स्वयं पढ़ कर न समझने के कारण उन्मत्त हो जाते हैं। ऐसे समय में भी उन्हीं को लाभ हो सकता है। जो समझने की योग्यता रखते हैं। अतएव मनुष्य को योग्य बनने का प्रयत्न करना चाहिए। योग्यता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि क्रम से दर्शन का अध्ययन किया जाय। अध्य-यन क्रम वही है जो ऊपर हमने बतलाया है।

दर्शन सिद्धान्त समझने के लिये बुद्धि सूक्ष्मता की भी आवश्यकता है। बुद्धि सूक्ष्मता विना इन्द्रिय मन निग्रह के हो नहीं सकती, अतएव उन सबके निग्रह की भी परमावश्यकता है। यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है कि विना इन्द्रिय, मन को वश किये मनुष्य कभी भी अपना कल्याण नहीं कर सकता।

सांसारिक पदार्थों का भी वास्तविक रूप से परिज्ञान बिना इन्द्रिय मन को वश किये नहीं होसकता, लौकिक तथा पारलौकिक सुख भी वही प्राप्त कर सकता है जो जितेन्द्रिय है। वर्तमान समय में मनुष्य इन्द्रियों के वश होता चला जा रहा है। अतएव बौद्धिक तथा शारीरिक शक्ति का ह्रास दिन प्रतिदिन होता जा रहा है। कहा तो यह जा रहा है कि बुद्धि का विकास हो रहा है। क्योंकि अनेक प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा मनुष्यों को सुख की ओर अग्रसर किया जा रहा है। किन्तु यदि धैर्य्य पूर्वक सावधानी से विचार किया जाय तो प्रायः सभी आविष्कार मनुष्य को पतन की ओर ही ले जा रहे हैं। आविष्कार करने वालों की बुद्धि शुद्ध नहीं।

अतएव संसार संहारक उद्जन बम तक का आविष्कार कर डाला है। यदि मान भी लिया जाय कि बहुत से आधुनिक आविष्कार मनुष्य को सुख पहुँचाने के लिये हैं। तो भी जिस मनुष्य की इन्द्रिय समर्थ नहीं वह इन लौकिक उन्नतियों से भी सुखी नहीं हो सकता। जिस मनुष्य की नेत्र इन्द्रिय देखने में समर्थ है वह विद्युत प्रकाश से प्रकाशित नगर की शोभा का निरीक्षण कर सकता है। उप-नेत्र भी तभी सहायक होगा जब कि नेत्र इन्द्रिय में कुछ शक्ति हो यदि नेत्र इन्द्रिय बिल्कुल शक्ति हीन है तो चश्मा से लाभ नहीं हो सकता। सिनेमा आदि का आनन्द वही लूट सकता है जिसके नेत्र में विकार नहीं। दूरवीक्षण यन्त्र से भी वही देख सकता है जिसका नेत्र रोग-रहित है। रोग रहित होने पर भी यदि नेत्र इन्द्रिय में चञ्चलता है तो किसी भी रूप का वास्तविक साक्षात्कार नहीं हो सकता। वास्तविक साक्षात्कार विना, उस रूप दर्शन का आनन्द नहीं मिल सकता। ऐसे ही श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना के द्वारा भी शब्द, स्पर्श गंध तथा रस का आनन्द तभी मिल सकता है। जबकि उन इन्द्रियों में विषय ग्रहण करने की शक्ति हो। अन्यथा नहीं, संसार में सबसे अधिक आकर्षक तथा आनन्द दायक स्त्री पुरुष का संसर्ग माना गया है। यदि इन्द्रिय में शक्ति नहीं तो स्त्री पुरुष के परस्पर संसर्ग से भी आनन्द नहीं मिल सकता, मान लिया जाय कि इन्द्रियों में सर्व विषय ग्रहण करने की सामर्थ्य है। और समस्त सांसारिक विषय मनुष्य को प्राप्त भी हैं। यदि मन चञ्चल है तो किसी भी विषय का साक्षात्कार नहीं हो सकता न आनन्द ही प्राप्त हो सकता है। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य आधुनिक ढंग से सजे सुन्दर भवन में स्थित है। वह भवन भी आधुनिक ढंग से बने दुर्ग के अन्तर्गत है तथा उस दुर्ग की रक्षा करने के लिये, आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित विशाल सेना नियुक्त है। तथा उस भवन के अन्दर अनेक प्रकार की भोग सामग्री भी उपस्थित है। किन्तु यदि मन शोक, मोह, भय आदि के कारण चञ्चल है तो क्या उसको आनन्द प्राप्त हो सकता है, कदापि नहीं। विषयानन्द भी मन की स्थिरता से ही प्राप्त होता है। अतएव भारतीय दर्शनकार एक मत से कहते हैं कि यदि मन चञ्चल है तो ब्रह्मलोक में भी आनन्द नहीं मिल सकता।

जहां कि संकल्प से ही समस्त विषय उपस्थित होते हैं। यदि मन समाहित है तो सांसारिक विषयाभाव से युक्त निर्जन वन में असहाय निर्धन मनुष्य को भी परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसका अनुभव सभी लोग कर सकते हैं। भारतीय सर्व परिग्रह त्यागी सन्यासी तो सदा ही इस परमानन्द का अनुभव करते हैं। अत-एव सर्व दर्शनों का सिद्धान्त यही है कि प्रथम इन्द्रिय और मन को वश किया जाय। तभी बुद्धि में सूक्ष्मता आयेगी। सूक्ष्म बुद्धि से ही दर्शन सिद्धान्त का परिज्ञान होगा।

तभी आत्यन्तिक दु:ख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होगी, अन्य देशीय दर्शन भी प्राय: इस सिद्धान्त से सहमत हैं। दर्शन केवल तर्क वितर्क की ही विद्या नहीं है। यदि वास्तव में दर्शन सिद्धान्त का परिज्ञान हो जाय तो मनुष्य जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है। दर्शन सिद्धान्त को समझ लेने पर यह संसार ही आनन्द मय हो जाता हैं। उस दर्शनिक का आचरण भी आनन्द मय हो जाता है। अतएव अपने सहवर्तियों को भी आनन्दमय बनाता है। लोगों का यह कथन असत्य है 'कि दार्शनिक नीरस होता है! क्योंकि दर्शन सिद्धान्त ही नीरस है'। वास्तव में दर्शन ही रस को अभिव्यक्त करता है। नीरस पदार्थ संसार में कोई है ही नहीं सभी रसमय है। जो रस है वही आनन्द है वही ब्रह्म है ब्रह्म ही सब कुछ है। कथन के ढंग तथा भाषा में ही भेद है वास्तव में कुछ भी भेद नहीं। यही दर्शन का वास्तविक सिद्धान्त है।

प्रिय पाठक वृन्द, हमारी भाषा वर्तमान हिन्दी भाषा के अनसार नहीं है क्योंकि हमने सीधी भाषा का प्रयोग किया है कहीं दार्शनिक सिद्धान्त के समझाने के लिये पुनरुक्ति भी होगई है तथा भाषा का प्रवाह भी रुक गया है। हमारी लेखन शैली में अनेक दोष भी हो सकते हैं। क्योंकि मनुष्य स्वभावत: निर्दोष है नहीं, दोष दर्शनकर्ता को सर्वत्र दोष ही देख पड़ता है। यदि भाषा में कोई दोष हो तो भी सिद्धान्त के जिज्ञासुओं को यह लाभदायक ही होगा। इसके परिशिष्ट में आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति पर भी कुछ विचार करेंगे।

भाद्रपद शुक्ल ६ रविवार
सं० २०१२ वि०

"रामदेव"
गङ्गातट, हरद्वार।

" न्याय दर्शन की संक्षिप्त सूची "

न्याय दर्शन में पाँच अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं उसकी सूची संक्षेप में देते हैं।

१—प्रथम अध्याय में षोडस पदार्थ का कथन है।

२—अध्याय में संशय तथा प्रमाणसामान्य और प्रत्यक्षादि की परीक्षा है।

३—अध्याय में शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा का वर्णन तथा प्रासङ्गिक चक्षुरद्वैत का निरूपण, मनका व्यतिरेक कथन आत्मा की नित्यता शरीर और इन्द्रिय का भौतिकत्व इन्द्रियनानात्व शब्दादि विषयों की परीक्षा, बुद्धि की अनित्यता, बुद्धि का आत्मगुणत्व-आपवर्गित्व, शरीरगुणव्यतिरेकत्व का और मनकी परीक्षा, प्रसङ्गतः अदृष्टनिष्पाद्यत्व का वर्णन है।

४—अध्याय में प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव की परीक्षा तथा प्रसङ्ग से शून्य-तोपादान का निराकरण और ईश्वरमात्रकारणतानिराकरण, आकस्मिकत्वनिराकरण, सर्वानित्यत्वनिराकरण, सर्वनित्यत्व निराकरण, सर्वनानात्वनिराकरण, सर्वशून्यतानिराकरण, सांख्यैकान्तवादनिराकरण, फलपरीक्षा, दुःखपरीक्षा, अपवर्गपरीक्षा, तत्वज्ञानोत्पत्ति, अवयवी, अवयव, वाह्यार्थभङ्ग निराकरण, तत्वज्ञानविवृद्धि तत्वज्ञानपरिपालन का वर्णन है।

५—अध्याय में २४ प्रकार के जातिभेद का और २२ प्रकार के निग्रहस्थान का वर्णन है।

दर्शन सिद्धान्त

संसार भर के सभी दर्शनकार मनुष्य के भ्रम को दूर करके सम्यक् ज्ञान के द्वारा परम सुख शान्ति प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करते हैं। देशकाल परिस्थिति के भेद से उनके प्रतिपादन की शैली भिन्न२ होती है। तथा सिद्धान्त भी बाह्यदृष्टि से भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर किसी प्रकार का भेद प्रतीत नहीं होता। सभी दर्शनों का किसी न किसी रूप से परस्पर सम्बन्ध है। एक दर्शनकार जिस विषय का प्रतिपादन विस्तार से करता है–दूसरा उसको संक्षेप से करता है। कोई सिद्धान्त पूर्वपक्षरूप में होता है–कोई उत्तरपक्ष के रूप में होता है। सिद्धान्तप्रतिपादन की रीति न्यायदर्शन में उत्तम रूप से वर्णन की गई है। अतएव प्रथम न्याय दर्शन के सिद्धान्त का वर्णन करते हैं।

न्याय दर्शन का सिद्धान्त

न्यायदर्शन में 'प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्त–अवयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वितण्डा–हेत्वाभास–छल–जाति–निग्रहस्थान इन १६ पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेय की प्राप्ति माना है। इनका प्रयोग सभी विद्याओं में होता है जैसा कि न्यायसूत्र १–१–१ के भाष्य में श्लोक है।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वं कर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणाम्, विद्योद्देशे प्रकीर्तितम्॥

सब विद्याओं का प्रदीप, सब कर्मों का उपाय, सब धर्मों का आश्रय विद्या के उद्देश में कहा गया है।

सभी विद्याओं में तत्वज्ञान है और निःश्रेयस् की प्राप्ति है। जैसे कर्मकाण्ड में अग्निहोत्र आदि साधनों का स्वागत आदि परिज्ञान और अनुपहत आदि परिज्ञान तत्वज्ञान है। और निःश्रेयस् की प्राप्ति स्वर्ग की प्राप्ति है। वार्ता में भूमि आदि का ज्ञान और कण्टक आदि से अनुपहत ज्ञान तत्व ज्ञान है। खेती आदि की प्राप्ति नि.श्रेय की प्राप्ति है। राजनीति में साम, दान, दण्ड, भेद का देशकाल शक्ति के अनुसार विनियोग का ज्ञान तत्वज्ञान है। राज की प्राप्ति निश्रेय है। इसी प्रकार जिस दर्शन में जिस तत्व का प्रतिपादन है, उसीका ज्ञान तत्वज्ञान है। उसी के सिद्धान्त के अनुसार उसको निःश्रेय भी प्राप्ति होता है।

न्यायदर्शन की युक्तियों का उपयोग प्रायः सभी करते हैं, कुछ शब्दों में परिवर्तन कर देते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार निःश्रेय की प्राप्ति क्या है किस प्रकार से होती है उसको दिखलाते हैं।

दुःख जन्म प्रवृत्तिदोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापा-
येतदन्तरापायादपवर्गः।

मिथ्या ज्ञान नाम है आत्मा नहीं है शरीर मन बुद्धि आदि ही आत्मा है। उनके अनुकूल पदार्थों में राग तथा प्रतिकूल में द्वेष होना। वस्तुतः आत्मा के अनुकूल प्रतिकूल कोई वस्तु नहीं है। रागादि परस्पर सम्बन्धित हैं मूढ़ रक्त होता है रक्त मोह को प्राप्त होता है। मूढ़ कुपित होता है कुपित मोह को प्राप्त होता है। उसके अनन्तर उन दोषों से प्रेरित होकर प्राणी शास्त्र निषिद्ध हिंसा चोरी जारी आदि कर्मों को करता है। वाणी से असत्य बोलता है, मन से परद्रोह आदि करता है शरीर से हिंसा आदि में प्रवृत्त होता है। इस पाप रूप प्रवृत्ति का नाम अधर्म है। इसी प्रकार वाणी से सत्य

भाषण, मन से परद्रोह, काम, क्रोधादि का परित्याग, शरीर से हिंसा आदि का परित्याग, शास्त्र प्रतिपादित कर्म का आचरण धर्मरूप प्रवृत्ति है। इस प्रकार प्रवृत्ति से ही शरीरप्राप्तिरूप जन्म होता है पुनः शरीरत्यागरूप मरण होता है। प्रतिकूल पदार्थों के सम्बन्ध से दुःख होता है। इस प्रकार मिथ्या ज्ञान से दुःख तक निरन्तर अनादि काल से संसार चक्र घटीयन्त्र के समान घूमा करता है। जब कभी पूर्व जन्म का पुण्य उदय हुआ और आचार्य के उपदेश से तत्वज्ञान हुआ तो उस तत्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान निवृत्त होता है। मिथ्या ज्ञान निवृत्ति से दोष निवृत्त होता है दोष निवृत्ति से प्रवृत्ति निवृत्त होती है। प्रवृत्ति के निवृत्त होने पर जन्म निवृत्त होता है। जन्म के निवृत्त होने पर अत्यन्त दुःख की निवृत्ति होती है। यही आत्यन्तिकदुःख की निवृत्ति अपवर्ग है आत्यन्तिकनिवृत्ति का अर्थ है पुनः निवर्त्यसजातीय का उत्पन्न न होना। इस सिद्धान्त को सभी मोक्षवादी स्वीकार करते हैं। अतएव यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

हाँ दुःखनिवृति में क्या रहता है इसमें विप्रतिपत्ति है। न्याय शास्त्र में दुःख की निवृत्ति होने पर आत्मा मुक्त होकर स्थित होजाता है पुनः वन्धन में नहीं पड़ता ऐसा माना गया है। इस शास्त्र की तीन प्रकार से प्रवृत्ति होती है। उद्देश, लक्षण, और परीक्षा। नाम कथन पूर्वक पदार्थ का वर्णन करना उद्देश कहा जाता है, पदार्थ के व्यवच्छेदक (अलग २ करने वाले) धर्म को लक्षण कहते हैं। वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोष से रहित होने पर ही सिद्ध होता है। लक्ष्य के एक देश में रहने वाला लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित होता है। जैसे कपिलत्व गौ का लक्षण करने पर काली, नीली, श्वेत आदि गौ में नहीं घटेगा।

जो लक्षण अलक्ष्य में भी घटित हो उसको अति व्याप्ति दोष

वाला कहते हैं। जैसे शृङ्गित्व गौ का लक्षण भैंस आदि में भी चला जायगा। जो लक्ष्य में होवै नहीं उसको असम्भव दोष कहते हैं, जैसे गौ का एक शफत्व है, गौ में एक शफत्व होता नहीं इन्हीं लक्षणों को नव्य न्याय में अवच्छेदकावच्छिन्न रूप से वर्णन करते हैं। अर्थात् जिस धर्म से अवच्छिन्न लक्ष्य होता है वह धर्म लक्ष्यतावच्छेदक कहा जाता है। जो धर्म जिसका अवच्छेदक होता है वह उस धर्म से अवच्छिन्न होता है। जैसे लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व है और लक्ष्यता गोत्वावच्छिन्न है। इसका विवरण न्याय शास्त्र में ही देखना चाहिये विस्तार भय से यहाँ नहीं लिख रहे हैं।

लक्षित के लक्षण को प्रमाणों के द्वारा निश्चय करना 'इसमें लक्षण है या नहीं' इसको परीक्षा कहते हैं। अब प्रमाण का कथन करते हैं। न्याय शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द, चार प्रमाण माना गया है। अन्य प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमा के करण 'साधन' को प्रमाण कहते हैं। जो वस्तु जिस प्रकार की हो उसको उसी प्रकार से जानना यथार्थ अनुभव कहा जाता है। जैसे रजत को रजत रूप से जानना। विपरीत ज्ञान को अयथार्थानुभव कहते हैं उसी को अप्रमा कहते हैं। जैसे सीप को चाँदी समझना असाधारण कारण को करण कहते हैं। कार्य के पूर्व जो नियत रूप से वर्तमान रहता है उसको कारण कहते हैं। अर्थात् जिसके अभाव से कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता। प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहते हैं।

समवायि, असमवायि, निमित्त भेद से कारण तीन प्रकार का होता है। जिसमें समवायसम्बन्ध से वर्तमान होता हुआ कार्य उत्पन्न होता है उसको समवायि कारण कहते हैं। इसीका नाम उपादान भी है जैसे मिट्टी घट का उपादान कारण है कार्य

अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवेत होता हुआ कारण असमवायि कारण है। जैसे तन्तु संयोग पटका। तन्तु रूप पटगत रूप का, उन दोनों से भिन्न कारण निमित्त कारण है। जैसे तुरी वेम आदि पटका।

जो प्रत्यक्ष ज्ञान का करण है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो करण नहीं है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, व्यपदेश से रहित, व्यभिचार से रहित निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। सन्निकर्ष ६ प्रकार का होता है। संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेत समवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेषणविशेष्यभाव।

चक्षु से घट के प्रत्यक्ष होने में संयोग सन्निकर्ष होता है। अर्थात् चक्षु और घट के संयोग सन्निकर्ष से घट का प्रत्यक्ष होता है घट में रूप के प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि चक्षु संयुक्त घट में रूप का समवाय है।

रूपत्व सामान्यविषयकप्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि चक्षु संयुक्त घट में रूप समवेत है। उसमें रूपत्व का समवाय है। श्रोत्र से शब्द साक्षात्कार में समवाय सन्निकर्ष है क्योंकि कर्ण विवर में रहने वाला आकाश श्रोत्र है। शब्द आकाश का गुण है। गुण गुणी का समवाय है। शब्दत्व के साक्षात्कार में समवेत समवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि श्रोतसमवेत शब्द में शब्दत्व का समवाय है।

अभाव प्रत्यक्ष में विशेषण विशेषभावसन्निकर्ष है। क्योंकि भूतलघट अभाव वाला है। यहाँ पर चक्षु संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है। इस प्रकार षट्सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसका करण इन्द्रियां हैं अतएव इन्द्रियां प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस

प्रकार इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान, रूप यह है, रस यह है, इत्यादि प्रकार का होता है। रूप–रस–शब्दादि विषय के नाम हैं उन्हीं शब्दों से इन विषयों का कथन होता है। किन्तु प्रत्यक्ष स्थल में शब्द व्यवहार नहीं होता। अतएव उसको अव्यपदेश्य कहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें मरुस्थल में पृथ्वी उष्णता से सम्बन्धित होकर नदी के प्रवाह के समान बहती हुई दूर से चक्षु के सन्निकर्ष से जल–धारा का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु वह ज्ञान व्यभिचारी है क्योंकि उसके समीप जाने पर वहाँ जल नहीं प्रतीत होता। अतएव ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जो ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता उसको भी प्रत्यक्ष नहीं कहते। जैसे दूर से देखता हुआ निश्चय नहीं करता है कि धूलि है या धूम। समस्त दोषों से रहित इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष प्रमा है। यदि किसी प्रकार का दोष इन्द्रिय या मन में होता है तो उसको प्रत्यक्ष नहीं कहते हैं। अतएव प्रथम इन्द्रियों को दोषरहित करना चाहिये प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणों में मुख्य है बिना प्रत्यक्ष के किसी प्रमाण की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार का लक्षण जैसा कि ऊपर लिखा गया है सर्वश्रेष्ठ है। कुछ लोगों का कथन है कि यह लक्षण ठीक नहीं क्योंकि इसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष शब्द है ईश्वर के इन्द्रिय नहीं है वह बिना इन्द्रियों के ही समस्त विश्व को जानता है। उस ईश्वर के प्रत्यक्ष में यह लक्षण नहीं बनेगा। किंतु प्रथम तो ईश्वर के विषय में ही मतभेद है यदि ईश्वर सबको जानता भी है तो वह भी स्वकल्पित इन्द्रियों से ही जानता है। अथवा माया वृत्ति से जानता है। इसको माया वृत्ति कहा जाय या अन्तःकरण कहा जाय या मन बुद्धि चित्त कहा जाय। बिना किसी साधन के ईश्वर को भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जो तत्व वाह्य सम्बन्धों से रहित है उसको किसी का ज्ञान भी नहीं होता। जैसे ब्रह्म न ज्ञाता है न ज्ञेय है—

इसी प्रकार जो योगियों के लिये प्रत्यक्ष होता है वह भी मानस ही होता है मन को इन्द्रिय भी मान लिया जाता है। यद्यपि न्याय दर्शन में मन की गणना इन्द्रियों से पृथक् है तथापि भाष्यकार ने इस पर विचार किया है। और मनको इन्द्रिय मान लिया है। यद्यपि यह सिद्धान्त अन्य का है तब भी इसका प्रतिषेध नहीं है अतएव यही लक्षण उचित है। कुछ लोग प्रत्यक्ष और अपरोक्ष शब्द के अर्थ में मतभेद मानकर अपरोक्ष शब्द का प्रयोग उत्तम मानते हैं। किन्तु विचार करने से इनके अर्थों में कोई भेद नहीं दोनों पर्य्याय हैं।

अनुमान-प्रमाण

प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकार का है पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। कारण को देखकर कार्य के अनुमान को पूर्ववत् कहते हैं यथा मेघ की घटा को देख कर वर्षा का अनुमान किया जाता है। कार्य को देख कर कारण के अनुमान को शेषवत् कहते हैं जैसे नदी में बाढ़ तथा फेन मिट्टी आदि मिला हुआ जल देख कर वर्षा का अनुमान किया जाता है। गति पूर्वक ही अन्य स्थान में देखे हुये का अन्य स्थान में दर्शन होता है यह तो संसार में देखा जाता है। इसी प्रकार जिसकी गति नहीं देखी यदि उसको अन्य स्थान में देखते हैं तो उसकी गति का अनुमान करते हैं। जैसे सूर्य की गति अप्रत्यक्ष है किन्तु अनुमान से सिद्ध होती है। सूर्य की गति के विषय में वर्तमान समय में बहुत मतभेद है किन्तु सूर्य सिद्धान्त आदि ग्रन्थों में अनेकों युक्तियों से सूर्य की गति को सिद्ध किया है। अथवा कहीं दो वस्तुओं के साहचर्य्य को देखा है और अन्यत्र एक को देख कर दूसरे का अनुमान करना पूर्ववत् कहा जाता है। जैसे अग्नि का अनुमान धूम को देखकर किया जाता है। क्योंकि रसोई आदि स्थानों में धूम और

अग्नि का साथ देखा जाता है। कहीं दूर पर्वत आदि में धूम को देखने से अग्नि का अनुमान होता है।

शेषवत् परिशेष को कहते हैं जैसे द्रव्यगुणकर्म समवाय से विभक्त शब्द में सन्देह होने पर ही यह द्रव्य है, या गुण है, या कर्म हैं। तो इनमें शब्द का गुण निश्चय करना क्योंकि इसमें द्रव्य का लक्षण नहीं घटता तथा कर्म का भी लक्षण नहीं घटता अतएव यह गुण है, द्रव्यादि का लक्षण वैशेषिकदर्शन में लिखा जायगा। लिङ्ग लिङ्गी के सन्बन्ध के प्रत्यक्ष न होने पर किसी अर्थ से लिङ्ग के सामान्य से अप्रत्यक्ष लिङ्गी का ज्ञान होता है, उसको सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। जैसे इच्छा आदि लिङ्ग से आत्मा का ज्ञान होता है।

इस अनुमान का लक्षण न्याय के अन्य ग्रन्थों में भी किया है। कुछ उसका उद्धरण करते हैं। तर्कसंग्रह में 'अनुमिति करणमनुमानम्' "अनुमिति का करण अनुमान" इतना ही लक्षण किया गया है "परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः" परामर्श से जन्य ज्ञान अनुमिति है। "व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः" व्याप्ति से विशिष्टपक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं। जैसे वह्निव्याप्य धूमवान् यह पर्वत है उससे उत्पन्न पर्वत वह्निमान है यह ज्ञान अनुमिति है।

जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ वह्नि है 'इस साथ साथ रहने के नियम को व्याप्ति कहते हैं। अनुमान दो प्रकार का होता है स्वार्थ और परार्थ जो अपने लिये अनुमिति का हेतु है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे रसोई घर आदि में धूम और अग्नि के साथ को बार बार देख कर जिसने निश्चय कर लिया है कि जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है। वह व्यक्ति जब पर्वत के समीप जाता है तब वहाँ पर अग्नि के सन्बंन्ध में सन्देह को प्राप्त हुआ धूम को देख व्याप्ति का स्मरण करता है कि जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है'

इसके अनन्तर यह ज्ञान होता है कि वह्निव्याप्य धूमवान् यह पर्वत है इसीको लिङ्ग परामर्श भी कहते हैं उससे पर्वत वह्निमान है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है।

जो स्वयं धूम का अनुमान करके दूसरों के समझाने के लिये पांच अवयव वाले वाक्य का प्रयोग करता है उसको परार्थानुमान कहते हैं। जैसे पर्वत वह्निमान है धूमत्व होने से जो जो धूमवान है वह वह्निमान है। जैसे महानस, (रसोई घर) तैसा है तिस कारण से वैसा है। इस प्रतिपादित लिङ्ग से दूसरा भी अग्नि को जान लेता है। स्वार्थ और परार्थ अनुमिति में लिङ्ग परामर्श ही कारण है, अतएव लिङ्ग परामर्श अनुमान है लिङ्ग तीन प्रकार का होता है 'अन्वय व्यतिरेकि' केवलान्वयि, केवल व्यतिरेकि, ॥ अन्वय और व्यतिरेक से जो व्याप्ति वाला होता है वह अन्वय व्यतिरेकि कहा जाता है। जैसे साध्यवह्नि में धूमवत्व है जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, इसको अन्वय व्याप्ति कहते हैं। जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, यह व्यतिरेक व्याप्ति है। जैसे महाह्रद। अन्वय मात्र व्याप्ति वाले को केवलान्वयि कहते हैं। जैसे घट अभिधेय है प्रमेयत्व होने से जैसे पट। यहाँ पर प्रमेयत्व अभिधेयत्व की व्यतिरेक व्याप्ति नहीं है क्योंकि सभी प्रमेय और अभिधेय हैं। व्यतिरेक मात्र व्याप्ति वाले को केवल व्यतिरेकि कहते हैं। जैसे पृथिवी गन्धवत्व होने से इतर से भिन्न है। जो इतर से भिन्न नहीं वह गन्धवत् नहीं है जैसे जल यह वैसी नहीं है तिस कारण तैसी है। यहाँ पर जो गन्धवत् है वह इतर से भिन्न है। यहाँ अन्वय दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि पृथिवीमात्र पक्ष है। सन्दिग्ध साध्यवान् को पक्ष कहते हैं। जैसे धूमत्वहेतु में पर्वत पक्ष है। निश्चित् साध्यवान सपक्ष है। जैसे महानस। निश्चितसाध्याभाववान् विपक्ष हैं। जैसे महाह्रद। अनुमान के ऊपर न्यायशास्त्र में अतिसूक्ष्म विचार किया गया है।

किन्तु न्यायदर्शन में सरलरीति से अनुमान का लक्षण किया है। अनुमान को सिद्ध करने के लिये जो पाँच अवयव हैं उनको कहते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन। साध्य के निर्देश को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे पर्वत अग्नि वाला है उदाहरण के साधर्म्य से साध्य साधन को हेतु कहते हैं। जैसे धूमवान होने से, वैधर्म्य को भी हेतु में देते हैं॥ साध्य के साधर्म्य से उसके धर्म वाले दृष्टान्त को उदाहरण कहते हैं। जैसे महानस, (रसोईघर) विरुद्धधर्म वाले का भी उदाहरण दिया जाता है। उदाहरण के आधीन, तथा अथवा न तथा के द्वारा जो साध्य का उपसंहार है उसको उपनय कहते हैं। हेतु कथन से प्रतिज्ञा को पुनः कथन करने को निगमन कहते हैं।

कुछ लोग तीन ही अवयव मान लेते हैं, किन्तु पांच में समझाने की सरलता रहती है। इस हेतु और उदाहरण के द्वारा ही अपने२ पक्ष को तार्किक लोग सिद्ध करते हैं। अतएव उदाहरण (दृष्टान्त) का लक्षण न्यायदर्शन में किया है।

यथा (लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थेबुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।) लौकिक तथा परीक्षक की जिस अर्थ में समान बुद्धि हो उसको दृष्टान्त कहते हैं। अर्थात् जिसको एक साधारण मनुष्य भी समझ जाय तथा शास्त्र के द्वारा विचार करने वाले बुद्धिमान भी समझ जांय। किन्तु जो हेतु एक वादी देता है उसको दूसारा वादी आभास सिद्ध करता है। अर्थात् जो हेतु न हो और हेतु के समान प्रतीत हो उसको हेत्वाभास कहते हैं। ऐसे ही उदाहरणाभास भी होते हैं जिस हेतु के समझाने के लिये उदाहरण दिया जाता है जब वह हेतु ठीक नहीं तो वह उदाहरण कैसे ठीक होगा। अतएव हेत्वाभास का लक्षण कहते हैं।

हेत्वाभास लक्षण

१ सव्यभिचार, २ विरुद्ध, ३ प्रकरण सम, ४ साध्यसम, ५ कालातीत यह पाँच प्रकार के हेत्वाभास हैं।

जो एकत्र स्थित न हो उसको सव्यभिचार कहते हैं। उसके भी तीन भेद हैं, १ साधारण, २ असाधारण, ३ अनुपसंहारि यह तर्कसंग्रह में लिखा है। साध्य के अभाव में जो हेतु रहता है उसको साधारण कहते हैं। जैसे पर्वत अग्निमान है। प्रमेय होने से यह हेतुवह्नि के अभाव वाले ह्रद में भी है। जो सर्वसपक्ष विपक्ष से व्यावृत्त केवल पक्ष में रहता है उसको असाधारण कहते हैं—जैसे शब्द अनित्य है शब्दत्वात्-शब्द में ही रहता है। अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त से रहित अनुपसंहारी होता है—जैसे सब अनित्य है। प्रमेयत्वात यहां पर सभी पक्ष हैं अतएव कोई दृष्टान्त नहीं। जिस दृष्टान्त को माना है उसी के विरुद्ध हेतु देना विरुद्ध है जैसे—शब्द नित्य है कृतकत्वात, कृतकत्व नित्य हो नहीं सकता अतएव यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

जिससे प्रकरण की चिन्ता होती है वही निर्णय के लिये अपदिष्ट हुआ प्रकरण सम कहा जाता है। अर्थात् विमर्श के अधिष्ठान और प्रतिपक्ष अनिश्चित रूप होने से प्रकरण कहे जाते हैं। विमर्श से प्रारम्भ करके निर्णय के पूर्व तक जो विचार करना है उसको चिन्ता कहते हैं। वह जिज्ञासा जिसके द्वारा की जाती है वह निर्णय के लिए प्रयुक्त हुआ उभय पक्ष की समानता से प्रकरण को अतिक्रमण न करता हुआ प्रकरण सम होता है वह किसी सिद्धान्त के निर्णय में समर्थ नहीं होता है—जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि नित्यधर्म उपलब्ध नहीं होता है। जिसमें नित्यधर्म उपलब्ध नहीं होता है वह अनित्य है

जैसे स्थाली आदि। दूसरा पक्ष कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि अनित्यधर्म उपलब्ध नहीं होता। जैसे आकाशादि।

जहां पर समान धर्म संशय का कारण हेतुत्वरूप से ग्रहण किया जाता है वह संशय सम सव्यभिचार ही है। जो विमर्श की विशेषापेक्षिता और उभयपक्ष विशेषानुपलब्धि है वह प्रकरण को प्रवृत्त करती है—जैसे शब्द में नित्यधर्म नहीं उपलब्ध होता इसी प्रकार अनित्य धर्म भी वह उभयपक्ष की विशेषानुपलब्धि प्रकरण को प्रवृत्त करती है यदि किसी भी धर्म की उपलब्धि होजाय तो प्रकरण प्रवृत्त नहीं हो यदि शब्द में नित्यधर्म गृहीत हो तो भी प्रकरण न हो यदि अनित्यधर्म गृहीत हो तो भी प्रकरण न हो। वह यह हेतु दोनों पक्ष को प्रवृत्त करता हुआ एक के निर्णय के लिये समर्थ नहीं होता जो साध्य से अविशिष्ट हेतु है वह साध्य होने से साध्यसम कहा जाता है—जैसे छायाद्रव्य है, गमनशीलता होने से इसमें छाया की गमनशीलता भी साध्य है। काल के अतिक्रमण से अपदिष्ट कालातीत कहा जाता है—जैसे शब्द नित्य है संयोग से व्यङ्ग्य होने से। रूप के समान व्यक्ति से पूर्व और पश्चात् स्थित रूप दीपक और घट के संयोग से व्यक्त होता है। तथा स्थित शब्द भी भेरी और दण्ड के संयोग से अथवा काष्ठ और परशु के सयोग से व्यक्त होता है अतएव शब्द नित्य है संयोग व्यङ्ग्य होने से यह हेतु अहेतु है क्योंकि इसमें कालात्यय का अपदेश है। व्यञ्जक संयोग का काल व्यङ्ग्य रूप की व्यक्ति को अतिक्रमण नहीं करता। दीप के संयोग होने पर रूप का ग्रहण होता है। संयोग के निवृत्त होने पर नहीं होता।

काष्ठ और परशु के संयोग निवृत्त होने पर भी दूरस्थ पुरुष विभाग काल में शब्द सुनता है। यह शब्द की व्यक्ति संयोग के काल को अतिक्रमण करती है संयोग से निर्मित नहीं है क्यों कि—कारण

के अभाव से कार्य्य का अभाव होता है इस प्रकार उदाहरण के साधर्म्य के अभाव होने से यह हेतु नहीं है। तर्क संग्रह में प्रकरणसम साध्यसम–कालातीत के स्थान में सत्प्रतिपक्ष असिद्ध और बाधित कथन किया है। असिद्धके तीन भेद किये हैं आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध।

१—जैसे अनुमान किया कि आकाश कमल सुगन्धि है कमल होने से सरोज कमल केसमान यहां पर कमल का आश्रय आकाश नहीं तो आकाश कमल सुगन्धि का आश्रय नहीं अतएव यह हेतु आश्रयासिद्ध है।

२—जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से, रूप के समान यहां पक्ष में चाक्षुष नहीं है क्योंकि शब्द में श्रावणत्व है, अतएव यह स्वरूपा सिद्ध हेतु हुआ।

३—सोपाधिक हेतु को व्याप्यत्वा सिद्ध कहते हैं। साध्य में व्यापकत्व होने पर साधन में अव्यापकत्व को उपाधि कहते हैं। साध्य समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व को साध्य व्यापकत्व कहते हैं। साधवन्निष्ठान्त्याभाव प्रतियोगित्व को साधन व्यापक कहते हैं। जैसे पर्वत धूमवान् है वह्निमत्व होने से। यहां पर साध्य धूम है साध्य का अधिकरण पर्वत है,उस धूमाधिकरण पर्वत में आर्द्रेन्धन के संयोगाभाव को ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि धूम में आर्द्रेन्धन संयोग की सहकारिता है। घटादि का अभाव ही ग्रहण कर सकते हैं अतएव घट में तत्प्रतियोगित्व है। आर्द्रेन्धन संयोग में अप्रतियोगित्व है। आर्द्रेन्धन संयोग का साध्यव्यापकत्व है। वहां पर साधन अग्नि है उसका अधिकरण अयोगोलक है, उसमें आर्द्रेन्धन संयोगाभाव है आर्द्रेन्धन संयोग में तत्प्रतियोगित्व है। अतएव आर्द्रेन्धन संयोग की साधना

व्यापकता है आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है यह सिद्ध हुआ वह इस प्रकार, जहां जहां धूम है वहां वहां आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है क्योंकि अयोगोलक में आर्द्रेन्धन का अभाव है। यह साधन अव्यापकत्व है। सोपाधिक होने से वह्निमत्व व्याप्यत्वा सिद्ध है।

जिसका साध्याभाव प्रमाणान्तर से निश्चित है वह बाधित कहा जाता है। जैसे वह्नि अनुष्ण हैं द्रव्य होने से, यहां पर अनुष्णत्व साध्य है उसका अभाव उष्णत्व स्पर्श प्रत्यक्ष से ग्रहण किया जाता है। अतएव बाधित है। इस प्रकार अनुमान का वर्णन किया। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्त पाद भाष्य में भी अनुमान का वर्णन है। अनुमान प्रमाण में अति सूक्ष्म विवेचन है। इसका विस्तार से वर्णन न्याय के ग्रन्थों में है। वहीं पर देखना चाहिये जैसे गदाधरी—जागदीशी आदि। जिसकी बुद्धि जितनी सूक्ष्म होती है वह अनुमान करने में उतना ही कुशल होता है। अब उपमान का वर्णन करते हैं।

"उपमान प्रमाण"

प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य के साधन को उपमान कहते हैं, जैसे गौ के समान गवय है, जैसी मूंग है वैसी मुद्गपर्णी है। तर्क संग्रह में उपमिति के करण को उपमान कहते हैं, ऐसा लक्षण किया है। संज्ञा और संज्ञिके सम्बन्ध ज्ञानको उपमिति कहते हैं। उसका करण सादृश्य ज्ञान है। जैसे कोई मनुष्य गवयपद के वाच्यको न जानता हुआ किसी जङ्गली पुरुष से "गो सदृश गवयक होता है" इस वाक्य को सुनकर वन में गया और इस वाक्यार्थ को स्मरण करता हुआ गो सदृश पिण्ड को देखता है। उसके अनन्तर "यह गबयपद वाच्य है" यह उपमिति उत्पन्न होती है।

शब्द प्रमाण

आप्त के उपदेश को शब्द कहते हैं। यथार्थ वक्ता को आप्त कहते हैं। अर्थात् जिसने धर्म का साक्षात्कार कर लिया है और जैसा देखा है वैसा ही दूसरे को उपदेश करता है, उसका नाम आप्त है। यह लक्षण ऋषि, आर्य म्लेच्छ में समान है क्योंकि इसी से सब का व्यवहार होता है। इस प्रकार इन्हीं प्रमाणों से देव, मनुष्य, पशु आदि के व्यवहार होते हैं, अन्यथा नहीं हो सकते। वह शब्द दो प्रकार का हैं। दृष्ट और अदृष्ट अर्थ के लिये जिसका यहाँ पर अर्थ देखा जाता है वह दृष्टार्थ है। जिसका परलोक में अर्थ प्रतीत होता है वह अदृष्टार्थ है।

प्रमेय–वर्णन

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन,प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग, यह द्वादश प्रमेय हैं। अर्थात् उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, आत्मा के लिङ्ग हैं। चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय शरीर है। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, और श्रोत्र इन्द्रियाँ पाँच भूतों से उत्पन्न हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पृथिवी आदि भूतों के गुण हैं और घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं। इनका विशेष लक्षण वैशेषिक दर्शन सिद्धान्त में वर्णन करेंगे। बुद्धि–उपलब्धि और ज्ञान इनका एक ही अर्थ है। एक साथ ज्ञान का उत्पन्न न होना मन का लक्षण है, वाग्–बुद्धि–शरीर से शुभ अशुभ का आरंभ प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति के हेतुत्व लक्षण दोष हैं, अर्थात् राग द्वेष मोह ही दोष हैं। इन्हीं के कारण पुण्य या पाप में प्राणी की प्रवृति होती है। पुनः उत्पत्ति प्रेत्य भाव है। जहाँ कहीं प्राणधारी

शरीर में वर्तमान हुआ, प्रथम ग्रहण किये हुये शरीरादि का त्याग करता हैं, वहीं मरता है। जहाँ उत्पन्न शरीरादि को ग्रहण करता है, वहीं जन्म लेता है। प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न अर्थ फल है। पींड़ा लक्षण दुःख है। इनसे अत्यन्त विमोक्ष अपवर्ग है, अर्थात् दुख और जन्म से अत्यन्त मुक्ति अपवर्ग है। इसका वर्णन प्रारम्भ में कर आये हैं। प्रमाण और प्रमेय के अनन्तर संशय का लक्षण करते हैं।

संशय-लक्षण

समान धर्म की उपपत्ति होने से विशेष की अपेक्षा का विमर्श संशय है। जैसे स्थाणु और पुरुष के समान धर्म लम्बाई-चौड़ाई को देखता हुआ प्रथम देखे हुये दोनों की विशेषता को जानने की इच्छा करता हुआ यह क्या है स्थाणु है या पुरुष है एक का निश्चय न करना संशय हैं। अनेक धर्मों की उपपत्ति से संशय होता है। समान जातीय और असमान जातीय अनेक धर्म उत्पन्न होने पर विशेष की अपेक्षा संशय हैं जैसे गन्धवत्व होने से पृथिवी जल आदि से और गुण और कर्म आदि से विशेष है। शब्द में विभाग जन्य विशेष है। उसमें द्रव्य, गुण, वा कर्म है यह सन्देह है क्योंकि संशय उभय प्रकार देखा गया है। सत्‌रूप द्रव्य का गुण कर्म से विशेष है, अथवा सत् गुण का द्रव्य कर्म से अथवा सत् कर्म का द्रव्य गुण से इस प्रकार विशेष की अपेक्षा है। इनमें एक के व्यवस्थापक धर्म को नहीं प्राप्त कर रहा हूँ ऐसी बुद्धि संशय युक्त है। विरोधी ज्ञान से भी संशय होता है। जैसे आत्मा है, यह वाक्य है, आत्मा नहीं है, यह दूसरा वाक्य है। एक ही स्थान में श्रद्धात्व और अश्रद्धा रह नहीं सकते। इनमें से एक का साधक हेतु उपलब्ध नहीं होता, इसमें तत्व का निश्चय करना संशय है। उपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है। सूर्य की किरण में अविद्यमान जलउपलब्ध होता है।

अतएव कहीं उपलब्ध होने पर तत्व व्यवस्थापक, प्रमाण के उपलब्ध न होने से सत् उपलब्ध हो रहा है अथवा असत् उपलब्ध हो रहा है, ऐसा संशय होता है ऐसे अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है। जैसे तृणादि से ढका सत्जलउपलब्ध नहीं होता असत् अनुपपन्न, अथवा निरुद्ध है कहीं अनुपलब्ध होने से संशय होता है। इस प्रकार कई कारणों से संशय होता है इस संशय की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है।

जिस अर्थ को प्राप्त करना चाहिए, अथवा त्याग प्रयोजन करना चाहिए। निश्चय करके उसकी प्राप्ति या त्याग का उपाय करता है उसको प्रयोजन कहते हैं। दृष्टांत का लक्षण अनुमान के वर्णन में कर आये हैं।

सिद्धान्त लक्षण

सिद्धान्त चार प्रकार का होता है। सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम संस्थिति इतरेतराभिसम्बन्ध अर्थ समूह के उपदेश रूपी शास्त्र को ही तन्त्र कहते हैं। सर्व तन्त्र से अविरुद्ध तन्त्र में अधिकृत अर्थ को सर्व तन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। जैसे घ्राणादि इन्द्रियां गन्धादि विषय—पृथिवी आदि भूत, प्रमाण से अर्थ का ग्रहण समान तन्त्र में सिद्ध, परतन्त्र में असिद्ध को प्रतितन्त्र कहते हैं। जैसे असत् का आत्म—लाभ नहीं होता, सत् का आत्म—ह्रास नहीं होता इत्यादि सांख्य सिद्धान्त हैं। असत् उत्पन्न होता है उत्पन्न का नाश होता है, इत्यादि वैशेषिक दर्शन का। ऐसे ही और भी शास्त्रों का पृथक् पृथक् सिद्धान्त है जिस अर्थ के सिद्ध होने पर अन्य अर्थ सिद्ध होते हैं उसको अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। जैसे देह इन्द्रिय आदि से व्यतिरिक्त ज्ञाता है। क्योंकि बिना ज्ञाता के सिद्ध हुए अन्य ज्ञेय की सिद्धि ही नहीं होती। अतएव सबका आश्रय ज्ञाता है उसीसे इन्द्रिय

आदि की सिद्धि होती है। बिना परीक्षा के कुछ अर्थ को मान कर उसके विशेष की परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धान्त है। जैसे शब्द द्रव्य है, यह मान कर वह नित्य है या अनित्य, इस प्रकार सत् द्रव्य की नित्यताऽनित्यता रूपी विशेषता की परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त निज बुद्धि-वैभव को दिखलाने की इच्छा से पर-बुद्धि की तिरस्कार भावना से प्रवृत्त होता है।

तर्क लक्षण

अविज्ञात तत्व अर्थ में कारण और उपपत्ति के द्वारा तत्वज्ञान के लिये ऊहा करने को तर्क कहते हैं। यह न्याय की परिभाषा है। तर्क संग्रह की दीपिका टीका में "तर्क्यन्ते प्रति पाद्यन्ते" इति तर्काः द्रव्यादि पदार्थाः ऐसा अर्थ किया है। कहीं २ व्याप्यारोपेण व्यापका रोपस्तर्कः ऐसा अर्थ किया है। पक्ष और प्रतिपक्ष से विचार कर अर्थ के अवधारण को निर्णय कहते हैं।

प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और प्रतिषेध, सिद्धान्त से अविरुद्ध-पञ्च अवयव से युक्त पक्ष या प्रतिपक्ष के परिग्रह को वाद कहते हैं। उपरोक्त लक्षण से युक्त छल, जाति, निग्रह स्थान के द्वारा साधन और निषेध को जल्प कहते हैं। वह जल्प प्रति पक्ष की स्थापना से हीन, वितण्डा कहा जाता है।

अर्थ विकल्प की उपपत्ति से वचन के विघात को छल कहते हैं वह तीन प्रकार का होता है। वाक्-छल, सामान्य-छल, उपचार-छल, अविशेष कहे अर्थ में वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ की कल्पना को वाक् छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहाकि "नवकम्बलोऽयं माणवकः" यह ब्रह्मचारी नव कम्बल वाला है। इसमें वक्ता का अभिप्राय है नव (नया) कम्बल इसका है। किन्तु छलवादी ने वक्ता के

अभिप्राय के विरुद्ध नव कम्बल इसके पास कहाँ है। यह तो एक ही कम्बल वाला है। ऐसा अर्थ करके वक्ता को मिथ्यावादी सिद्ध करता है। नव शब्द का अर्थ नव संख्या करके वक्ता के नव शब्द का नूतन अर्थ विरुद्ध कल्पना वाक्छल है। सम्भव अर्थ का अतिसामान्य योग से असंभूतार्थ कल्पना को सामान्य छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहाकि यह ब्राह्मण विद्याचरण सम्पन्न है। इस वचन का विघात करके छल वादी कहता है यदि ब्राह्मण में विद्याचरण सम्पत् सम्भव है तो व्रात्य में भी संभव है क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण है जो विवक्षित अर्थ को प्राप्त करता है और अतिक्रमण करता है उसको अति सामान्य कहते हैं। जैसे ब्राह्मणत्व कहीं विद्याचरण संपत् प्राप्त करता है कहीं अतिक्रमण करता है।

धर्म विकल्प निर्देश होने पर अर्थ के सद्भाव के प्रतिबन्ध को उपचारछल कहते हैं। जैसे किसी ने कहा मञ्च शब्द कर रहे हैं, छल वादी कहता है कि तुम असत्य बोल रहे हो, मञ्च पर स्थित पुरुष शब्द कर रहे हैं। इस प्रकार छल के द्वारा अन्य के अभिप्राय को बदल कर अनेक स्थानों में खण्डन किया जाता है। वास्तव में जिस अभिप्राय से वक्ता ने शब्द का प्रयोग किया हो वही अर्थ करना चाहिये।

साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रतिषेध करने को जाति कहते हैं। विप्रतिपत्ति और अविप्रतिपत्ति को निग्रह स्थान कहते हैं। अभि-प्राय यह है कि हेतु के प्रयोग में जो प्रसंग उत्पन्न होता है उसको जाति कहते हैं। उदाहरण के साधर्म्य से साध्य के साधर्म्य को हेतु कहते हैं। इसको वैधर्म्य से प्रतिषेध करना जाति है। जहाँ वैधर्म्य के द्वारा सिद्ध किया जाय वहाँ साधर्म्यसे प्रतिषेध जाति दोष होता है। इस प्रकार २४ प्रकार के जाति दोष हैं। वह अति सूक्ष्म हैं। वे इनको

न्यायदर्शन में पढ़ना चाहिये। विस्तार भय से नहीं लिख रहे हैं। ऐसे निग्रह स्थान पराजय की वस्तु है प्रतिज्ञा आदि अवयव के आश्रय से रहते हैं, वादी प्रतिवादी में होते हैं, बहुत सूक्ष्म बुद्धि से जाने जाते हैं। उनके भेद भी १२ प्रकार के हैं न्यायदर्शन में पढ़ना चाहिए। उपरोक्त नियमों के द्वारा ही संसार में प्रायः अपने सिद्धान्त को सिद्ध किया जाता है। उद्देश और लक्षण का वर्णन किया अब कुछ परीक्षा का वर्णन करते हैं। न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में प्रथम संशय की ही परीक्षा की है क्योंकि संशय के बिना किसी पदार्थ की जिज्ञासा नहीं होती।

पूर्व पक्ष

समान धर्म के निश्चय से अथवा अनेक धर्म के निश्चय से या दो में एक के धर्म के निश्चय से संशय नहीं हो सकता। इसी प्रकार विप्रतिपत्ति तथा उपलब्धि की अव्यवस्था के निश्चय से भी संशय नहीं हो सकता जिस विप्रतिपत्ति को आप संशय का हेतु मानते हैं वह संप्रतिपत्ति है यदि विप्रतिपत्ति से संशय है तो सम्प्रतिपत्ति से ही संशय है। यदि यह अव्यवस्था आत्मा में व्यवस्थित है तो व्यवस्थान से अव्यवस्था नहीं होती। इस प्रकार संशय अनुपपन्न है। यदि अव्यवस्था आत्मा में व्यवस्थित नहीं है तो तादात्म्य के अभाव से अव्यवस्था नहीं है, अतएव संशय का अभाव है। जिस जिस कल्प से आप समान धर्म की उपपत्ति से संशय होता है इस प्रकार मानते हैं। उससे अत्यन्त संशय की प्रसक्ति होती है। क्योंकि समान धर्म की उपपत्ति का उच्छेद नहीं होता तो संशय का भी उच्छेद नहीं होगा।

उत्तर पक्ष

संशय की अनुपपत्ति अथवा संशय का उच्छेद प्रसक्त नहीं होता

क्योंकि समानधर्म का अध्यवसाय ही संशय का हेतु है समान धर्म मात्र नहीं वहाँ विशेष की अपेक्षा होती है। वह विशेष के उपलब्ध न होने पर होती है। जहाँ कहीं संशय हो वहाँ ऐसा ही उत्तर देना चाहिये।

प्रमाण परीक्षा

पूर्वपक्ष

प्रत्यक्षादि की अप्रमाणता है क्योंकि पूर्व-अपर और सहभाव की अनुपपत्ति है। यदि प्रथम प्रमाण सिद्ध हो तो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न होगा। प्रमाण पश्चात् सिद्ध होने पर प्रमेय की सिद्धि नहीं होगी। यदि प्रमाण प्रमेय युगपत् सिद्ध हैं तो बुद्धि के क्रम वृत्तित्व का अभाव होगा। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियों के विषय भिन्न हैं, एक साथ सब प्रत्यक्ष होता नहीं।

उत्तर-पक्ष

यदि पूर्व ही प्रतिषेध सिद्ध है तो आप प्रतिषेध किसका कर रहे हैं। क्योंकि विना प्रतिषेध्य के प्रतिषेध होता ही नहीं। यदि पश्चात् सिद्ध होता है तो प्रतिषेध के अभाव से प्रतिषेध्य सिद्ध नहीं होता। यदि युगपत् सिद्ध हैं तो प्रतिषेध की सिद्धि स्वीकार करने से प्रतिषेध निरर्थक है। प्रतिषेध लक्षण वाक्य के अनुपपन्न होने से प्रत्यक्षादि को प्रमाणता सिद्ध है। तथा सब प्रमाणों के प्रतिषेध करने से प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होती। प्रतिषेध लक्षण अपने वाक्य को प्रमाण स्वीकार करने से सर्व प्रमाण का विप्रतिषेध नहीं होता तुला प्रामाण्य के समान प्रमेय है। जैसे तोला स्वयम् प्रस्वरूप रत्ती मासा से तौलते समय प्रमेय होता है, और प्रमाण भी है।

"पूर्व पक्ष"

प्रमाण से अन्य प्रमाणों की सिद्धि होने पर उस प्रथम प्रमाण की सिद्धि के लिये किसी अन्य प्रमाण की सिद्धि करनी होगी। इस प्रकार अव्यवस्था दोष आ जायगा। यदि विना प्रमाण के प्रमाण को सिद्ध मानोंगे तो प्रमेय को भी वैसे ही मान लो।

उत्तर पक्ष

आपका आक्षेप उचित नहीं। क्योंकि जैसे दीप का प्रकाश अपनी सत्ता से अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है और स्वयं अपना भी प्रकाश करता है ऐसे ही प्रमाण भी अपना प्रकाश करता हुआ अन्य को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की भी परीक्षा पृथक् पृथक् की है विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखते हैं, न्यायदर्शन में देखना चाहिये। यहाँ तो केवल प्रमाण की परीक्षा करके उसके ढँग को दिखलाया है। प्रमाणों के विषय में दर्शनकारों में मतभेद है चार्वाक्, प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही सभी का निर्वाह कर लेता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के मानने पर कठिनाई होती है। किन्तु यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो प्रत्यक्ष से भी काम चल सकता है क्योंकि बिना प्रत्यक्ष के किसी प्रमाण की सिद्धि नहीं होती। किन्तु कहीं कहीं प्रत्यक्ष से ही व्यवहार नहीं बनता है अनुमान की भी अपेक्षा होती है। अतएव कणाद, और बौद्ध अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है धूम प्रत्यक्ष है किन्तु अग्नि नहीं। सांख्य शास्त्र में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द को भी प्रमाण मान लिया है; क्योंकि कहीं कहीं बिना शब्द–प्रमाण के व्यवहार नहीं होता। जैसे अपने पिता का ज्ञान। कुछ न्याय के मानने

वाले भी तीन ही प्रमाण मानते हैं किन्तु न्यायदर्शन में उपमान को मानकर चार प्रमाण माना है। क्योंकि बिना उपमान के भी व्यवहार नहीं चलता। जैसे गवय का ज्ञान बिना उपमान के नहीं होता है। प्रभाकर, अर्थापत्ति प्रमाण और मानते हैं अतएव उनके मतसे ५ प्रमाण हैं। अभाव को भी प्रमाण मानकर भट्ट और वेदान्ती ६ प्रमाण मानते हैं। सम्भव और ऐतिह्य को मिला देने से पौराणिकों के ८ प्रमाण हो जाते हैं। जो जितना ही अधिक प्रमाण मानता है उसको अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में उतनी ही सुगमता होती है जितना ही न्यून प्रमाण होता है उतनी ही कठिनाई होती है। किन्तु सबको अधिक का न्यून में अन्तर्भाव करना पड़ता है। न्यायदर्शन में शब्द को अनित्य माना है अतएव उसी की सिद्धि के लिये अनेकों युक्तियों को दिया है। पूर्व मीमांसक उसका खण्डन करते हैं। उन सब युक्तियों को उन दर्शनों में देखना चाहिये। शब्द-शक्ति-परीक्षा प्रकरण में जाति को स्वीकार किया है, वह जाति व्यक्ति में रहती है।

जाति लक्षण

"समान प्रसवात्मिका जातिः" २-२-६८। जो भिन्न अधिकरणों में समान बुद्धि को उत्पन्न करती है वह जाति है। जिससे बहुत एक दूसरे से व्यावृत्त नहीं होते हैं जो अर्थ अनेक में प्रत्यय अनुवृत्ति का कारण है वह सामान्य जाति है। जो किसी के साथ भेद किसी के साथ अभेद करती है वह विशेष जाति है।

प्रमेयों में मुख्य आत्मा की परीक्षा

संशय

क्या देह इन्द्रिय मन बुद्धि वेदना संघातमात्र आत्मा है। या उससे अतिरिक्त है। इस संशय का कारण है। क्रिया कारण का

कर्ता के साथ दो प्रकार का अभिधान, यथा अवयव के साथ समुदाय का कथन, मूलों के साथ वृक्ष स्थित है। स्तम्भों से प्रसाद स्थित है। अन्य का अन्य से व्यपदेश, यथा परशु से काटता है, प्रदीप से देखता है। और यह भी कथन है कि चक्षुसे देखता है। मनसे जानता है बुद्धि से विचारता है। शरीर से सुख दुःख को अनुभव करता है। यहाँ यह निश्चय नहीं होता कि क्या अवयव से समुदाय देहादि संघात का कथन है। या अन्य से उससे व्यतिरिक्त अन्य का।

समाधान

दर्शन और स्पर्शन से एक अर्थ के ग्रहण करने से अन्य से अन्य का यह कथन है। जिसको मैंने स्पर्शन से स्पर्श किया उसी को चक्षु से देख रहा हूँ। जिसको चक्षु से देखा है उसी को स्पर्शन से स्पर्श कर रहा हूँ। इस प्रकार यह अनुभव एक ही कर्ता को हो रहा है। नसंघात इसका अनुभव करता है नइन्द्रिय। अतएव जो चक्षु और त्वक् इन्द्रिय से एक अर्थ का ग्रहण करने वाला है "वह आत्मा है" क्योंकि एक इन्द्रिय जिस विषय का ग्रहण करती है वह दूसरे का ग्रहण नहीं करती है। और दूसरे के ग्रहण किये हुये का अनुसंधान भी नहीं करती। इसी कारण संघात भी नहीं जान सकता क्योंकि इन्द्रियादि के समुदाय को ही संघात कहते हैं। जब इन्द्रियाँ एक दूसरे के अनुभव को नहीं जान सकतीं तो संघात कैसे जान सकता है।

पूर्व पक्ष

देहादि संघात से अन्य चेतन नहीं हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ व्यवस्थित रूप से विषय को ग्रहण करती हैं। चक्षु के न रहने पर रूप का ग्रहण नहीं होता, ऐसे ही घ्राणादि इन्द्रियों से भी होता है। अतएव इन्द्रियाँ चेतन है। ऐसा होने पर अन्य चेतन की क्या आवश्यकता है।

"उत्तर पक्ष"

जो कहा कि विषय के व्यवस्थान से इन्द्रियाँ चेतन हैं आत्मा की कोई आवश्यकता नहीं। उस विषय व्यवस्थान से ही आत्मा का सद्भाव सिद्ध है। आत्मा का प्रतिषेध नहीं हो सकता क्योंकि यदि आत्मसद्भाव को स्वीकार नहीं किया जायगा तो भिन्न२ इन्द्रिय से ग्रहण किये हुये विषय का अनुसन्धान कौन करेगा। और व्यवस्थित विषयों का तथा इन्द्रियों का साक्षी कौन होगा। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से भिन्न आत्मा के अस्तित्व में युक्ति दी है।

संशय

आत्मा को अनादि निधन भी सिद्ध किया है। आत्म सद्भाव प्रतिपादन करने पर भी आत्मा नित्य है या अनित्य ऐसा संशय होता है क्योंकि विद्यमान वस्तु नित्य भी देखी जाती है और अनित्य भी।

समाधान

उत्पन्न हुआ बालक हर्ष भय शोक के हेतु को ग्रहण न करने पर भी हर्ष शोक भय वाला होता है। इस लिङ्ग से अनुमान किया जाता है कि वे स्मृति के ही कारण उत्पन्न होते हैं। अन्यथा नहीं। स्मृति बिना पूर्वाभ्यास के नहीं होती। पूर्वाभ्यास विना पूर्वजन्म के नहीं होता अतएव वह आत्मा शरीर त्याग के अनन्तर स्थित रहता है।

पूर्व पक्ष

जैसे पद्म आदि अनित्य वस्तुओं में प्रबोध सम्मीलन विकार होता है। वैसे ही अनित्य आत्मा को हर्ष भय शोक की प्राप्ति होती है।

उत्तर पक्ष

इस पत्त में हेतु के अभाव से औचित्य की प्रतीत नहीं होती क्योंकि पद्मादि में जो संकोचादि होता है वह भी किसी निमित्त से होता है। सूर्य के प्रकाश से कमल खिल जाता है प्रकाश के न रहने पर संकुचित हो जाता है। अतएव यह उदाहरण भी ठीक नहीं इस कारण से आत्मा नित्य है। दुग्ध पान की अभिलाषा बालक को होती है किन्तु वह भी पूर्वाभ्यास के बिना नहीं हो सकती। पूर्वाभ्यास बिना पूर्वजन्म के नहीं हो सकता। अतएव आत्मा नित्य है।

पूर्व पक्ष

जैसे लोहा चुम्बक की ओर बिना अभ्यास के जाता है वैसे ही आहार के अभ्यास के बिना बालक दूध की अभिलाषा करता है।

उत्तर पक्ष

यह दृष्टान्त उचित नहीं क्योंकि अन्य में प्रवृत्ति नहीं होती। क्या यह चुम्बक की गति किसी निमित्त से होती है अथवा विना निमित्त से यदि विना निमित्त के होती है तो मृत्तिका ढेले भी चुम्बक की ओर उपसर्पण करें। किन्तु ऐसा होता नहीं अतएव कोई निमित्त मानना होगा। वह निमित्त कैसे जाना जाता है। क्रिया लिङ्ग, क्रिया हेतु, क्रिया नियम, लिङ्ग क्रिया हेतु, नियम, इन कारणों से अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। बालक की भी नियत उपसर्पणरूप क्रिया उपलब्ध होती है। वह दुग्ध पान की इच्छा विना पूर्वाभ्यास कृत स्मरण के बिना नहीं हो सकती। निमित्त का दृष्टान्त से उपपादन किया जाता है। बिना निमित्त के किसी की उत्पत्ति नहीं होती। दृष्टान्त से दृष्ट अभिलाष के हेतु का वाध नहीं होता। अतएव लोहा

का चुम्बक की ओर गमन करना दृष्टान्त नहीं। लोहे की प्रवृत्ति भी अन्यत्र नहीं होती। कभी लोष्ट की ओर लोहा नहीं जाता इसमें क्या नियम है। यदि कारण नियम है। तो इसी प्रकार बालक की भी कारण नियम से अभिलाषा होनी चाहिये। वह कारण अभ्यस्त है या अन्य है। देखा जाता है कि प्राणियों की अभ्यस्त स्मरण से आहारादि की अभिलाषा होती है। अतएव आत्मा नित्य है। और भी देखा जाता है कि बिना राग के किसी का जन्म नहीं होता। राग का स्मरण पूर्वानुभूत विषय का चिन्तन करना है। विषयों का पूर्वानुभव अन्य शरीर में जन्म के बिना नहीं हो सकता। वह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभव किये हुये विषयों का स्मरण करता हुआ राग करता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व का विषयानुभव उत्तर उत्तर राग का कारण होता है। शरीर और चेतन का योग अनादि है और रागानुभव भी अनादि। अतएव आत्मा नित्य है यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार शरीरादि की परीक्षा की गई है। किन्तुयहां विस्तार भय से नहीं लिख रहे हैं। इसी आत्मा की मुक्ति होती है उस मुक्तिका उपाय भी न्याय में बतलाया है। वह मुक्ति तत्व ज्ञान से होती है जैसा कि प्रथम कह आये हैं वह तत्वज्ञान यम नियमके अभ्याससे अधर्म की हानि होने पर धर्म के उपचय होने से होता है और योग शास्त्र में बतलाये हुये अध्यात्मविधि के द्वारा प्राप्त करना चाहिए। बिना योग शास्त्र के यम नियमादिका परिज्ञान नहीं होता ज्ञान ग्रहण का अभ्यास और इसके जानने वालों से सम्वाद करना चाहिए। न्याय शास्त्र में वाद का अर्थ सत्संग है। श्रेय को चाहने वाले ब्रह्मचारि शिष्य, गुरुगुणों में दोष न देखने वालों के साथ संवाद होता है।

अन्य से ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से स्वपक्ष का अवस्थापन न करता हुआ अपने दर्शन को शुद्ध करे। अपने तत्व निश्चय की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा की भी आवश्यकता है। इनके द्वारा प्रतिवादी को

पराजय करना चाहिए। किन्तु यह भी विद्या की रक्षा के लाभ, पूजा के लिए नहीं। न्यायदर्शन में ईश्वर का विशेष वर्णन नहीं है। किन्तु कर्म फल के सिद्ध करने में ईश्वर का नाम आया है। पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र है उस कर्म का फल ईश्वर के द्वारा प्राप्त होता है। किन्तु बिना कर्म के ईश्वर भी फल नहीं देता, मूल में ईश्वर पर विशेषउल्लेख नहीं है। न्याय में वेद को प्रमाण माना है। उसी के अनुसार विहित निषिद्ध कर्म को भी माना है। अतएव यह आस्तिक दर्शन कहा जाता है।

कुछ पाश्चात्य शिक्षा शिक्षित व्यक्तियोंका मत है कि न्याय पर यूनानके दार्शनिकोंका प्रभाव पड़ा है। कुछ इसका खंडन भी करते हैं। किन्तु यही पक्ष उत्तम है कि न्याय पर किसी विदेशी दर्शन का प्रभाव नहीं। इस देश में सभी दर्शन अनादि काल से चले आ रहे हैं। सब का सबके साथ सम्बन्ध है जिनको विचार करने की रीति जाननी हो उनको न्यायदर्शन अवश्य ही अध्ययन करना चाहिए। इसके समान उत्तम युक्तियों का प्रदर्शन अन्य में नहीं है। जहाँ है भी वह इसी से ली गई है। मुक्ति में केवल आत्मा रहता है। संसार के दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। अतएव दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है "यह न्यायदर्शन का सिद्धान्त है।"

यह संक्षेप में न्याय दर्शन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस के अनन्तर वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त वर्णन करेंगे क्योंकि न्याय वैशेषिक के सिद्धान्तों में समानता है।

॥ इति ॥

वैशेषिक दर्शन सिद्धान्त

सूची

—❀:❀—
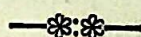
वैशेषिक दर्शन में दश अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय में दो दो आह्निक हैं। उनकी संक्षिप्त सूची देते हैं।

वैशेषिक दर्शन के प्रारम्भ में धर्म व्याख्यान की प्रतिज्ञा की गई है दूसरे सूत्र में धर्म का लक्षण किया है। यथा—

यतोऽभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः ।

जिससे अभ्युदय और निश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है। उस धर्म प्रतिपादन करने से वेद की प्रमाणता है। यह तीसरे सूत्र में कहा है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।

१ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य, ५ विशेष, ६ समवाय। यह ६ पदार्थ माना है। इन्हीं पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से तत्व ज्ञान होता है वही मुक्ति का हेतु है।

वह द्रव्यादि कौन हैं और उनका साधर्म्य, वैधर्म्य क्या है अब उसका निरूपण करते हैं।

द्रव्य का वर्णन

१ पृथ्वी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिग्, ८ आत्मा, ९ मन। इस प्रकार नव ही द्रव्य माने हैं।

गुण का वर्णन

१ गन्ध, २ रस, ३ रूप, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमाण ७ पृथक्त्व, ८ संयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ बुद्धि, १३ सुख, १४ दुःख, १५ इच्छा, १६ द्वेष, १७ प्रयत्न यह सप्तदश गुण मूल में कहे हैं भाष्यकार ने सप्त और कहे हैं। १ गुरुत्व, २ लघुत्व, ३ द्रवत्व, ४ स्नेह, ५ संस्कार,

६ अदृष्ट, ७ शब्द। इन सप्त का सम्मिश्रण करने से चतुर्विंशति (२४) गुण हो जाते हैं।

कर्म का वर्णन

कर्म पञ्च प्रकार है। १ उत्क्षेपण (ऊपर की ओर फेंका जाना) २ अपक्षेपण (नीचे की ओर फेंका जाना), ३ प्रसारण (फैलना), ४ आकुञ्चन (सिकुड़ना), ५ गमन।

सामान्य वर्णन

पर और अपर भेद से सामान्य दो प्रकार का है। यह अनेक द्रव्यों में रहता है और नित्य है। जैसे गोत्व अनेक गौमें रहता है। अधिक देश में जिसकी वृत्ति होती है उसको पर सामान्य कहते हैं। न्यून देश में जिसकी वृत्ति होती है उसको अपर सामान्य कहते हैं। जैसे मनुष्यत्व मनुष्यमात्र में रहता है, किन्तु ब्राह्मणत्व सब मनुष्यों में नहीं रहता। देश काल के भेद से इनमें भेद हो जाता है। अतएव संसार में एक जाति में भी अनेक जातियाँ हैं। गोत्व में भी अनेक प्रकार की गौ होती है, उनके स्वभाव रहन सहन में भेद होता है।

विशेष

नित्य द्रव्य में रहने वाला व्यावर्तक विशेष कहा जाता है। नित्य द्रव्य परमाणु आदि है उनको इतर से व्यावर्तन करते हैं।

समवाय

अयुत सिद्ध आधार आधेय भूतों का जो सम्बन्ध, इस ज्ञान का जो कारण है उसको समवाय कहते हैं।

जो दो एक दूसरे का आश्रय करके रहते हैं उनको अयुत सिद्धि कहते हैं। जैसे अवयव अवयवी गुण गुणी, क्रिया क्रियावान्, जाति व्यक्ति इत्यादि। इन षट् पदार्थों का अस्तित्व और अभिधेयत्व रूप से साधर्म्य है। और नित्य द्रव्यों से अन्यत्र आश्रितत्व की साधर्म्यता है। द्रव्य गुण कर्म समान विशेष द्रव्यों का समवायित्व और अनेक रूप से साधर्म्य है। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय का निर्गुणत्व निष्क्रियत्व रूप से साधर्म्य है। द्रव्य गुण कर्म का सत्ता सम्बन्ध सामान्य विशेषत्व स्वसमयार्थ शब्दाभिधेयत्व धर्माधर्म कर्तृत्वरूप साधर्म्य है। द्रव्य गुण कर्म का कार्यत्व अनित्यत्व साधर्म्य है। पारिमाण्डल्य से भिन्न में कारणत्व साधर्म्य है नित्य द्रव्यों से अन्यत्र द्रव्याश्रितत्व साधर्म्य है। सामान्य विशेष समवायों का स्वात्मसत्व बुद्धि लक्षणत्व, अकार्यत्व, अकारणत्व, असामान्यविशेषवत्व नित्यत्व अर्थ शब्दाभिधेयत्व रूप साधर्म्य है। पृथ्वी आदि नव द्रव्यों का द्रव्यत्व योग स्वात्मन्यारम्भकत्व गुणवत्व, कार्यकारणाविरोधितत्व अन्त्यविशेषवत्व साधर्म्य है। अनाश्रितत्व नित्यत्व अवयवी द्रव्य से अन्य द्रव्य में साधर्म्य है। पृथिवी, जल, अग्नि. वायु, आत्मा, मन का अनेकत्व अपर जातिमत्व साधर्म्य है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु मन का क्रियावत्व, मूर्तत्व, परत्व, अपरत्व, वेगवत्व साधर्म्य है। आकाश काल दिग् आत्मा का सर्वगतत्व परम महत्व सर्व संयोगि समादेशत्व साधर्म्य है। पृथ्वी आदि पञ्च का भूतत्व, इन्द्रिय प्रकृतित्व, बाह्य एक इन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवत्व साधर्म्य है। पृथ्वी आदि चार का द्रव्यारम्भकत्व स्पर्शवत्व साधर्म्य है। पृथ्वी आदि तीन का प्रत्यक्षवत्व रूपवत्व द्रव्यत्ववत्व साधर्म्य है। पृथ्वी जल का गुरुत्व रसवत्व साधर्म्य है। भूतों और आत्मा का वैशषिक गुणवत्व साधर्म्य है। पृथ्वी जल का चतुर्दश गुणवत्व साधर्म्य है। आकाश और आत्मा का क्षणिक एक देश वृत्ति विशेष गुणवत्व साधर्म्य है।

दिक् और काल का पञ्चगुणवत्व साधर्म्य है। उत्पत्तिमान् वस्तुओं का निमित्त कारणत्व साधर्म्य है। पृथ्वी और अग्नि का सर्वत्र विपर्य्यय से साधर्म्य वैधर्म्य कहना चाहिए।

अब एक एक का वैधर्म्य कहते हैं

पृथ्वी के अभिसम्बन्ध से पृथ्वी है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व संस्कार पृथ्वी के गुण हैं। पृथ्वी का विशेष गुण गंध है अतएव गंधवत्व पृथ्वी का लक्षण हैं। शुक्ल, नील, पीतादि अनेक रूप हैं। मधुर, अम्लतिक्त, आदि षट् प्रकार के रस हैं। सुगन्ध, दुर्गन्ध, दो प्रकार का गन्ध है। स्पर्श उष्ण शीत से रहित पाकज है। वह पृथ्वी दो प्रकार की है। नित्य और अनित्य। परमाणु रूप से नित्य है कार्य रूप से अनित्य है। वह स्थैर्य आदि अवयव सन्निवेश से विशिष्ट अपर जाति वहुत्व से युक्त शय्या आसन आदि अनेक प्रकार की करने वाली है। शरीर, इन्द्रिय, भेद से तीन इसके कार्य हैं। शरीर दो प्रकार का है योनिज और अयोनिज। शुक्र शोणित की अपेक्षा विना किये धर्म विशेष सहित अणुओं से जो उत्पन्न होता है उसको अयोनिज शरीर कहते हैं। देव ऋषियों का शरीर और शुद्ध जीवों का यातना शरीर अधर्म विशेष सहित अणुओं से उत्पन्न हुआ अयोनिज होता है। शुक्रशोणित के सन्निपात (मिलने) से उत्पन्न शरीर योनिज होता है। वह दो प्रकार का होता है जरायुज और अण्डज। गन्ध का व्यञ्जक जलादि से अनभिभूत पार्थिव अवयव से आरब्ध घ्राण इन्द्रिय है। द्व्यणुकादि क्रम से आरब्ध मृत्, पाषाण, स्थावर तीन प्रकार के विषय हैं। भू प्रदेश प्राकार इष्टका आदि मृत्तिका के विकार हैं। उपल, मणि, वज्र आदि पाषाण हैं वृक्ष, तृण, औषधि, गुल्म, लता, वितान आदि वनस्पति स्थावर हैं।

॥ इति पृथ्वी निरुपणम् ॥

जल का लक्षण

अप्त्व, (जलत्व) के सम्बन्ध से जल है। रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व, गुरुत्व, संस्कार गुण हैं। मुख्य गुण शीत स्पर्श है। शुक्ल रूप है। मधुर रस है स्नेह जल में ही रहता है। इसमें द्रवत्व स्वाभाविक है। वह जल दो प्रकार का है। नित्य और अनित्य। शरीर इन्द्रिय भेद से तीन प्रकार का कार्य है शरीर अयोनिज ही वरुण लोक में होता है। पार्थिव अवयव का उपष्टम्भक नामक संयोग होने से जलीय शरीर भी भोगायतन होता है।

अन्य अवयव से अनभिभूत जलीय अवयव से आरब्ध सर्व प्राणियों को रस प्राप्त कराने वाली इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय जिह्वा के अग्र भाग में रहती हैं सरित् समुद्र हिम आदि विषय है। इति जलम्।

अग्नि का लक्षण

तेजस्त्व (अग्नित्व) के अभिसम्बन्ध से तेज है। रूप, स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व संस्कार, गुण हैं। मुख्य गुण उष्णस्पर्श है। भास्वर रूप है। द्रवत्व नैमित्तिक है। वह अग्नि दो प्रकार की है। नित्य, अनित्य। परमाणु रूप से नित्य है। कार्य रूप से अनित्य है। शरीरादि तीन कार्य हैं। शरीर सूर्यलोक में अयोनिज है। पार्थिव अवयव के उपष्टम्भ से भोग के योग्य है। अन्य अवयव से अनभिभूत अग्नि के अवयव से आरब्ध सर्व प्राणी के रूप का व्यञ्जक चक्षु इन्द्रिय है। भौम, दिव्य, उदर्य, आकरज, भेद से चार विषय हैं। वह्नि आदिक भौम हैं। जल है इन्धन जिसका वह विद्युत् दिव्य है। भुक्त के

परिक्षरण का हेतु उदर में रहने वाला उदर्य्य है। आकर में रहने वाला आकरज है। सुवर्णादि आकरज हैं। वहां पर संयुक्त समवाय से रसादि की उपलब्धि होती है। इति अग्नि निरूपणम् ॥

वायु लक्षण

वायुत्व के अभिसम्बन्ध से वायु है। स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, संस्कार गुण हैं। इसका मुख्य गुण अनुष्ण शीत अपाकज स्पर्श है। वह दो प्रकार का है। नित्य और अनित्य। परमाणु रूप से नित्य है, कार्य रूप से अनित्य है। कार्य रूप चार प्रकार का होता है। शरीर, इन्द्रिय, विषय, प्राण। अयोनिज शरीर मारुत लोक में पार्थिव अवयव के उपष्टम्भ से उपभोग का साधन है। पृथ्वी आदि से अनभिभूत वायु के अवयव से आरब्ध सर्व प्राणियों के स्पर्श का उपलम्भक शरीर व्यापि त्वक् इन्द्रिय है। उपलभ्यमान स्पर्श का अधिष्ठान भूत स्पर्श शब्द धृति कम्प चिन्ह तिर्यग्गमन स्वभाव मेघादि प्रेरण धारण आदि समर्थ विषय है। प्राण अन्त शरीर में रस, मल, धातु के प्रेरणादिक का हेतु एक होता हुआ क्रिया भेद से प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नाम को प्राप्त होता है। इति वायु निरूपणम्।

आकाश लक्षण

आकाश काल, दिक् का एकत्व होने से अपर जाति के अभाव होने पर यह परिभाषिकी संज्ञा हैं। आकाश का गुण शब्द है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग भी गुण है। शब्द व्याप्य संख्यावत्व वैधर्म्य है। शब्दानुविधायित्व से पृथक्त्व हैं। विभव बचन से परिमाण है जैसे महान आकाश है शब्द और असमवायि कारण का संयोग विभाग कथन से संयोग विभाग भी गुण है। इति आकाश निरूपणम्।

काल लक्षण

पर, अपर, व्यतिकर, यौगपद्य, चिर, क्षिप्र का जो ज्ञान है यही काल का लिंग है। उनके विषय में पूर्व प्रत्यय विलक्षणों की की उत्पत्ति में अन्य निमित्त का अभाव होने से इसमें काल ही निमित्त है। सब कार्यों की उत्पति स्थिति विनाश का हेतु काल है क्योंकि ऐसा ही कहा जाता है। क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, याम, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सम्बत्सर, युग कल्प, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय के व्यवहार का हेतु काल है। उसके संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग गुण हैं। वास्तव में काल एक हैं किन्तु उपाधि के भेद से अनेक प्रतीत होता है। इति काल निरूपणम् ।

पूर्व आदि व्यवहार का हेतु दिशा है। उसके दश भेद हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण। पूर्व दक्षिण, दक्षिण पश्चिम, पश्चिम-उत्तर, उत्तर पूर्व नीचे ऊपर यह दश भेद हैं उसके गुण, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग विभाग है।

आत्मा का लक्षण

आत्मत्व अभिसम्बन्ध से आत्मा है वह सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष है, तब भी अनुमान से जाना जाता है। जैसे जिनसे शब्दादि विषयों का साक्षात्कार होता है वह इन्द्रियाँ हैं। ऐसे श्रोत्रादि के द्वारा जो सब का ज्ञाता है उस आत्मा का अनुमान होता है। अनुमान का प्रकार यह है। शब्दादि की उपलब्धि करण से साध्य है क्योंकि पुरुष का व्यापारत्व है। जैसे दात्रादि करण से छिदादि क्रिया होती है।

श्रोत्रादि कर्ता से व्यापार्य्य है। क्योंकि करण है जैसे वासी (वसूला) करण हैं। जड़ होने से शरीर, इन्द्रिय, मन में कर्त्तृत्व

हो नहीं सकता। शरीर चेतन नहीं है क्योंकि घटादि के समान भूतों का कार्य है। मरने पर असम्भव है। इन्द्रियाँ करण होने से चेतन नहीं है और इन्द्रियों के उपहत होने पर विषयों की स्मृति होती है। मन भी चेतन नहीं है यदि मनको चेतन मान लिया जायगा तो उसके लिये अन्य करण की अपेक्षा होगी यदि करण की अपेक्षा न की जायगी तो युगपत आलोचना और स्मरणका प्रसङ्ग होगा। अतएव आत्मा कर्ता है और उसी के सब कार्य हैं। बिना आत्मा के कोई भी इन्द्रिय किसी भी कार्य के करने में समर्थ नहीं। उस आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकृत्व, संयोग, विभाग गुण, हैं। इति आत्म निरूपणम ॥

मन लक्षण

मनस्त्व अभिसम्बन्ध से मन है। आत्मा और इन्द्रियों का सान्निध्य होने पर भी कभी ज्ञान सुखादि उत्पन्न होते हैं कभी नहीं होते। अतएव किसी कारण का अनुमान होता है। वह करण मन ही है। श्रोत्रादि इन्द्रियों के व्यापार न होने पर भी स्मृति की उत्पत्ति देखी जाती है। वाह्य इन्द्रियों का अग्राह्य सुखादि का ग्राहक अन्तःकरण है वही मन है। संख्या, परिमाण, पृथकृत्व, संयोग विभाग परत्व, अपरत्व संस्कार उसके गुण हैं। यहां तक द्रव्य के साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण किया गया। अब गुणों के साधर्म्य वैधर्म्य का निरूपण करते हैं।

गुण साधर्म्य

सभी रूपादि गुणों का गुणत्वाभि सम्बन्ध द्रव्याश्रितत्व निष्क्रियत्व अगुणत्व साधर्म्य है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व,

अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग, मूर्त गुण हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, अमूर्त गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, उभय गुण हैं। संयोग, विभाग, द्वित्व, पृथक्त्व आदि अनेक के आश्रित हैं। शेष एक द्रव्य में रहने वाले हैं।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व. बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष. प्रयत्न. धर्म, अधर्म, भावना, शब्द वैशेषिक गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक, द्रवत्व वेग सामान्य गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध वाह्य एक एक इन्द्रियों से ग्राह्य हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, वेग द्विइन्द्रिय ग्राह्य है। बुद्धि सुख, दुःख, इच्छा प्रयत्न अन्तःकरण ग्राह्य है। अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग, कारण गुण पूर्वक हैं।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द अकारण गुण पूर्वक हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द तूल परिमाण उत्तर संयोग, नैमित्तिक द्रवत्व, परत्व, अपरत्व, पाकज, संयोगज है। संयोग, विभाग कर्मज है। शब्द उत्तर भाग विभागज है। परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्व बुद्ध्यपेक्ष हैं। रूप, रस, गन्ध, अनुष्ण, स्पर्श, शब्द, परिमाण, एकत्व, एक पृथकत्व, स्नेह समानजाति के आरम्भक हैं। सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न असमान जाति के आरम्भक हैं। संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्णस्पर्शज्ञान धर्म, अधर्म, संस्कार समान असमान जाति के आरम्भक हैं।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना, शब्द, स्वाश्रय समवेत के आरम्भक हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श परिमाण, स्नेह, प्रयत्न पर में आरम्भक है। संयोग, विभाग संख्या, एक पृथकत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म, अधर्म, उभय में आरम्भक है।

गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म, अधर्म, संयोग विशेष क्रिया के हेतु हैं। रूप, रस, गन्ध, अनुष्णस्पर्श, संख्या, परिमाण एक पृथकत्व, स्नेह शब्द का असमवायित्व है, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म भावना, का निमित्त कारणत्व है। संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व वेग का उभय तथा कारणत्व है। परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथकत्व, आदि का अकारणत्व है। संयोग, विभाग, शब्द, आत्मा विशेष गुणों का प्रदेश वृत्तित्व, है, शेष आश्रय व्यापित्व है।

अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, पृथकत्व, सांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व का यावद्द्रव्य भावित्व है। शेष का अयावद्द्रव्य भावित्व है। रूपादि सभी गुणों का प्रत्येक अपर सामान्य सम्बन्ध से रूपादि संज्ञा होती है।

रूप का लक्षण

चक्षु मात्र से ग्राह्य रूप है। पृथ्वी उदक तेज में रहता है। द्रव्यादि का प्रापक नयन सहकारि शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र भेद से सात प्रकार का है। जलादि परमाणु में नित्य है। पार्थिव परमाणु में अग्नि के संयोग से नाश हो जाता है। सबकार्य द्रव्य में आश्रय कारण गुण पूर्वक आश्रय विनाश से नाश हो जाता है।

रस का लक्षण

रसना से ग्राह्य रस है। पृथ्वी और जल में रहता है। जीवन पुष्टि–बल–आरोग्य का कारण है। रसना सहकारी है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त, भेद से षट् (६) प्रकार का है। पृथ्वी में ६ प्रकार का रहता है। जलमें मधुर ही रस रहता है। जल परमाणु में नित्य है। पार्थिव में अग्नि के संयोग से उत्पन्न और नष्ट होता है। कार्य में कारण गुणपूर्वक आधार के विनाश से नष्ट होता है।

गन्ध का लक्षण

घ्राण ग्राह्य गन्ध गुण है। पृथ्वी में रहता है घ्राण सहकारी है, सुगन्ध दुर्गन्ध भेद से दो प्रकार का है। प्रथम के समान इसमें भी उत्पत्ति विनाश होता है।

स्पर्श का लक्षण

त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है। पृथ्वी, जल, अग्नि वायुमें रहता है त्वक् सहकारी है। जहां रूप रहता है वहां स्पर्श रहता है। शीत, उष्ण, अनुष्णशीत, भेद से तीन प्रकार का है। शीत जल में रहता है उष्ण अग्नि में। अनुष्णशीत पृथ्वी वायु में रहता है। इसमें भी पूर्व के समान नित्य अनित्यपना रहता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का पृथ्वी में पाकज और अनित्य है। अन्य में अपाकज और नित्य है। पाकज की उत्पत्ति का विधान इस प्रकार है, घटादि आम (कच्चे) द्रव्य का अग्निके साथ संबन्ध होने पर उसके अभिघात यानोदन से उसके आरम्भिक अणु में कर्म उत्पन्न होते हैं उसमें विभाग, विभाग से संयोग बिनाश, संयोग विनाश से कार्य द्रव्य का

नाश होता है। उसके अनन्तर भोग करने वालों के अदृष्ट के कारण आत्मा और अणु के संयोग से उत्पन्न पाकज अणु में कर्म उत्पन्न होने पर द्व्यणुक आदि के क्रम से कार्य द्रव्य उत्पन्न होता है उसमें कारण गुण के क्रम से रूपादि उत्पन्न होता है। यदि कहा जाय कि कार्य्य द्रव्य में ही रूपादि की उत्पत्ति और विनाश सम्भव है तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि सब अवयव में बाहर-भीतर बर्तमान अग्नि से व्याप्ति का अभाव है। कार्य द्रव्य के विनाश से अणु प्रवेश से भी व्याप्ति नहीं होती ॥ इति ॥

संख्या लक्षण

एकत्व आदि व्यवहार का हेतु संख्या है। वह नव द्रव्य में रहती है। एकत्व से लेकर परार्ध पर्यन्त व्यवहार होता है। एकत्व नित्य भी है अनित्य भी है। नित्य में प्राप्त नित्य है अनित्य में प्राप्त अनित्य है। द्वित्वादि तो सर्वत्र अनित्य ही है। इति।

परिमाण लक्षण

मान व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण है। वह चार प्रकार का है अणु, महत्, दीर्घ, ह्रस्व। महत् दो प्रकार का है नित्य और अनित्य। आकाश, काल, दिग, आत्मा में परम महत्व नित्य है। त्र्यणुक आदि में अनित्य है तथा वह अणु भी दो प्रकार का है नित्य और अनित्य, परमाणु और मन में नित्य है। वही परिमाण्डल्य है। अनित्य द्व्यणुक ही है। कुवलय, आंमलक, विल्वादि, महत् में भी उनके प्रकर्ष के भाव-अभाव की अपेक्षा से गौण अणुत्व व्यवहार होता है दीर्घत्व और ह्रस्वत्व उत्पाद्य महत् अणुत्व के एकार्थ में समवेत है। समित्, इक्षु, वंश आदि दीर्घ में भी

सरलता से उनके प्रकर्ष की भावाभाव की अपेक्षा से गौण ह्रस्वत्व व्यवहार होता है। अनित्य चार प्रकार का होता है संख्या परिमाण, प्रचय, योनि। उसमें भी ईश्वर बुद्धि की अपेक्षा से परिमाणु और द्वणुक में उत्पन्न हुई। बहुत्व संख्या उनसे आरब्ध कार्य द्रव्य त्र्यणुकादि रूपादि उत्पत्ति समकाल में महत्व और दीर्घत्व करती है, दो, वहुत और महत से आरब्ध कार्य द्रव्य में कारण महत्व ही महत्व को आरब्ध करते हैं, वहुत्व नहीं। क्योंकि समान संख्याओं से आरब्ध में अतिशयता देखी जाती है। प्रचय तूल पिण्ड में बर्तमान रहता हुआ पिण्ड के आरम्भक अवयव के प्रशिथिल संयोग की अपेक्षा न करता हुआ एक दूसरे के पिंडावयव के संयोग की अपेक्षा करने वाला अथवा दो तूलक महत्व को आरम्भ करते हैं। बहुत्व महत्व को नहीं। क्योंकि समान संख्या, पल परिणाम से आरब्ध होने पर अतिशय देखा जाता है। द्वित्व संख्या अणु में वर्तमान हुई द्व्यणुक में अणुत्व को आरम्भ करती है महत्व के समान त्र्यणुकादि में कारण वहुत्व महत्व समान जातीय प्रचय से दीर्घत्व की उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाय कि त्र्यणुकादि में बर्तमान महत्व दीर्घत्व की परस्पर क्या विशेषता है और द्व्यणुक में अणुत्व ह्रस्वत्व की उसमें महत्व और दीर्घत्व की विशेषता यह है कि महत में दीर्घ को ले आओ ह्रस्व में महत् को ले आओ ऐसा विशिष्ट व्यवहार होता है। अणुत्व ह्रस्वत्व की परस्पर विशेषता उसके देखने वालों को प्रत्यक्ष है। इति।

पृथक्त्व का लक्षण

पृथक् के व्यवहार का असाधारण कारण पृथक्त्व है। वह सब द्रव्यों में रहता है।

संयोग लक्षण

संयुक्त व्यवहार का हेतु संयोग है। सब द्रव्यों में रहता है।

विभाग लक्षण

संयोग के नाशक गुण को विभाग कहते हैं। सब द्रव्यों में रहता है।

परत्व अपरत्व लक्षण

पर और अपर व्यवहार का असाधारण कारण परत्व अपरत्व हैं। वे दो प्रकार के हैं दिक्कृत और कालकृत। विशेष दिग् का जनाने वालादिकृत है। वय भेद का जनाने वाला कालकृत है।

गुरुत्व लक्षण

आद्य पतन का असमवायि कारण गुरुत्व है। पृथ्वी और जल में वृत्ति है। आद्यस्यन्दन का असमवायि कारण द्रवत्व है। पृथ्वी, जल, तेज में रहता है। वह दो प्रकार का है, सांसिद्धिक और नैमित्तिक सांसिद्धिक जल में रहता है नैमित्तिक पृथ्वी और तैजस् में रहता है। पृथ्वी घृतादि में अग्नि संयोग से द्रवत्व होता है। तैजस् सुवर्ण आदि में अग्नि संयोग से द्रवत्व होता है।

स्नेह लक्षण

चूर्णादि पिण्डी भाव का हेतु गुण स्नेह है। जल मात्र में रहता है। श्रोत्र ग्राह्य शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेद से दो प्रकार का है। भेरी आदि में ध्वन्यात्मक है संस्कृत भाषादिरूप वर्णात्मक है।

बुद्धि लक्षण

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय, यह पर्य्याय लक्षण हैं। वह अनेक प्रकार की है। क्योंकि अर्थ अनन्त है और प्रत्यर्थ नियत है। उसके अनेक प्रकार होने पर भी दो प्रकार है, विद्या और अविद्या। उसमें अविद्या चार प्रकार की है। संशय, विपर्य्यय, अनध्यवसाय, स्वप्न। संशय का लक्षण न्यायदर्शन के सिद्धान्त विचार में कर आये हैं। उसी के समान ही वैशेषिक में भी है। कुछ थोड़ा भेद है। प्रसिद्ध है अनेक विशेष जिनके उन दोनों के सादृश्य मात्र दर्शन से दोनों के विशेष स्मरण न होनेसे तथा अधर्म से यह क्या है दोनों का आलम्बन करने वाला जो विमर्श है वह संशय है। यह दो प्रकार का है अन्तः और बहिः। जैसे किसी उपदेशक ने किसी किसी विशिष्ट निमित्त को प्राप्त कर आदेश दिया कि वृष्टि होगी। एक समय अच्छी वृष्टि हुई। दूसरे समय में नहीं हुई। पुनः यदि वह तीसरी वार वैसा ही आदेश देता है। तो तीनों काल में उस ज्ञान के न होने पर संशय होता है क्या यह मिथ्या है या नहीं। ऐसे ही और भी अनेक प्रकार का अन्तःसंशय होता है। वहिः संशय दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष विषय में और अप्रत्यक्ष विषय में। अप्रत्यक्ष विषय में साधारण लिङ्ग दर्शन से दोनों के विशेष का स्मरण न होने से अधर्म से संशय होता है। जैसे वन में विषाण मात्र दर्शन से गौ है या गवय है ऐसा संशय होता है। प्रत्यक्ष विषय में भी स्थाणु पुरुष की ऊर्ध्वता मात्र सादृश्य दर्शन से वक्रादि विशेष की अनुपलब्धि से स्थाणुत्वादि सामान्य की अभिव्यक्ति न होने पर दोनों के विशेष का स्मरण न होने से दोनों ओर खिचता हुआ मन भूला के समान कभी स्थाणु की ओर जाता है कभी पुरुष की ओर जाता है। यह क्या स्थाणु या पुरुष है। एक के निश्चय न होने से संशय होता है

विपर्य्यय भी प्रत्यक्ष और अनुमान विषय में ही होता है। प्रत्यक्ष विषय में दिखलाते हैं जिन दो के अनेक विषय प्रसिद्ध है। किन्तु कफ, वात से उपहृत इन्द्रिय के यथार्थ आलोचन न करने से असन्निहित विषय ज्ञान से उत्पन्न संस्कार की अपेक्षा से आत्म मन के संयोग से अधर्म से अतस्मिन् तद्बुद्धि (जो जैसा नहीं उसमें वैसी बुद्धि) होना विपर्य्यय है। जैसे गौ में अश्व बुद्धि होना प्रत्यक्ष न होने पर भी प्रत्यक्ष का अभिमान होना है। जैसे घन समूह से रहित अचल समुद्र के समान आकाश है। ऐसा ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है। क्योंकि आकाश इन्द्रिय का विषय नहीं है। तो उसको समुद्र के समान कहना ठीक नहीं। अतएव प्रत्यक्ष का अभिमान विपर्य्यय रूप हैं। इसी प्रकार रात्रि का जो अन्धकार है, उसे अञ्जनचूर्ण पुञ्ज के समान श्याम कहना भी विपर्य्यय हैं। क्योंकि न्याय मत में तम अभाव रूप है।

अनुमान के विषय में भी विपर्य्यय को दिखलाते हैं। जैसे वाष्पादि को धूम मानकर अग्नि का अनुमान करना। गवय के विषाण दर्शन से गौ का अनुमान करना इत्यादि वेद विरुद्ध बौद्ध आदि दर्शन में यह श्रेय है यह मिथ्याज्ञान विपर्य्यय है। अथवा प्रत्यक्ष अनुमान आगम से सिद्धान्त विरुद्ध बौद्धादि दर्शन को श्रेय का साधन माना है। शरीर, इन्द्रिय, मन में आत्मत्व अभिमान, कृतक में नित्यत्व दर्शन कारण, वैकल्प में कार्य के उत्पत्ति का ज्ञान, अहित उपदेश में हित का ज्ञान। यह सब विपर्य्यय है। अनध्यवसाय भी प्रत्यक्ष और अनुमान विषय में ही होता है प्रत्यक्ष विषय में अनध्यवसाय व्यासङ्ग अथवा अर्थित्व से क्या यह है ऐसा आलोचन मात्र होता है।

जैसे वाण आदि बनाने में आसक्त मन वाले को राजा के चले जाने पर भी क्या राजा गया है ऐसा अनध्यवसाय होता है।

अथवा अपने अनुष्ठान में निरत तपस्वी को क्या राजा गया है ऐसा अनध्यवसाय होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। यह संशय नहीं है क्योंकि संशय में दो विरुद्ध ज्ञान की प्रतीति होती है। अनध्यवसाय में दो विशेष संज्ञा के उल्लेख से शून्य ज्ञान होता है। जैसे वाहीक की अप्रसिद्धार्थ पनस (कटहल) आदि में संकेत के अभाव से विशेष संज्ञा उल्लेख शून्य यह क्या है ऐसा अनध्यवसाय होता है।

उसमें सत्ता द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, वृत्तत्वादि शाखा आदि अपेक्ष अध्यवसाय होता है। पनसत्व भी पनस में अनुवृत्त आम्रादि से व्यावृत्त प्रत्यक्ष है। केवल उपदेश के अभाव से विशेष संज्ञा की प्रतिपत्ति होती है। अनुमान के विषय में भी दिखलाते हैं। जैसे नारिकेलद्वीप वासी की सास्ना मात्र दर्शने से क्या यह है। ऐसा अनध्यवसाय होता है।

अब स्वप्न का वर्णन करते हैं। जिस समय समस्त इन्द्रिय उपरत हो जाती हैं मन भी लीन होजाता है। उस समय आत्ममन के संयोग विशेष से स्वाप के संस्कार विशेष से इन्द्रिय द्वार से ही असत् विषयों में प्रत्यक्षाकार स्वप्न ज्ञान उत्पन्न होता है। वह तीन प्रकार का होता है। संस्कार के पाटव, धातु दोष और अदृष्ट दोष से, संस्कार के पाटव से इस प्रकार होता है। जैसे कोई कामी या क्रोधी जिस समय जिस वस्तुका आदर पूर्वक चिन्तन करता हुआ सोता है। उस समय वही चिन्तन का प्रवाह प्रत्यक्ष के आकार का होजाता है। वात, पित्त, कफ धातुओं के दोष से या उनकी प्रवृत्ति से जो स्वप्न होता है उसको धातु दोष से कहते हैं। जैसे वातप्रकृति या वात दोष दूषित मनुष्य अपने आपको आकाश में उड़ता हुआ देखता है। पित्त प्रकृति या पित्त दोष दूषित मनुष्य अग्नि में प्रवेश सुवर्ण के

पर्वत आदि देखता है। कफप्रकृति या कफ दोष दूषित मनुष्य समुद्र और नदी आदि का तैरना हिमालय पर्वत आदि को देखता है। जो स्वयं अनुभूत या अनुभूत, प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध, जो शुभ सूचक हाथी पर चढ़ना,छत्र आदि का लाभ धर्म के संस्कार से होता है। उसमें विपरीत तेल लगाना, गधा और ऊँट पर चढ़ना अधर्म के संस्कार से होता है। अत्यन्त अप्रसिद्ध स्वप्न भी अदृष्ट से ही होता है। यद्यपि स्वप्न इन्द्रियों के उपरत होने पर होता है तथापि अतीत ज्ञान प्रबन्ध के प्रत्यवेक्षण से ही स्मृति है। यह चार प्रकार की अविद्या है। विद्याभी चार प्रकार की है। प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति, आर्ष लक्षण वाली।

अक्ष अक्ष के प्रति जो उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। घ्राण- रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, मन इन्द्रियाँ हैं। वह द्रव्यादि पदार्थ में उत्पन्न होता है। महत्व के अधिकरण में स्वरूप का आलोचन निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। अनेक द्रव्यत्व, रूपत्व और प्रकाश चतुष्टय सन्निकर्ष से तथा धर्मादिसामग्री में भी स्वरूप आलोचन मात्र ज्ञान होता है। आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से संयुक्त होती है। यह चतुष्टय सन्निकर्ष है।

सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण, कर्म विशेषण की अपेक्षा से आत्म मन के सन्निकर्ष से ज्ञान होता है। इसी को सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। सद् द्रव्य पृथ्वी है। विषाणी शुक्ल गौ जाति है। इस प्रकार रूप, रस, गन्ध स्पर्श में अनेक द्रव्य समवाय स्वगत विशेष स्वाश्रय सन्निकर्ष और नियतेन्द्रिय निमित्त से ज्ञान होता है। श्रोत्र समवेत शब्द का प्रत्यक्ष तीन सन्निकर्ष से होता है।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह द्रवत्व, वेग, कर्म का प्रत्यक्ष द्रव्य समवाय से चक्षु और स्पर्शन

से ग्रहण होता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न का आत्मा और मन के संयोग से ज्ञान होता है। भाव, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि का उपलब्धि आधार समवेतों का आश्रय ग्राहक इन्द्रियों से ग्रहण होता है। यह प्रत्यक्ष हम लोगों का है। हमसे विशिष्ट युक्त योगियों का योगज धर्म से अनुगृहीत मन से स्वात्मा, आत्मान्तर आकाश, दिक्काल, परमाणु, वायु मन में उनसे समवेत गुण कर्म सामान्य विशेष में, समवाय में, सत्यस्वरूप दर्शन होता है। पुनः वियुक्त योगियों का चतुष्टय सन्निकर्ष से तथा योगज धर्म की अनुग्रह शक्ति सम्पन्न से सूक्ष्म, व्यवहित विप्रकृष्ट वस्तुओं से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। उस सामान्य विशेष में स्वरूप आलोचन मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है द्रव्यादि प्रमेय है। प्रमाता आत्मा है। प्रमिति द्रव्यादि विषयक ज्ञान है। सामान्य विशेष ज्ञान की उत्पत्ति में अविभक्त आलोचन मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसमें अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है क्योंकि उनका कोई फल नहीं। अथवा सब पदार्थों में चतुष्टय सन्निकर्ष से जो सत्य अव्यपदेश्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रमेय द्रव्यादि पदार्थ होता है। प्रमाता आत्मा है। प्रमिति गुण दोष माध्यस्थ्य दर्शन है।

अनुमान का लक्षण

लिङ्ग दर्शन से जायमान जो ज्ञान है उसको लैङ्गिक कहते हैं। इसी को अनुमान कहते हैं। जो अनुमेय अर्थ से देश विशेष अथवा काल विशेष में सहचरित है और अनुमेय धर्म से अन्वित अन्य सब देश या एक देश में प्रसिद्ध है। अनुमेय विपरीत सब में प्रमाण से असत ही है। उस अप्रसिद्ध अर्थ का अनुमापक लिङ्ग होता है। जो यथोक्त त्रिरुप लिङ्ग के एक धर्म से व दो धर्म से विपरीत है।

वह अनुमेय की प्राप्ति में लिङ्ग नहीं होता। उसकी विधि यह है। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है। अग्नि के अभाव में धूम भी नहीं होता इस प्रकार प्रसिद्ध समय के संदेह रहित धूम दर्शन से साहचर्य्य के स्मरण से उनके अनन्तर अग्नि का निश्चय होता है।

इस प्रकार सब स्थान में देश काल अविनाभूत इतर का लिङ्ग है। शास्त्र में कार्यादिग्रहणनिदर्शन के लिये किया है। अवधारण के लिये नहीं। जैसे अध्वयु ओं सुनाता हुआ व्यवहित का हेतु लिङ्ग है। चन्द्रोदय समुद्र वृद्धि का शरदऋतु में जल की निर्मलता और अगस्त के उदय का इत्यादि। वह सब इसका यह है इस सम्बन्ध मात्र वचन से सिद्ध है। वह दो प्रकार का है। दृष्ट और सामान्यतो दृष्ट। प्रसिद्ध साध्यों का अत्यन्त जाति के अभेद में अनुमान है जैसे गौ में सास्ना मात्र को प्राप्त कर देशान्तर में सास्नामात्र के दर्शन से गौ का दृष्ट अनुमान है। प्रसिद्ध साध्यों का अत्यन्त जाति भेद में लिङ्ग से अनुमेय धर्म की सामान्य अनुवृत्ति से अनुमान सामान्यतो दृष्ट है। जैसे कर्षक, वणिक् और राज पुरुषों को प्रकृति का फलवत्व ज्ञातकार वर्ण आश्रम धर्म के आचरण करने वाले प्रयोजन के उद्देश्य के बिना प्रवर्तमान होने वालों के फल का अनुमान होता है।

उसमें लिङ्ग दर्शन प्रमाण है प्रमिति अग्नि ज्ञान है। अथवा अग्नि ज्ञान ही प्रमाण है। अग्नि में गुण दोष माध्यस्थ्य दर्शन प्रमिति है। यह अपने निश्चय के लिए अनुमान है। पञ्चावयव वाक्य से स्वनिश्चितार्थ का प्रतिपादन अन्य को निश्चय कराने के लिए करना परार्थानुमान है। प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन अनुसंधान प्रत्याम्नाय। अनुमेय का उद्देश्य मात्र प्रत्यक्ष आदि से अविरुद्ध प्रतिज्ञा है। जैसे द्रव्य वायु है। अविरोध ग्रहण से

प्रत्यक्ष अनुमान से अभ्युपगत स्वशास्त्र स्वबचन विरोधी निरस्त होते हैं। जैसे अग्नि उष्ण नहीं है यह प्रत्यक्ष विरोधी है। घन आकाश है यह अनुमान विरोधी है। ब्राह्मण को सुरा पीना चाहिए यह आगम विरोधी है। वैशेषिक का सत्कार्य है यह स्वशास्त्र विरोधी है। शब्द अर्थ का प्रत्यायक नहीं है। यह स्वबचन विरोधी है। लिङ्ग का वचन अपदेश है। जो अनुमेय से सहचरित है। और उसके समान जातीय में सब में सामान्य रूप से प्रसिद्ध है। उसंसे विपरीत सब में असत् ही है। वह लिङ्ग है उसका वचन अपदेश है। जैसे क्रियावत्व गुणवत्व से। तथा वह अनुमेय में है। उसके सब समान जातीय में गुणवत्व है। क्रियावत्व सब में नहीं है। जो द्रव्य नहीं है उसमें क्रियावत्व गुणवत्व दोनों ही नहीं है। तिससे उसका बचन अपदेश है यह सिद्ध हुआ। इसी से असिद्ध, विरुद्ध, संदिग्ध, अनध्यवसित वचनों का अनपदेशत्व कहा गया है। असिद्ध चार प्रकार का होता है। उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, तद्भावासिद्ध, अनुमेयासिद्ध, वादी प्रतिवादी दोनों के मत में असिद्ध को उभयासिद्ध कहते हैं जैसे शब्द अनित्य है, सावयव होने से। एक के मत में असिद्ध को अन्यतरासिद्ध कहते हैं। जैसे शब्द अनित्य है कार्य होने से।

तद्भावासिद्ध—जैसे धूम भाव से अग्नि का ज्ञान कर्तव्य होने पर उपन्यस्यमान वाष्प धूम भाव से असिद्ध है।

अनुमेयासिद्ध—जैसे पार्थिव द्रव्यतम है। कृष्ण रूपवत्व होने से। जो अनुमेय में अविद्यमान भी तत्समानजातीय सब में नहीं है तद्विपरीत में है। विपरीत साधन से वह विरुद्ध है। जैसे जिससे विषाणी है तिससे अश्व है।

जो अनुमेय में होता हुआ उसके समान जातीय तथा असमान जातीय में भी रहता है। वह सन्देह जनक होने से संदिग्ध है जैसे

यस्मात् विषाणी तस्मात् गौः। जो अनुमेय में विद्यमान होता हुआ उसके समान जातीय या असमान में नहीं है। वह अन्यतरासिद्ध है, अनध्यवसाय का हेतु होने से अनध्यवसित है। जैसे कार्य सत् है उत्पन्न होने से, साधर्म्य वैधर्म्य दो प्रकार से निर्देशन होता है। अनुमेय सामान्य से लिङ्ग सामान्य का अनुविधान दर्शन साधर्म्य निदर्शन है। जैसे जो क्रियावान् है वह द्रव्य है, जैसे शर।

अनुमेय विपर्य्यय में लिङ्ग के अभाव का दर्शन वैधर्म्यनिदर्शन है। जैसे जो अद्रव्य है वह क्रियावान् नहीं होता जैसे-सत्ता। इसी से निदर्शनाभास निवृत्त हो जाते हैं, जैसे शब्द नित्य है अमूर्त होने से। जो अमूर्त देखा है वह नित्य है जैसे परमाणु, कर्म, स्थाली, तम, आकाश के समान। जो द्रव्य है वह क्रियावत्व देखा गया है। लिङ्गानुमेय, उभयाश्रय, असिद्ध, अननुगत, विपरीतानुगत, साधर्म्य निदर्शनाभास है। जो अनित्य है वह मूर्त देखा गया है। जैसे कर्म, परमाणु, आकाश, तम, घट के सामान। जो निष्क्रिय है वह द्रव्य है इत्यादि।

लिङ्गानुमेय, उभयव्यावृत्त, आश्रयासिद्ध, व्यावृत्त, विपरीतव्यावृत्त, वैधर्म्यनिदर्शनाभास है। निदर्शन में अनुमेय सामान्य के साथ दृष्ट लिङ्ग सामान्य का अनुमेय में अन्वानयन अनुसन्धान है तैसे वायु क्रियावान् है।

अनुमेय के उद्दिष्ट होने पर दूसरों के निश्चित न होने पर उनको निश्चय कराने के लिये प्रतिज्ञा का पुनर्वचन आम्नाय है। तिस कारण द्रव्य ही है। इस प्रकार पञ्चावयव का वर्णन किया। विशेषदर्शन से उत्पन्न अवधारण ज्ञान संशय का विरोधी निर्णय है। यही प्रत्यक्ष अथवा अनुमान है। जो विशेष दर्शन से संशय विरोधी उत्पन्न होता है। वह प्रत्यक्ष निर्णय है। जैसे स्थाणु

और पुरुष के ऊर्ध्वता मात्र सादृश्य आलोचन से विशेष प्रत्यक्ष न होनेपर दोनों के विशेष के अनुस्मरण से क्या यह स्थाणु है या पुरुष है। ऐसे संशय के उत्पन्न होने पर शिर–हाथ आदि देखने से यह पुरुष ही है ऐसा अवधारण ज्ञान प्रत्यक्ष निर्णय है। विषाण मात्र दर्शन से यह गौ है या गवय है, इस संशय के उत्पन्न होने पर सास्नामात्र दर्शन से यह गौ ही है, ऐसा अवधारण ज्ञान अनुमान निर्णय है।

स्मृति लक्षण

लिङ्ग दर्शन इच्छा अनुस्मरण आदि की अपेक्षा से आत्ममन के संयोग विशेष से पटु अभ्यास आदर प्रत्यय से उत्पन्न संस्कार से दृष्टश्रुत अनुभूत विषय में शेष अनुव्यवसाय की इच्छा अनुस्मरण द्वेष हेतु अतीत को विषय करने वाली स्मृति है।

आम्नाय के धारण करने वाले ऋषियों का भूत, भविष्य, वर्तमान अतीन्द्रियधर्मादि में उपनिबद्ध या अनुपनिबद्ध में आत्ममन के संयोग धर्म विशेष से जो प्रातिभ याथार्थ निवेदन ज्ञान उत्पन्नहोता है। उसको आर्ष ज्ञान कहते हैं। वह विस्तार से देवता और ऋषियों को होता है। लौकिकों को कदाचिद् ही होता है। यथा कन्या कहती है कल मेरा भाई आवेगा, मेरा हृदय कह रहा है।

सिद्धों का दर्शन ज्ञानान्तर नहीं है। क्योंकि प्रयत्नपूर्वक अञ्जन, पादलेप खड्ग, गुलिका, दृश्य, द्रष्टा, सिद्धों का सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट विषयों का जो दर्शन है वह प्रत्यक्ष ही है।

दिव्य अन्तरिक्ष भूमि में स्थित प्राणियों का ग्रह नक्षत्र संचारादि का नित्य धर्म अधर्म का जो इष्ट दर्शन है वह भी अनुमान

ही है। अथ लिङ्ग की अपेक्षा के बिना जो धर्मादि में दर्शन इष्ट है, वह भी प्रत्यक्ष या आर्ष के अन्तर्भूत ही है।

सुख का लक्षण

अनुग्रह लक्षण सुख है। स्रग् आदि अभिप्रेत विषय के समीप होने पर इष्ट की उपलब्धि इन्द्रिय विषय के सन्निकर्ष से धर्मादि अपेक्षा से आत्म-मन के संयोग से, सुखविषयक ज्ञान आसक्ति नेत्रादि की प्रसन्नता का जनक सुख है। अतीत विषयों में स्मृति से उत्पन्न होता है। अनागत विषयों में संकल्प से उत्पन्न होता है। जो बिना विषय के सम्बन्ध से विद्वानों का सुख होता है। वह विद्या शम, सन्तोष, धर्म विशेष के कारण उत्पन्न होता है।

दुःख लक्षण

उपघात लक्षण दुःख है। विष आदि अनभिप्रेत विषय के समीप होने पर अनिष्ट उपलब्धि इन्द्रिय अर्थ के सन्निकर्ष अधर्मादि की अपेक्षा आत्म मन के संयोग से अमर्ष उपघात दैन्य के कारण उत्पन्न हुआ दुःख है। व्याघ्र, सर्प, चौर आदि की स्मृति से उत्पन्न होता है। अनागत में संकल्प से उत्पन्न होता है।

इच्छा लक्षण

स्वार्थ या परार्थ अप्राप्त प्रार्थना को इच्छा कहते हैं। वह आत्म मन के संयोग से सुखादि या स्मृति की अपेक्षा से उत्पन्न होती है। प्रयत्न, स्मृति, धर्म अधर्म का कारण है। काम, अभिलाष, राग, वैराग्य उपधा भाव इत्यादि इच्छा के ही भेद हैं। मैथुन की इच्छा को काम कहते हैं। अभ्यवहार की इच्छा को अभिलाष कहते हैं। पुनः पुनः

विषय के अभिरञ्जन की इच्छा को राग कहते हैं। अनासन्नक्रिया की इच्छा को संकल्प कहते हैं, स्वार्थ की अपेक्षा न करके दूसरे के दुःख के नाश की इच्छा को कारुण्य कहते हैं।

दोष दर्शन से विषय त्याग की इच्छा को वैराग्य कहते हैं। दूसरे के ठगने की इच्छा को उपधा कहते हैं। अन्दर छिपी हुई इच्छा को भाव कहते है। करने या हरने की इच्छा आदि की क्रिया भेद से इच्छा में भेद होजाता है।

द्वेष का लक्षण

प्रज्वलन स्वरूप द्वेष है। जिसके होनेपर अपने आपको प्रज्वलित के समान मानता है वह द्वेष है। वह आत्म-मन के संयोग से दुःख की अपेक्षा से या स्मृति की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। प्रयत्न, स्मृति, धर्म, अधर्म का कारण है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा, अमर्ष यह द्वेष के ही भेद हैं।

प्रयत्न लक्षण

प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह यह पर्याय हैं। वह दो प्रकार का होता है। जीवनपूर्वक और इच्छा द्वेषपूर्वक।

सुप्त के प्राण अपान रूप सन्तान का प्रेरक प्रबोध काल में अन्तःकरण इन्द्रियान्तर प्राप्ति का हेतु है। जीवन पूर्वक का आत्ममन के संयोग से धर्माधर्म की अपेक्षा से उत्पत्ति होती है। दूसरा हित अहित प्राप्ति परिहार समर्थ व्यापार का हेतु है और शरीर का विधारक है। वह आत्म मन के संयोग से इच्छा या द्वेष की अपेक्षा से उत्पन्न होता है।

गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह आदि का लक्षण प्रथम लिख चुके हैं। संस्कार, वेग, भावना, स्थितिस्थापक भेद से तीन प्रकार का

होता है। वेग मूर्तिमान् पञ्च द्रव्यों में निमित्त विशेष की अपेक्षा कर्म से उत्पन्न होता है। नियतदिशा में क्रियाप्रवन्ध का हेतु है। स्पर्शवान् द्रव्य के संयोग विशेष का विरोधी है। कहीं कारण गुण पूर्व क्रम से उत्पन्न होता है। भावना नामक संस्कार दृष्टश्रुत अनुभूत विषय में स्मृति प्रत्यभिज्ञान का हेतु है। ज्ञान मद दुःखादि का विरोधी है। पटु अभ्यास आदर प्रत्यय से उत्पन्न पटु प्रत्यय की अपेक्षा आत्म मन के संयोग से आश्चर्य अर्थ में संस्कारातिशय उत्पन्न होता है। जैसे दक्षिण देश वासी को उष्ट्र दर्शन से। विद्या शिल्प व्यायाम आदि का अभ्यास करते करते उसी ही अर्थ में पूर्व पूर्व संस्कार की अपेक्षा से, उत्तरोत्तर प्रत्यय से, आत्म मन के संयोग से, संस्कारातिशय उत्पन्न होता है। प्रयत्न से मन को चक्षु में स्थापन करके अपूर्व विषय देखने वाले की इच्छा वाले का विद्युत्संपात दर्शन के समान आदर प्रत्यय होता है। उसकी अपेक्षा आत्ममन के संयोग से संस्कारातिशय उत्पन्न होता है। जैसे देवह्रद में राजत सौवर्ण कमल दर्शन से स्थितिस्थापक संस्कार स्पर्शवान् द्रव्य में वर्तमान घनावयव सन्निवेशविशिष्ट कालान्तर अवस्थायि में स्वाश्रय को अन्यथा किया हुआ यथा अवस्थित स्थापित करता है। स्थावर, जङ्गम, विकार, धनु, शाखा, शृङ्ग, दन्त, अस्थि, सूत्र, वस्त्र आदि लग्न संवर्तित में स्थितिस्थापक का कार्य संलक्षित होता है। गुरुत्व के समान इसकी भी नित्य अनित्य निष्पत्ति है।

धर्म निरूपण

धर्म पुरुष का गुण है। कर्ता के प्रिय हित मोक्ष का हेतु है। अतीन्द्रिय है। अन्त्यसुख संविज्ञान विरोधी पुरुष के अन्तःकरण के संयोग विशुद्ध अभिसन्धि से उत्पन्न है। वर्णाश्रम धर्म के मानने वालों का प्रतिनियत साधन उसका निमित्त है। उसके साधन श्रुति

स्मृति में विहित वर्णाश्रमी के सामान्य विशेष भाव से स्थित द्रव्य गुण कर्म है। सामान्य यह है, धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्यबचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा, क्रोध वर्जन, अभिषेचन शुचिद्रव्यसेवन, विशिष्टदेवताभक्ति, उपवास, अप्रमाद, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का इज्याध्ययन दान सामान्य धर्म है। ब्राह्मण के विशिष्ट धर्म प्रतिग्रह, अध्ययन, याजन और स्ववर्णविहित संस्कार हैं। क्षत्रिय का धर्म सम्यक् प्रजापालन, असाधुनिग्रह, युद्ध में अनिवर्तन अपने वर्णोचित संस्कार हैं। वैश्य का धर्म, क्रय-विक्रय, कृषि, पशु पालन, स्ववर्णोचित संस्कार हैं। शूद्र का धर्म पूर्व वर्णों की सेवा करना तथा विना मन्त्र की क्रिया करना। गुरुकुल निवासी ब्रह्मचारी का धर्म स्वशास्त्र विहित गुरुसेवा, अग्निहोत्र, भिक्षा मांगना, मधु, मांस, दिवास्वप्न, अञ्जन, अभ्यञ्जन का त्याग करना है। विद्या व्रत स्नातक कृतदारपरिग्रह गृहस्थ का धर्म शालीन यायावर वृत्ति से उपार्जित धन से भूत, मनुष्य, देव, पितृ, ब्रह्म नामक पञ्चमहायज्ञों का सायं प्रातः अनुष्ठान करना। एक अग्नि विधान से पाकयज्ञसंस्था का नित्य है का शक्ति होने पर अग्न्याधान आदि का और हवि यज्ञ संस्था अग्निष्टोम आदि सोमयज्ञसंस्था अनुष्ठान करना। ऋतुकाल के अनन्तर ब्रह्मचर्य्य से पुत्र को उत्पन्न करना धर्म है। ब्रह्मचारी गृहस्थ अथवा बानप्रस्थ बल्कल, अजिन, केश, श्मश्रुनख रोम का धारण करना धर्म है। वन्यहुत और अतिथिशेष भोजन करना बानप्रस्थ का धर्म है। श्रद्धावान् सन्यासी का सर्व भूतों को नित्य अभयदान देकर सब का सन्यास कर अपने कर्म में प्रमाद रहित षट् पदार्थों के प्रसंख्यान से योग का साधन धर्म है। प्रयोजन का उद्देश न करके इन साधनों के करने से भावप्रसाद की अपेक्षा आत्म मन के संयोग से धर्म उत्पन्न होता है ऐसा देखा गया है।

अधर्म भी आत्मा का गुण है। कर्ता के अहित और प्रत्यवाय का हेतु है। अतीन्द्रिय और अन्त्य दु.ख संविज्ञान विरोधी है। उसका साधन शास्त्र निषिद्ध, धर्मसाधन, विपरीत हिंसा, असत्य चोरी आदि विहित न करना, प्रमाद यह सब दुष्टाभिसन्धि की अपेक्षा करके आत्म मन के संयोग से अधर्म की उत्पत्ति होती है।

अविद्वान् राग द्वेष युक्त प्रवर्तक के स्वल्प अधर्म सहित धर्म से ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, पितृ, मनुष्यादि शरीरों की प्राप्ति होती है वैसा ही भोग मिलता है। वैसे ही स्वल्प धर्म सहित प्रकृष्ट अधर्म से प्रेत, तिर्यक् आदि योनि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रवृत्ति लक्षण अधर्म सहित धर्म से बार बार अनेक योनि में जन्ममरण रूप संसारचक्र में भ्रमण करना पड़ता है

ज्ञान पूर्वक संकल्पित फल से रहित कियेहुए कर्म का फल है। विशुद्धकुल में जन्म प्राप्तकर दुःख नाश का उपाय जानने की इच्छा से आचार्य के समीप जाकर षट् पदार्थ के तत्व को जानकर अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर रागद्वेष से विरक्त होकर धर्म–अधर्म से रहित पूर्व और संचित कर्म के उपभोग से निरोध करके परम सन्तोष को प्राप्त हुआ निवृत्त लक्षण धर्म के अनुष्ठान से परमार्थ सुख को प्राप्तकर सबके निरोध होने पर निर्बीज अवस्था रूप पुनः जन्मादि से रहित परम मोक्ष को प्राप्त होता है।

शब्द का लक्षण

शब्द आकाश का गुण है। श्रोत्र से ग्राह्य क्षणिक कार्य कारण उभय विरोधी संयोग विभाग शब्द से उत्पन्न समान असमान जातीय कारण है। वह दो प्रकार है, वर्ण लक्षण और ध्वनि लक्षण। वर्ण लक्षण की उत्पत्ति आत्म मन के संयोग स्मृति की अपेक्षासे वर्णोच्चारण

की इच्छा होती है। उसके अनन्तर प्रयत्न ततः आत्मवायु के संयोग से वायु में कर्म उत्पन्न होता है। वह वायु ऊपर को जाता हुआ कण्ठादि में अभिघात करता है। उसके अनन्तर स्थान वायु के संयोग की अपेक्षा करता हुआ स्थान आकाश के संयोग से वर्ण उत्पन्न होता है। अवर्ण लक्षण भी भेरी दण्ड संयोग की अपेक्षा भेरी आकाश के संयोग से उत्पन्न होता है। वेणु पर्व विभाग और वेणु आकाश के विभाग से संयोग विभाग से निष्पन्न शब्द से बीची सन्तान के समान श्रोत्र प्रदेश में आये हुए का ग्रहण होता है।

कर्म का लक्षण

उत्क्षेपण आदि पांचों का कर्मत्व सम्बन्ध है। एक द्रव्यवत्व, क्षणिकत्व, मूर्तद्रव्यवृत्तित्व, अगुणवत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न संयोगजत्व स्वकार्यसंयोगविरोधित्व, संयोगविभागनिरपेक्षकारणत्व, असमवायि कारणत्व, स्वपराश्रयसमवेतकार्य्यारम्भकत्व, समान जातीयानारम्भकत्व, द्रव्यानारम्भकत्व, प्रतिनियतजातियोगित्व, दिग्विशिष्ट कार्य्यारम्भत्व विशेष है।

शरीर के अवयव और उसके सम्बन्ध में जो ऊर्ध्वभाग वाले प्रदेशों में विभागकारणगुरुत्वप्रयत्नसंयोग से जो कर्म उत्पन्न होता है, वह उत्क्षेपण है। उससे विपरीत संयोग विभाग का कारण कर्म अपक्षेपण है।

ऋजु द्रव्य के आगे के अवयव का उस देश से विभाग और मूल प्रदेश से संयोग जिस कर्म से अवयवी कुटिल (टेढ़ा) होजाता है, उसको आकुञ्चन कहते हैं। उससे विपरीत संयोग विभाग की उत्पत्ति होने पर जिस कर्म से अवयवी ऋजु (सीधा) हो जाता है, उसको प्रसारण कहते हैं। जो अनियत दिग्प्रदेश के संयोग विभाग

का कारण है उसको गमन कहते हैं। इस प्रकार यह पंच प्रकार का कर्म है।

सामान्य लक्षण

सामान्य दो प्रकार का है, पर और अपर।

स्वविषय में सर्वगत—अभिन्न स्वरूप—अनेक वृत्ति एक द्विबहु में अपने स्वरूप के अनुसार अनुगम प्रत्ययकारी स्वरूप के अभेद से आधारों में प्रबन्ध से वर्तमान अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण है। किस प्रकार ? सामान्य की अपेक्षा प्रतिपिण्ड प्रबन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति में अभ्यास प्रत्यय से जनित संस्कार से अतीत ज्ञान प्रबन्ध के प्रत्यवेक्षण से जो अनुगत है वह सामान्य है।

सत्ता सामान्य अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण ही पर सामान्य है। यथा परस्पर विशिष्ट चर्म, वस्त्र, कम्बल आदि में एक नील प्रत्यय के सम्बन्ध से नील है नील है, इस ज्ञान की अनुवृत्ति होती है। तथा परस्पर विशिष्ट, द्रव्य, गुण, कर्म में अविशिष्ट सत्सत् इस प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है। वह अर्थान्तर से होने योग्य है। जो वह अर्थान्तर है, वह सत्ता सिद्ध है। सत्ता के अनुसम्बन्ध से सत्सत् इस प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है। तिस कारण वह सामान्य ही है।

अपर सामान्य द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि के अनुवृत्ति, व्यावृत्ति का हेतु होने से विशेष है। उसमें द्रव्यत्व परस्पर विशिष्ट पृथ्वी आदि में अनुवृत्ति का हेतु होने से सामान्य है। गुण कर्म से व्यावृत्ति का हेतु होने से विशेष है। तथा गुणत्व परस्पर विशिष्ट रूपादि में अनुवृत्ति का हेतु होने से सामान्य है। द्रव्य कर्म से व्यावृत्ति होने से विशेष है। तथा कर्मत्व परस्पर विशिष्ट उत्क्षेपण आदि में अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु होने से सामान्य है। द्रव्यगुण कर्म से

व्यावृत्ति होने से विशेष है। इसी प्रकार पृथ्वीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व, गोत्व, घटत्व, पटत्व आदि का भी प्राणि-अप्राणि गत का अनुवृत्ति व्यावृत्ति का हेतु होने से सामान्यविशेष भाव सिद्ध है। यह द्रव्यत्वादि प्रभूत विषय होने से प्राधान्य रूप से सामान्य है। स्वाश्रय के विशेषकत्व होने से विशेष है। लक्षण भेद से इसका द्रव्य गुण कर्म से पदार्थान्तरत्व सिद्ध है। अतएव इसमें नित्यत्व है। द्रव्यादि में वृत्ति के नियम और प्रत्यय के भेद से परस्पर अन्यत्व है। प्रत्येक स्वाश्रय में लक्षण के अविशेष से और विशेष लक्षण के अभाव से एकत्व है। यद्यपि अपरिच्छिन्न देश सामान्य होते हैं। तथापि उपलक्षण नियम से और कारण सामग्री नियम से स्वविषय में सर्वगत है। अन्तराल में संयोगसमवायवृत्ति के अभाव से अव्यपदेश्य है। इति सामान्य निरूपणम्।

विशेष लक्षण

स्वाश्रय विशेषक अन्त में होने से अन्त्य विशेष है।

विनाश और आरम्भ से रहित नित्य द्रव्य अणु आकाश काल, दिक्, आत्मामन में वर्तमान अत्यन्त व्यावृति बुद्धिकेहेतु है। जैसे हम लोगों का गवादि में अश्वादि से तुल्य आवृत्तिगुण क्रिया अवयव संयोग निमित्त के कारण प्रत्यय की व्यावृत्ति देखी गई है कि गौशुक्ल शीघ्र गति पीनककुद्मान महाघण्टा है तथा हम से विशिष्ट योगियों का नित्य तुल्य आकृति गुण क्रिया परमाणु में मुक्त आत्मा मन से अन्य निमित्त के अभाव से जिस निमित्त से यह विलक्षण है प्रति आधार में इस प्रत्यय की व्यावृत्ति होती है। देश काल के विप्रकर्ष में और परमाणु में वही यह है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा होती है। वे अन्त्य विशेष हैं। यदि पुनः अन्त्य विशेष के बिना योगियों को योगज धर्म से प्रत्यय कीव्यावृत्ति प्रत्यभिज्ञान हो, उससे क्या हो ऐसा होता नहीं।

और जैसे योगज धर्म से अशुक्ल में शुक्ल प्रत्यय उत्पन्न हो। अत्यन्त अदृष्ट में प्रत्यभिज्ञान हो। यदि ऐसा हो तो मिथ्या होगा। तथा यहाँ पर भी अन्त्य विशेष के बिना योगियों को योगज धर्म से प्रत्यय की व्यावृत्ति याप्रत्यभिज्ञान नहीं होता है।

अथ अन्त्य विशेष में की नाईं परमाणु में स्वतः प्रत्यय व्यावृत्ति की कल्पना क्यों नहीं करते। तादात्म्य के कारण वैसी कल्पना नहीं की जाती। यहाँ पर अतादात्म्य में अन्य निमित्त प्रत्यय होता है। जैसे घटादि में प्रदीप से होता है प्रदीप में अन्य प्रदीप से नहीं होता यथा गौ और श्वा के मांसादि में स्वतः अशुचित्व है। उनके योग से अन्यत्र में भी होता है तथा यहाँ पर तादात्म्य से अन्त्य विशेषों में स्वतः ही प्रत्यय व्यावृत्ति होती है उनके योग से परमाणु आदि में होती है।

समवाय लक्षण

अयुत सिद्धों का आधार्य आधार भूत जो सम्बन्ध यहाँ प्रत्यय का हेतु है वह समवाय है।

द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य विशेष का कार्य कारण भूत का अकार्य्य कारण भूत का अथवा अयुत सिद्ध का आधार आधेय भाव से अवस्थिति का यहां यह इस प्रकार की बुद्धि जिससे होती है। जिससे असर्वगत का और अधिगत अन्यत्व का अविष्वग्भाव है वह समवाय नाम का सम्बन्ध है। कैसे ? जैसे इस कुण्ड में दधि है इस प्रकार का प्रत्यय सम्बन्ध होने पर देखा जाता है। तथा इस तन्तु में पट है, वीरण में कट (चटाई) है। द्रव्य में गुण कर्म है। इस गुण में गुणत्व है कर्म में कर्मत्व है। इस नित्य द्रव्य में अन्त्य विशेष है। इस प्रकार का प्रत्यय दर्शन से इसका सम्बन्ध है ऐसा ज्ञान होता है।

इस प्रकार षट् पदार्थों का वैशेषिक दर्शन में वर्णन किया गया है। इस पर प्रशस्त पाद का भाष्य है। उसीं के अनुसार हमने भी संक्षेप में लिख दिया है। इसके भाष्य तथा टीका में विस्तार से वर्णन किया गया है। अतएव उन ग्रन्थों को देखना चाहिये। उससे सब पदार्थों का विस्तार से बोध हो जायगा।

वैशेषिक तथा न्यायदर्शन में विशेष मतभेद नहीं है। इस कारण बहुत से लोग दोनों को न्याय के अन्तर्गत ही मान लेते हैं। किन्तु विचार करने पर दोनों में मतभेद है। वह मतभेद व्यवहारिक दृष्टि से है। परमार्थ में तो कोई मतभेद नहीं है। न्यायदर्शन में १६ पदार्थ के तत्व ज्ञान से मोक्ष माना है। वैशेषिक में ६ पदार्थ के ज्ञान से मुक्ति माना है। न्यायदर्शन में अपवर्ग शब्द मोक्ष के लिये आया है, वैशेषिक दर्शन में निःश्रेयस शब्द आया है।

न्यायदर्शन में प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द चार प्रकार का माना है। वैशेषिक दर्शन में प्रसंग वश प्रमाण का वर्णन किया है प्रत्यक्ष और अनुमान का ही विचार किया है। उसी के अन्तर्गत सबको मान लिया है। कुछ लोगों के मत से आगम प्रमाण को भी माना है। किन्तु आगम पर बल नहीं दिया है। योगियों के प्रत्यक्ष को भी प्रमाण माना है। किन्तु वह भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही आ जाता है। उसका विशेष विचार नहीं किया है। ईश्वर के विषय में कोई चर्चा नहीं की गई है। आत्मा को माना है उसका लक्षण भी न्यायदर्शन से मिलता जुलता ही किया गया है। यथा—
"प्राणापाननिमिषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारः। सुख दुखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि ३।२।४॥ न्याय दर्शन में इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम् १।१।१० यह लक्षण किया है। इस वैशेषिक दर्शन में आत्मा को एक माना है। किन्तु

व्यवस्था भेद से भेद माना है। जैसा कि सूत्र है—सुख, दुःख ज्ञान निष्पत्यविशेषादैकात्म्यन ३।२।१६ व्यवस्थातो नाना ३।२।२० शास्त्र सामर्थ्याच्च। आत्मा की विशेष परीक्षा नहीं की है। न्यायदर्शन में आत्मा की परीक्षा अच्छी तरह से किया गया है। अनुमान का स्वरूप तथा हेत्वाभास का वर्णन भाष्यकार ने किया है, मूल में विशेष वर्णन नहीं है।

वाद जल्प आदि का वर्णन भी वैशेषिक दर्शन में नहीं है। अभिप्राय यह कि पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य से प्रतिपादन करना ही वैशेषिक दर्शन का लक्ष्य है। प्रमाण आदि का वर्णन न्यायदर्शन में किया ही है। अतएव उनका वर्णन नहीं किया। योगाभ्यास को न्यायदर्शन में माना है। वैशेषिक ने भी माना है। क्योंकि विना योग के पदार्थों का प्रत्यक्ष वास्तविक रूप से नहीं होता है। इस प्रकार कुछ न्याय वैशेषिक में समानता है। कुछ में नहीं है। किन्तु अपवर्ग या निश्रेयस प्राप्ति के समय आत्मा समस्त बन्धनों से मुक्त केवल रहता है। उसके प्राप्ति के लिये वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान भी आवश्यक है। क्योंकि बिना धर्मानुष्ठान के अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती विना अन्तःकरण शुद्धि के वैराग्य नहीं होता विना वैराग्य के योगाभ्यास हो नहीं सकता विना योग के तत्व का साक्षात्कार नहीं होता यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। योग का सम्पूर्णवर्णन योग दर्शन में है, न्यायदर्शन में तो केवल संकेत किया है। यथा—समाधिविशेषाभ्यासात् ४।२।३ अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ४।२।४८ तदर्थ यम नियमाभ्यामात्म संस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ४।२।४६ दोषनिमित्तों के तत्वज्ञान से अहङ्कार निवृत्त होता है। वह तत्वज्ञान कैसे उत्पन्न होता है इस प्रश्न के होने पर उत्तर दिया है कि समाधि विशेष के अभ्यास से तत्वज्ञान होता है। इसके अनन्तर

पुनः शंका समाधान ३६।४०।४१ सूत्रों में किया है। उसके अनन्तर अरण्य गुहा पुलिन आदि में योगाभ्यास करने का उपदेश है। पुनः उस अपवर्ग की प्राप्ति के लिये कहा है। यम नियम से आत्मा का संस्कार होता है। उससे अधर्म की हानि होती है धर्म का उपचय होता है। योगशास्त्र से अध्यात्मविधि को जानना चाहिये। शब्द प्रमाण के प्रसङ्ग में समस्त वेद के विधान को माना है। वेद विहित ही धर्म है यह भी माना है।

वैशेषिक दर्शन में भी धर्म और सदाचार को माना है। षष्ठाध्याय में वर्णाश्रम धर्म का सूत्रों में उल्लेख किया है। योग से तत्वज्ञान तथा आत्म साक्षात्कार को भी माना है। इस प्रकार न्याय तथा वैशेषिक की समानता है। ऐसे ही अन्य दर्शनों में भी कुछ बातें समान हैं। पश्चिमी दर्शन के साथ समानता तथा पश्चिमी दर्शनों का प्रभाव इन पर पड़ा है। या इनका प्रभाव उन पर पड़ा है इसका विचार। न्याय दर्शन के कर्ता गौतम मुनि हैं। इन्हीं का नाम अक्षपाद भी है। वैशेषिक दर्शन के कर्ता कणाद है। इन दोनों का आविर्भाव कब और कहाँ हुआ इसका निर्णय अभी तक इतिहासकार नहीं कर पाये हैं। केवल अपनी अपनी वुद्धि की कल्पना से कुछ लिखते हैं। जब अभी तक इनके समय का ही निर्णय नहीं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि इन पर पश्चिम के दर्शनों का प्रभाव पड़ा है। आज कल लोग किसी सिद्धान्त का खण्डन किसी ग्रन्थ में देखकर अनुमान करते हैं कि वह ग्रन्थ उस सिद्धान्तप्रतिपादन के पश्चात बना होगा। किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं होता कभी कभी ग्रन्थ कर्ता स्वकल्पना से सिद्धान्त को कल्पित करके खण्डन करता है। अथवा सिद्धान्त सभी अनादि काल से चले आते हैं कभी किसी का प्रचार होता है कभी किसी का होता है।

दो दर्शनों के कर्ता का इतिहास ढूँढ़ कर प्रथम का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है ऐसा अनुमान करते हैं। किन्तु बिना प्रभाव पड़े भी उसी प्रकार का सिद्धान्त दो दर्शनकारों के मस्तष्क में उत्पन्न हो सकता है। अतएव आधुनिक अटकल बाजियाँ निरर्थक हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि न्यायसूत्र पर यूनानी दर्शन का प्रभाव पड़ा है। किन्तु उन्हींके कथन से वदतोव्याघात से दूषित उनका मत है। क्योंकि एक ओर कहते हैं कि गौतम कब हुए थे कहां हुए थे इन सब बातों का निर्णय अभी अन्धकार में है। उधर कहते हैं कि यूनानी भारत में आये तो उनके संसर्ग से उनके दर्शनों का प्रभाव पड़ा है। कुछ लोग कहते हैं यूनानियों के ही ऊपर भारतीय दर्शनों का प्रभाव पड़ा है। कौन सही है इसको परमात्मा ही जाने किन्तु भारतीय दार्शनिक परम्परा अति प्राचीन है। अतएव इसपर किसी अन्य देश के दर्शन का प्रभाव पड़ा है ऐसा कहना विचार शून्यता का द्योतक है। कुछ लोग कहते हैं कि अक्षपाद ने अंकुर की रक्षा के लिये कांटे की बाढ़ की उपमा जो जल्प और वितण्डा की आवश्यकता सिद्धान्त रक्षा करने के लिये दी है। वह यूनानी दर्शनकार स्तोइको से शब्दशः लिया है। ऐसे ही अरस्तू के तर्क से अक्षपाद भी प्रभावित हुए हैं। उनका कहना है कि अवयवी एक स्वतन्त्र वस्तु है। ऐसा यूनानी दर्शनकार मानते हैं। अक्षपाद भी ऐसा ही मानते हैं। अतएव यह सिद्धान्त यूनानियों से लिया है कुछ लोग कहते हैं यूनानी ही अक्षपाद से इस सिद्धान्त को प्राप्त किये हैं। ऐसे ही न्याय के पञ्चावयव को भी यूनानी अरस्तु से लिया हुआ सिद्ध करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अर्गनन शब्द का ही अनुवाद अवयव शब्द है। अर्गनन शब्द का प्रयोग अरस्तू ने किया है। ऐसे कणाद के लिये भी लोगों का कहना है कि यूनानी दर्शनकार देमोक्रितु के परमाणुवाद को तथा पिथागोर

के सामान्य और अफलातूं के सामान्य विशेष को कणाद ने ग्रहण किया है। ऐसे ही अफलातूं के शिष्य अरस्तू के पदार्थों के वर्गीकरण को भी कणाद ने लिया है, इत्यादि बातों को कुछ पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् भी अपनी अपनी पुस्तकों में लिखते हैं। किन्तु इनका खण्डन करने वाले लोग भी हैं जो खण्डन करते हैं उनका मत है कि यूनानी दर्शनकारों के ही ऊपर भारतीय दर्शनकारों का प्रभाव पड़ा है। न्याय और वैशेषिककार ने जिस प्रकार पदार्थों का विवेचन सूक्ष्म रीति से किया है। उस प्रकार से ससार में और किसी दार्शनिक ने नहीं किया है। दर्शन के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए हमने भी यही निश्चय किया है कि भारतीय दर्शनों पर किसी भी पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव नहीं पड़ा है, किन्तु भारतीय दार्शनिक विचारधारा भारतीय मस्तिष्क की ही उपज है। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्त को संक्षेप में हमने वर्णन किया इन दोनों दर्शनों में संसार की व्यवहारिक सत्ता का विश्लेषण अत्युत्तम रीति से किया गया है। आज कल जो वैज्ञानिक लोग पदार्थों के जानने का प्रयत्न कर रहे हैं वे भी इनसे आगे नहीं बढ़े हैं आगे बढ़ना तो दूर रहा, इन आधुनिक वैज्ञानिकों को वास्तविक तत्वज्ञान भी नहीं हुआ है। क्योंकि इन्होंने जितने आविष्कार किये हैं, वे प्रायः मानव के वास्तविक सुख से विमुख करने वाले हैं। तथा यही मानव के विनाश के हेतु होंगे। अब इसके अनन्तर सांख्य दर्शन के सिद्धान्त का विचार करेंगे ॥ इति ॥

❋ सांख्यदर्शन सिद्धान्त ❋

न्याय तथा वैशेषिक के अनन्तर सांख्यदर्शन सिद्धान्त का वर्णन संक्षेप में अब करते हैं। सांख्यदर्शन के कर्ता कपिल हैं। इनके जीवन चरित्र के विषय में भी कुछ पता नहीं लगता कपिल के विषय में मतभेद है। कुछ लोगों का कथन है कि कपिल ईश्वरवादी थे। कुछ लोग इनको अनीश्वरवादी कहते हैं। कपिल रचित मूल सांख्यदर्शन वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं, जो सांख्यदर्शन उपलब्ध है, उसको कपिल का रचा अधिकांश विद्वान् स्वीकार नहीं करते।

ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिका को ही प्रामाणिक तथा कपिल के सिद्धान्त के अनुकूल माना जाता है। सांख्यदर्शन पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य है। तथा अनिरुद्ध वृत्ति है। तत्वसमास नामक २२ सूत्रों का एक ग्रन्थ भी कपिल का रचा हुआ कहा जाता है, इस तत्वसमास पर भी अनेक टीकायें सांख्यसंग्रह में प्रकाशित हुई हैं। यथा सांख्यतत्वविवेचन, सांख्यतत्वयाथार्थ्यदीपन, सांख्य—सूत्रविवरण आदि हैं।

सांख्य सूत्र में ६ अध्याय हैं। और सूत्र संख्या ५३७ है। प्रथम अध्याय में विषय का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय में प्रधान के कार्य्य का निरूपण है। तृतीय में वैराग्य का वर्णन है। चतुर्थ में सांख्यतत्व के सुबोध के लिये अनेक रोचक आख्यायिकाओं का कथन है। पञ्चम में अन्य मतों का निराकरण किया गया है। षष्ठ में सिद्धान्त का परिचय संक्षेप में दिया है।

पञ्चशिख द्वारा निर्मित षष्ठितन्त्र नामक ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं। व्यास भाष्य में उसके कुछ सिद्धान्तों का वर्णन है।

वह ग्रन्थ सांख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये बड़ा था। सांख्यकारिका पर अनेक टीकायें उपलब्ध हैं। सबसे प्रचीन माठरवृत्ति है। गौड़पादभाष्य को भी प्राचीन माना जाता है। युक्तिदीपिका में प्राचीन सांख्याचार्य्यों का सिद्धान्त उत्तम रीति से प्रतिपादन किया गया है। सांख्यकारिका पर वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित सांख्यतत्वकौमुदी वर्तमान समय में प्रसिद्ध है। और भी टीकायें हैं। यथा जयमङ्गला, चन्द्रिका, सांख्यतरुबसन्त आदि, साख्यदर्शन में २५ तत्व माना गया है। इन्हीं के ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। यथा—"**पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमेवसेत् जटी-मुण्डी शिखीवापि मुच्यते नात्र संशयः**" ।। स० सि० सं० ६-११। पञ्चविंशति तत्त्व का ज्ञाता जिस किसी आश्रम में रहे। जटी, मुण्डी, सिखी भी हो तो भी मुक्त हो जाता है इस में कोई संशय नहीं, सांख्य के पञ्चविंशति तत्व इस प्रकार हैं "१ प्रकृति, २ महान्, ३ अहंकार, ४ शब्द, ५ स्पर्श, ६ रूप, ७ रस, ८ गंध, ९ आकाश, १० वायु, ११ अग्नि, १२ जल, १३ भूमि, १४ श्रोत्र, १५ त्वक्, १६ नेत्र, १७ जिह्वा, १८ घ्राण, १९ वाक्, २० पाणि, २१ पाद, २२ उपस्थ, २३ गुदा, २४ मन, २५ पुरुष।"

इनकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार का है, प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा तथा ज्ञान और कर्म इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्रा से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की सूक्ष्मावस्था को तन्मात्रा कहते हैं। पुरुष असङ्ग होने से किसी का कार्य या कारण नहीं है। सांख्य दर्शन में त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ माना है। इसी को मोक्ष कहते हैं।

सांख्यदर्शन में सब का मूल प्रकृति को माना है। उसका कोई मूल नहीं। वह किसी की विकृति नहीं। जैसा कि सांख्यकारिका

तथा सांख्यदर्शन में कहा है। "मूलप्रकृतिरविकृतिः ।" सांख्य का० ३। "मूलेमूलाभावादमूलंमूलम् ।" सां० द० १—६७ इस प्रकृति के विकार सप्त (१ महान्, २ अहंकार, ५ तन्मात्रा) प्रकृति और विकृति हैं। यथा—"महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।" सां० का० ३। क्योंकि मूल प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। अतएव वह मूल प्रकृति का विकार है। उस महान् से अहंकारादि उत्पन्न होते हैं। अतएव अहंकारादि की प्रकृति भी महान् है। अहंकार से दो प्रकार का सर्ग प्रवृत्त होता है। एकादश इन्द्रियां और पञ्चतन्मात्रा इस प्रकार अहंकार पञ्चतन्मात्राओं और इन्द्रियों की प्रकृति है। महान् की विकृति है। एकादश इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत, ये षोडश (१६) विकार ही हैं। किसी की प्रकृति नहीं हैं। "षोडशकस्तु विकारः।" सां० का० ३।" पुरुष न प्रकृति है न विकृति है। "नप्रकृतिर्नविकृतिपुरुषः ।" इस प्रकार सांख्यदर्शन सिद्धान्त में २५ पञ्चविंशति ही तत्व माने गये हैं। इनकी सिद्धि के लिये प्रमाण तीन ही माना है। जैसा कि सांख्यकारिका में उल्लेख है। "दृष्टानुमानमाप्तवचनं च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" ॥४॥ सांख्यदर्शन सूत्र में भी तीन प्रकार का ही प्रमाण माना है "द्वयोरेकतरस्यवा-सन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमातत्साधकतमं यत्त त्रिविधं प्रमाणम् ।" बुद्धि और पुरुष या दोनों में एक के अनधिगत अर्थ के अवधारण को प्रमा कहते हैं। उस प्रमा का जो साधकतम है। वह तीन प्रकार का प्रमाण है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, सम्बद्ध वस्तु के आकार को धारण करने वाली बुद्धिवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। "प्रतिविषयाध्यवसायोदृष्टम् ॥" अर्थ सन्निकृष्ट इन्द्रिय में जो अध्यवसाय है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमान और शब्द का लक्षण न्यायदर्शन के समान ही है। सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष के संग से

संसार की उत्पत्ति मानी गई है। वह संग अविवेक से होता है। विवेक होने पर प्रकृति और पुरुष के संग की निवृत्ति हो जाती है। पुरुष मुक्त होजाता है। वास्तव में पुरुष मुक्त ही है। किन्तु अनादि अविवेक के कारण बँधा हुआ है। पुरुष में स्वाभाविक बन्धन नहीं है। यदि स्वभाव से बन्धन पुरुष में हो तो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी मुक्ति का उपदेश भी निरर्थक होजाय। जैसे अग्नि में दाहक शक्ति है। उसकी निवृत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि शास्त्र के उपदेश से स्वाभाविक बन्धन की भी निवृत्ति हो जायगी तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र अशक्य को शक्य नहीं करता। शास्त्र तो वास्तविक वस्तु का ज्ञान कराता है। शास्त्र प्रमाण से तो पुरुष असङ्ग ही सिद्ध होता है। "असङ्गोऽयं पुरुषः" इत्यादि अनेक शास्त्र वचन पुरुष की असङ्गता सिद्ध करते हैं। यदि कहाजाय कि जैसे शुक्लपट और वीज की स्वाभाविकता की निवृत्ति हो जाती है। वैसे ही पुरुष का स्वाभाविकबन्धन भी निवृत्त हो जायगा। अर्थात् शुक्लपट को रङ्ग देने से शुक्लता नहीं रहती। ऐसे ही ईश्वर के ध्यानादि से पुरुष में मुक्ति का रङ्ग चढ़ जाने पर बन्धन दूर हो जायगा। और जैसे वीज की स्वाभाविक अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति भी अग्नि से नष्ट हो जाती है। ऐसे ही ज्ञान रूप अग्नि से बन्धन भी नष्ट हो जायगा। किन्तु यह उपरोक्त दृष्टान्त उचित नहीं है। क्योंकि उसमें भी शक्ति का आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है आत्यन्तिकनिवृत्ति नहीं होती। रजक के रँगने से वस्त्र का शुक्ल रंग परिवर्तित (बदल) हो जाता है। पुनः रजक के धो देने से पूर्ववत् शुक्ल हो जाता है। ऐसे ही वीज भी अग्नि के द्वारा शक्ति के प्रतिवद्ध होने पर अंकुरोत्पन्न नहीं करता। किन्तु योगी के संकल्प से भुने हुए वीज से भी अंकुर उत्पन्न होजाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि स्वाभाविक बन्धन की आत्यन्तिक निवृति नहीं होती। देश,

काल, अवस्था आदि निमित्त से भी पुरुष बद्ध नहीं होता। क्योंकि यदि देशादि निमित्त से बन्धन माना जाय, तो किसी को भी मुक्ति न हो। क्योंकि सर्वत्र विद्यमान होने से देशादि के सम्बन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता। कर्म से भी पुरुष को बन्धन नहीं होता क्योंकि कर्म अन्य का धर्म है। अर्थात् कर्म का कर्ता पुरुष नहीं, तो उससे बन्धन कैसे प्राप्त हो सकता है। यदि पुरुष को कर्ता माना जाय तो भी मुक्ति नहीं होगी। क्योंकि पुरुष के कर्तृत्व की निवृत्ति न होने से बन्धन की निवृत्ति कैसे होगी।

इस प्रकार अनेक युक्तियों से पुरुष के बन्धन का खण्डन किया है। वास्तव में अविवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष का संग होता है। उसी से बन्धन की प्राप्ति होती है। वह अविवेक अनादि काल से है। अतएव बन्धन भी अनादिकाल से ही है। विवेक से बन्धन की निवृत्ति होती है। विवेक के अनन्तर बन्धन किसी में भी वास्तविक रूप से सिद्ध नहीं होता। अतएव बन्धन की निवृत्ति का उपाय विवेक ही है। जिस समय प्रकृति पुरुष का पूर्ण विवेक हो जाता है। उसी समय प्रकृति पुरुष को त्याग देती है। उस विवेक की प्राप्ति के लिये प्रथम शुभ कर्म करना चाहिए। उससे अन्तःकरण शुद्ध होता है। तब विवेक होता है। विवेक के अनन्तर वैराग्य होता है। विवेक—वैराग्य के दृढ़ होने पर ध्यान होता है। ध्यान की परिपक्वता होने पर चित्त समाधि अवस्था को प्राप्त करता है। चित्त के समाधिस्थ होने पर ही ज्ञान की दृढ़ता होती है उसी से त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर आत्यन्तिक पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

सांख्यदर्शनः सिद्धान्त में ईश्वर की उपासना का कोई महत्व नहीं। कुछ लोगों के मत से सांख्य दर्शन में ईश्वर माना ही नहीं गया है। जो सांख्यदर्शन वर्तमान समय में उपलब्ध है। उसमें

ईश्वर शब्द तो आता है। किन्तु वह ईश्वर की असिद्धि का सूचक है। यथा—**'ईश्वरासिद्धेः'** सां० सू० १।९२। प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते समय यह शङ्का उठाई गई कि ईश्वर के प्रत्यक्ष में यह लक्षण नहीं घटेगा। तब उसका समाधान किया गया कि ईश्वर सिद्ध ही नहीं होता, अतएव यह शङ्का नहीं होसकती। विज्ञानभिक्षु ने इसको प्रौढ़वाद माना है। यदि सांख्य दर्शन में ईश्वर को माना गया होता तो उसका कहीं न कहीं विवेचन किया गया होता। किन्तु सांख्य दर्शन में ईश्वर का कहीं विचार नहीं किया है। अतएव सांख्यदर्शनसिद्धान्त में ईश्वर की आवश्यकता नहीं। ईश्वरका खंडन भी इन सूत्रोंसे किया है **"प्रमाणाभावान्नतत्सिद्धिः।"** ५।१०। प्रमाण के अभाव से उस ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। **'सम्बन्धाभावान्नानुमानम्॥'** सां० सू० ५-११। सम्बन्ध के अभाव से ईश्वर का अनुमान भी नहीं कर सकते।

कारिका के मूल में तो ईश्वर की चर्चा ही नहीं है। किन्तु सांख्यतत्वकौमुदी में ईश्वरकारणत्व का निराकरण किया गया है। ५६ और ५७ कारिका की कौमुदी में देखना चाहिये।

सांख्य दर्शन सिद्धान्त में कार्य्यकारण सतरूप है। केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। कोई भी पदार्थ असत नहीं।

सांख्य दर्शन सदसत् ख्याति को मानता है। शुक्ति में जब रजत की प्रतीति होती है। तो **'इदं रजतम्'** यह रजत है ऐसा अनुभव होता है। इस स्थल में "इदं" का ज्ञान सत् है और "रजतम्" का ज्ञान असत् है। क्योंकि इदं ज्ञान का आश्रय चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय है। अतएव "सत्" है रजतज्ञान का आश्रय इन्द्रियों का अविषय है। तथा **'नेदं रजतम्'** यह रजत नहीं है। इस ज्ञान से वाधित भी है अतएव वह असत् भी है। इस प्रकार भ्रान्तिज्ञान

सदसत् रूप उभयविध पदार्थों पर आश्रित है। इसी को सदसत् ख्याति कहते हैं। इस प्रकार अनिरुद्ध मानते हैं।

विज्ञानभिक्षु का कथन है कि संसार के सभी पदार्थ नित्य हैं। अतएव स्वरूपतः उनका वाध नहीं होता किन्तु चैतन्य में आरोपित होने पर संसर्गतः वाध होता है, जैसे बाजार में बणिक की दूकान पर रजत सतरूप है। किन्तु शुक्ति में अध्यस्त रजत असत् है।

सांख्य दर्शन में पुरुषों को चेतन तथा नाना माना है। जिस पुरुष को ज्ञान होता है उसकी मुक्ति होती है सांख्य दर्शन के सिद्धान्त में सत्व–रज–तम भेद से जगत की विलक्षणता मानी गयी है। सत्व का स्वभाव प्रकाश रूप है, रज का क्रियारूप, तम का स्थिर स्वभाव है यह समस्त प्रपञ्च सत्वरजतमोगुणात्मक प्रकृति का विकास है। वर्तमान समय के कुछ विकासवादी भी इसी प्रकार से स्वीकार करते हैं। अतएव इसी को यन्त्रवाद का नाम भी दिया जाता है। कुछ लोगों का कथन है कि सांख्य दर्शन में विश्व प्रक्रिया की पूर्णरूप से व्याख्या है। तथा वैज्ञानिक दृष्टि से भी यही पूर्ण महत्वरूप से सर्वश्रेष्ठ भारतीय व्याख्या है। कुछ लोगों का कथन है कि यूरुप के आधुनिक दर्शनकारों ने ही विश्व की पूर्ण व्याख्या की है। किन्तु यह कथन भ्रम युक्त है क्योंकि विश्व की व्याख्या पूर्णरूप से कोई करही नहीं सकता। आज भी विश्व क्या है, कितना है। इस विषय में वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों में गम्भीर मतभेद है और आगे भी यह मतभेद निवृत्त होने की सम्भावना नहीं। अतएव भारतीय दर्शनकार अपेक्षित विश्व की ही व्याख्या करते हैं। उनके मत में विश्व ही सब कुछ नहीं है। इस विश्व के परे भी कोई तत्व है। बिना उसके साक्षात्कार किये पूर्णशांति और सुख प्राप्त नहीं हो सकता। विश्व के ज्ञान के लिये जितना ही

अधिक प्रयत्न किया जायगा। उतनी ही अशान्ति बढ़ती जायगी। अतएव जितना ज्ञान अपेक्षित हो, उतना ही ज्ञान प्राप्त कर विश्व से परे तत्वज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिये। उस परतत्व के ज्ञान होने पर अन्य किसी के ज्ञान की इच्छा ही नहीं रहेगी अतएव समस्त भारतीय दर्शन न्याय–वैशेषिक–सांख्य आदि तत्वज्ञान का उपाय बतलाते हैं। सभी दर्शनों की उपयोगिता उसी ज्ञान में है। सभी दर्शनकार कैवल्यमुक्ति को मानते हैं संसार के विषय से वैराग्य करने के लिये सभी का उपदेश है। सभी चित्तवृत्ति निरोधपूर्वक आत्म साक्षात्कार से ही आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति मानते हैं। अतएव पश्चिमी दार्शनिकों के दृष्टिकोण से भारतीय दार्शनिकों का दृष्टिकोण बहुत ही ऊँचा है। सांख्य तथा योगदर्शन के सिद्धान्त प्राय: एक से हैं। अतएव ज्ञान की प्राप्ति का साधन योगदर्शन में ही विस्तार से वर्णन करेंगे और सांख्य दर्शन की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण भी योगदर्शन सिद्धान्त के द्वारा हो जायगा।

सांख्य में जीवनमुक्ति को स्वीकार किया गया है। जीवनमुक्त अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ संसार में व्यवहार करता है। किन्तु किसी कर्म से लिप्त नहीं होता है। इसको कर्म फल भोगना नहीं पड़ता केवल प्रारब्ध के वेग से शरीर का व्यापार होता है। जैसे कुलाल का चक्र एक बार घुमाने पर कुलाल के व्यापार के निवृत्त होने पर घूमा करता है। जैसा कि सांख्यकारिका में वर्णन हैं। **"सम्यग्ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनामकारणप्राप्तौ तिष्ठति संस्कार वशात्, चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः।"** सां० का०६७। सम्यक् ज्ञानके प्राप्त होने पर धर्मादिका अकारणत्व प्राप्त होने पर तत्वज्ञानी भी संस्कारवश से चक्र की भ्रमि के समान शरीर धारण किये स्थित रहता है और प्रारब्ध भोग के अनन्तर विदेहमुक्त हो जाता है। इसके अनन्तर योगदर्शन सिद्धान्त का वर्णन करेंगे। ॥ इति ॥

योगदर्शन सिद्धान्त

योगदर्शन पतञ्जलि ऋषि का बनाया है, पतञ्जलि ऋषि के भी जीवन चरित्र का ठीक २ पता नहीं लगता। योगदर्शन में योग के सम्पूर्ण साधनों का वर्णन किया गया है। अन्य दर्शनों में योग के अभ्यास का तो उपदेश किया है। किन्तु उसके साधन का पूर्ण वर्णन नहीं किया।

योगदर्शन प्रायः सभी दर्शनों से छोटा है। इसमें चार ही पाद हैं और १६४ सूत्र हैं। प्रथम पाद का नाम समाधि पाद, द्वितीय का साधन पाद, तृतीय का विभूति पाद, चतुर्थ का कैवल्य पाद नाम है।

प्रथम पाद में उत्तम अधिकारी के लिये समाधि का वर्णन किया है। इसका आरम्भ "अथयोगानुशासनम्।" इस सूत्र से होता है। अब योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं। यह इस सूत्र का अर्थ है। योग शब्द का अर्थ है समाधि। वह सार्वभौमचित्त का धर्म है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध, यह पांच चित्त की भूमियां हैं। अर्थात् यह चित्त की सहज अवस्थाएँ हैं। संस्कार वश जिस अवस्था में चित्त प्रायः स्थित होता है वही चित्त की भूमि है। जिस समय संस्कारप्रत्ययधर्मक चित्त, तत्व समाधान चिकीर्षा से रहित सदा अस्थिर हुआ भ्रमण करता है। उस समय इसको क्षिप्तभूमि होती है। जिस समय प्रबल रोगादि के वश भी चित्त अति मोह के वश हो जाता है। उस समय मूढ़भूमि होती है। क्षिप्त से विशिष्ट विक्षिप्त भूमि वाला चित्त होता है। उस अवस्था में कभी चित्त समाधान होता है और समाधान की चिकीर्षा तथा समाधान भी

"कभी नहीं"

देखा जाता है। किन्तु चित्त में स्वाभाविक चञ्चलता की विपुलता रहती है। अभीष्ट विषय में सदा ही स्थितशील चित्त की अवस्था एकाग्र भूमि है। दैत्यादि तथा धनमद से विभ्रान्त विषयी पुरुषों का चित्त क्षिप्त होता है। यक्ष, रक्ष, पिशाचादि तथा मादक द्रव्य से उन्मत्त पामर मनुष्यों का चित्त मूढ़ होता है। देवताओं का तथा प्रथम भूमिका में आरुढ़ जिज्ञासु का चित्त विक्षिप्त होता है। योगी का चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है।

जिस समय सभी वृत्तियां रुक जाती हैं, वह निरुद्ध अवस्था है। अथवा रजोगुण के कारण विषयों में ही विचरने वाला चित्त क्षिप्त कहा जाता है। तमोगुण के कारण निद्रा आदि वृत्तियुक्त चित्त मूढ़ कहा जाता है। सत्व की अधिकता से समाहित होता भी बीच २ में रजोगुण की मात्रा से अन्य विषयों की ओर कभी २ दौड़ जाता है। उसको विक्षिप्त कहते है। विक्षिप्त भूमि वाले चित्त का समाधान उपद्रव सहित होता है। ऐसा साधक जिस समय विक्षेप से अभिभूत होता है। उस समय तत्वज्ञान रहित प्रमत्त हुआ अन्यथा आचरण करता है। अतएव क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त की समाधि योग पक्ष में नहीं होती। विशुद्ध सत्व गुण के कारण एक ही विषय में जब चित्त अधिक देर तक ठहरता है। तब उसको एकाग्र कहते हैं। एकाग्र भूमिका वाले चित्त में जो समाधि होती है वह पारमार्थिक तत्व का प्रकाशन करती है। क्लेश को क्षीण करती है, कर्म के बन्धन को ढीला करती है। सर्ववृत्ति निरोध के अभिमुख करती है। यही संप्रज्ञात योग है। इसके भेद को आगे कहेंगे। सर्ववृत्तियों के निरोध होने पर असंप्रज्ञात नाम की समाधि होती है, चित्त की वृत्तियों के निरोध का ही नाम योग है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" सत्वरज तमोगुण के कारण चित्त का स्वभाव भी तीन प्रकार का होता है। जिस समय सत्वगुण की वृद्धि होती है रज और तम क्षीण होजाते हैं।

उस समय धर्मज्ञान, वैराग्य और विभूति से युक्तचित्त होता है। रजोगुण की वृद्धि होने पर लौकिक प्रभुता और शब्दादि विषय की प्रियता चित्त में होती है। तमोगुण के बढ़ने पर अधर्म, अवैराग्य, अनैश्वर्य्य वाला चित्त होता है। जिस समय चित्त में रज और तमक का लेश भी नहीं रहता तो विशुद्ध सत्व का उदय होता है। उस समय स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, अर्थात विवेक की वृद्धि होती है। बुद्धि और पुरुष का विवेक हो जाता है उसी को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। चितिशक्ति परिणामरहित क्रियारहित समस्त दृश्य की प्रकाशिका शुद्ध और अनन्त है। उससे विपरीत विवेक ख्याति है। अतएव विवेक ख्याति का भी निरोध करना निर्बीज समाधि है। जब चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है। तब कोई विषय रहता नहीं। पुरुष विषयरूप आत्मबुद्धि का भी अभाव हो जाता है। तब आत्मबुद्धि का बोद्धा पुरुष का क्या स्वभाव होता है।

"तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम् ॥" १–३ ॥ उस समय द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है। यद्यपि चित्त की चञ्चलता में भी पुरुष अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता, क्योंकि वह सब परिणामों से रहित है। तब भी वैसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि व्युथान अवस्था में जैसी चित्त की वृत्ति होती है। वैसा ही पुरुष भी प्रतीत होता है। अतएव उन वृत्तियों का निरोध करना चाहिए। यद्यपि वृत्तियां अनन्त हैं, तथापि योग दर्शन में पांच प्रकार की ही मानी हैं। उन्हीं के अन्तर्गत समस्त वृत्तियां आजाती हैं। वह क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं। धर्म और अधर्म को उत्पन्न करने वाली क्लिष्ट कही जाती हैं। विवेक–वैराग्यादि के द्वारा जो विवेक की ओर प्रवृत्ति होने वाली हैं, वे अक्लिष्ट हैं। उन पांचों का

नाम इस सूत्र में है। प्रमाणविपर्ययविकल्प निद्रास्मृतयः। १–६ ॥ १ प्रमाण, २ विपर्यय, ३ विकल्प, ४ निद्रा ५ स्मृति। प्रमाण तीन हैं। १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ आगम। इन्द्रियों के द्वारा चित्त का बाह्यवस्तु में उपराग होने से वह बाह्य विषय के आकार वाला होता है। समान्य विशेष रूप जो विषय, उसके विशेष को अवधारण करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। तुल्यजातीय में अनुवृत्त, भिन्न जातीय से व्यावृत्त जो सम्बन्ध, उसको विषय करने वाली सामान्य अवधारण प्रधान वृत्ति अनुमान प्रमाण है। आप्तके द्वारा उपदेश किया अर्थ, आगम प्रमाण कहा जाता है।

ज्ञेय का जो यथार्थ रूप है उस रूप में जो प्रतिष्ठित नहीं है। उसको अतद्रूप प्रतिष्ठ कहते हैं। वही मिथ्या ज्ञान विपर्यय कहा जाता है। इसीको पञ्चपर्वाअविद्या कहते हैं। जिसका वर्णन आगे करेंगे।

वस्तु शून्य होने पर भी केवल शब्द ज्ञान माहात्म्य से होने वाला व्यवहार विकल्प कहा जाता है। यह विकल्प वस्तु शून्य होने से प्रमाणान्तर्गत नहीं तथा शब्द ज्ञान माहात्म्य निबन्धन व्यवहार होने से विपर्यय नहीं है। क्योंकि प्रमाण का विषय वास्तव है और विपर्यय को मिथ्या जान कर व्यवहार नहीं होता। विकल्प में व्यवहार होता है। जैसे चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। पुरुष निष्क्रिय है, बाण स्थित है, स्थित होगा, स्थित हुआ। यहां पर पुरुष और चैतन्य में भेद नहीं है। चैतन्य कह देने से पुरुष का बोध होता है तथा पुरुष कहने से चैतन्य का बोध होता है। चैतन्य पुरुष का विशेषण नहीं, न पुरुष विशेष है। तब भी लोक में व्यवहार होता है कि चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। तथा पुरुष स्वभाव से निष्क्रिय है, उसका निष्क्रिय कथन व्यवहार मात्र है। ऐसे ही

वाण स्थित है इत्यादि में धात्वर्थमात्र की प्राप्ति होती है। वाण स्वभाव से गति रहित है। इसमें गति की निवृत्ति कल्पित है। अभाव प्रत्यय का आलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है। जाग्रत और स्वप्न के तिरोभाव को अभाव कहते है। उसके कारण को प्रत्यय कहते हैं, वह तामस जड़ता रूप है। उसतम को विषय करने वाली वृत्ति निद्रा कही जाती है।

अनुभूत विषय के असम्प्रमोष को स्मृति कहते हैं। अर्थात जिन २ विषयों का जिस २ रूप में अनुभव किया है। उनको उन्हीं रूपों से मन में स्मरण रखना ही स्मृति है।

ये सभी वृत्तियां सुख, दुख, मोह रूप हैं। अतएव इनका निरोध करना चाहिए। इनके निरोध का ही नाम योग है।

इनके निरोध का उपाय अभ्यास और वैराग्य है। चित्त रूप नदी कल्याण और पाप दोनों ओर बहती है। जो चित्तनदी विवेक-विषयरूप निम्न मार्ग की ओर बहती है, वह कल्याण वहा है। जो अविवेक निम्न मार्ग वाहनी है, वह पाप वहा है। वैराग्य से विषयस्रोत अल्प कियाजाता है। विवेक दर्शन अभ्यास से संप्रवर्तित किया जाता है। अतएव अभ्यास और वैराग्य के आधीन विवेक ही चित्त वृत्ति निरोध का मुख्य उपाय है। वृत्ति रहित प्रशान्त वाहिता जो चित्त की स्थिति है, उस स्थिति की प्राप्ति के लिये वीर्य और उत्साहपूर्वक साधन–अनुष्ठान के यत्न को अभ्यास कहते हैं। वह अभ्यास दीर्घ काल तक किया जाय, निरन्तर किया जाय, तथा तप, ब्रह्मचर्य्य, विद्या, श्रद्धा से संपादित किया जाय, तो दृढ़ भूमि वाला होता है। अर्थात् व्युत्थान संस्कार से सहसा अभिभूत नहीं होता।

वह अभ्यास विना वैराग्य के दृढ़ नहीं होता। अतएव अब वैराग्य का वर्णन करते हैं। "दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।" १-१५। दृष्ट तथा श्रुत विषय में तृष्णा रहित को वशीकार नामक वैराग्य कहते हैं। इस लोक के स्त्री, अन्न-पान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं। स्वर्ग के विषय तथा प्रकृतिलयत्वादि श्रुत विषय हैं। दिव्य और अदिव्य विषयों के संप्रयोग होने पर भी भोग की इच्छा न होना ही उपरोक्त वैराग्य है। जिस समय पुरुष सत्व की उपलब्धि होने से सार्वज्ञ आदि निखिल गुण के कार्य में तृष्णा नहीं रहती, उस समय पर वैराग्य की प्राप्ति होती है। यहां पर वैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसी को कैवल्य कहते हैं। इसकी प्राप्ति होने पर पुनः कोई कर्तव्य नहीं रहता। अब संप्रज्ञात का वर्णन करते हैं।

"वितर्कविचारानन्दास्मितारूपाअनुगमात्स प्रज्ञातः।" १-१७॥ वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मिता के अनुगम से संप्रज्ञात समाधि होती है। चित्त के आलम्बन में स्थूल आभोग को वितर्क संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। षोडश विकार को स्थूल आभोग कहते हैं। इन किसी एक में चित्त का निरोध होना ही वितर्क है। इसके भी सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं। जिसका वर्णन आगे करेंगे। सूक्ष्म आभोग को विचार संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह भी सविचार-निर्विचार भेद से दो प्रकार की है। जिसको आगे कहेंगे। आह्लाद को आनन्द कहते हैं। एकात्मिका संवित् को अस्मिता कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे प्राथमिक धनुषधारी स्थूल लक्ष्य का ही बेधन करता है। इसी प्रकार प्राथमिक योगी स्थूल ही पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय का साक्षात्कार करता है। अनन्तर सूक्ष्म पञ्चतन्मात्रा लिंग-अलिंग विषय का साक्षात्कार

करता है। इस प्रकार ग्राह्य विषय के साक्षात्कार को कर, ग्रहण विषय के साक्षात्कार को करता है। इन्द्रियों के स्थूल आलंबन होने पर जो चित्त का आभोग है वह आह्लाद कहा जाता है। अर्थात् प्रकाशशील सत्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न इन्द्रियां भी सुख रूप ही हैं। क्योंकि सत्व ही सुख है। उन इन्द्रियों में आभोग आह्लाद है। अनन्तर ग्रहीता का साक्षात्कार होता है। इन्द्रियाँ—अस्मिता से उत्पन्न होती हैं। अतएव इन इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप अस्मिता है। वह ग्रहीता आत्मा के साथ बुद्धि की एकात्मिका सम्वित है। उसमें ग्रहीता का अन्तर्भाव होने से ग्रहीतृ विषयक संप्रज्ञात समाधि है। उनमें प्रथम चतुष्टय में अनुगत समाधि सवितर्क है, द्वितीय वितर्क विकल सविचार है। तृतीय बिचार विकल सानन्द है। चतुर्थ आनन्द विकल अस्मिता मात्र है। ये सभी सालम्बन समाधि हैं। जिस समय अभ्यास करने से सब आलम्बन का परित्याग होता है। उस समय असंप्रज्ञात समाधि होती है।

वह समाधि दो प्रकार की उपलब्ध होती है। भवप्रत्यय और उपाय प्रत्यय, विदेह और प्रकृतिलयों की समाधि भव प्रत्यय है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि प्रज्ञा पूर्वक योगियों की समाधि उपाय प्रत्यय है। श्रद्धा चित्त के सम्प्रसाद को कहते हैं। वह श्रद्धा कल्याण करने वाली माता के समान योगी की रक्षा करती है। श्रद्धायुक्त विवेकार्थी को वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्य से स्मृति होती है। स्मृति की उपस्थिति होने पर चित्त आकुलता रहित समाहित हो जाता है। समाहित चित्त में प्रज्ञा—विवेक उत्पन्न होता है। जिससे यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है। उसके अभ्यास से विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य से असंप्रज्ञात समाधि होती है। जितना ही अधिक तीव्रता के साथ समाधि के लिए उपाय किया जाता है। उतनी ही शीघ्रता से समाधि का लाभ होता है। जैसा अधिकारी होता है, वैसा

ही उसको लाभ होता है, उसमें अनेक जन्म का संस्कार सहायक होता है। अतएव घवड़ाना नहीं चाहिए। अधिक से अधिक तीव्रता के साथ प्रयत्न करना चाहिए, सफलता अवश्य मिलेगी। आजकल लोग थोड़े ही दिन के अभ्यास से समाधि प्राप्त करना चाहते हैं। इसी कारण कुछ दिन अभ्यास करने पर जब समाधि लाभ नहीं होता तब अभ्यास का परित्याग कर देते हैं और कहते हैं कि चित्त को समाहित नहीं किया जा सकता। परंतु ऐसे लोग योगशास्त्र का विचार नहीं करते। यदि योगशास्त्र का विचार करैं और उसके बताये हुये मार्ग पर अपने अधिकार के अनुसार आचरण करैं, तो एक दिन अवश्य समाधि का लाभ हो जाय इसमें किसी प्रकार का भी संदेह नहीं करना चाहिए।

अब समाधि के और भी कई उपाय बतलायेंगे। जो जिस उपाय को कर सके, वह उसी के द्वारा समाधि प्राप्ति का अभ्यास करै तो लाभ शीघ्र होगा। उन उपायों में ईश्वरप्रणिधान से अति शीघ्र समाधि लाभ होता है। जिस ईश्वर के प्रणिधान से अति शीघ्र समाधि का लाभ होता है। उसका लक्षण योग दर्शन में इस प्रकार कहा है। "**क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः**।"१-२४। अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, उनका फल, उन्हीं के अनुसार बासना, यद्यपि वे क्लेशादि सभी मन में बर्तमान रहते हैं। तथापि पुरुष में उपचारित होते हैं। क्योंकि वही पुरुष उनके फल का भोक्ता है। जैसे जय-पराजय योद्धाओं में बर्तमान हुए स्वामी में व्यपदिष्ट होते हैं। जो इन से अपरामृष्ट (रहित) है। वह विशेष पुरुष ईश्वर है। वह नित्य कैवल्य प्राप्त है। वह सब बन्धनों से मुक्त है। बन्धन तीन प्रकार के हैं १ प्राकृतिक, २ वैकृतिक, ३ दाक्षिण। प्रकृति में लीन होने वालों का प्राकृतिक बन्धन है। विदेह लय और भूत तन्मात्राओं के ध्यान करने वालों का वैकृतिक

बन्धन है। दक्षिणादि से निष्पाद्य कर्म करने वालों का दाक्षिण बन्धन है। इन तीन बन्धनों को काटकर जे कैवल्य प्राप्त हैं वे केवली कहे जाते हैं। ईश्वर का इन तीन बन्धनों के साथ सम्बन्ध न है, न हुआ, न होगा। जैसे मुक्त की पूर्वबन्धकोटि जानी जाती है और प्रकृति लय की उत्तरबन्ध कोटि जानी जाती है, ऐसी ईश्वर की कोई कोटि नहीं है। वह सदा मुक्त है। सदा ईश्वर है यदि कहा जाय कि जो ईश्वर की सर्वज्ञता युक्त बुद्धि रूप उपाधि के योग से नित्य उत्कर्ष है। वह सप्रमाण है या निष्प्रमाण है। यदि सप्रमाण माना जाय तो वह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम में कौन है। यदि प्रत्यक्ष माना जाय तो किसका प्रत्यक्ष। जीव या ईश्वर का, यदि जीव का तो अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ ईश्वर का प्रत्यक्ष कर नहीं सकता। यदि कर सकता है तो वह भी सर्वज्ञ ईश्वर के ही तुल्य होगा। यदि इष्टापत्ति है तो सिद्धान्त की हानि होगी। क्योंकि जीव को कोई भी वादी नित्य सर्वज्ञ मानता नहीं। यदि स्वयं ईश्वर अपना प्रत्यक्ष करता है तो उसको जीव जान नहीं सकता। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से उस ईश्वर के नित्य उत्कर्ष का ज्ञान हो नहीं सकता है। यदि कहा जाय अनुमान से तो अनुमान में हेतु की अपेक्षा होती है और हेतु में उदाहरण की साधर्म्यता होनी चाहिए। उदाहरण साध्य की साधर्म्यता की अपेक्षा करता है। साध्य ईश्वर की उत्कर्षता है। ईश्वर के समान उत्कर्षता संसार में कहीं देखी नहीं जाती। अतएव हेतु और दृष्टान्त के अभाव से अनुमान के द्वारा ईश्वर की उत्कर्षता सिद्ध नही होती यदि कहा जाय कि आगम से तो आगम भी आप्त के उपदेश को कहते हैं। आप्त यथार्थ वक्ता को कहते हैं। यथार्थ वक्ता वह है जिसने ठीक ठीक वस्तु का अनुभव किया हो। किन्तु ईश्वर के उत्कर्ष का अनुभव करने वाला कोई है नहीं। अतएव उसका कथन करने वाले आप्त के

अभाव से आगम प्रमाण से भी ईश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि ईश्वर द्वारा निर्मित शास्त्र ही इसमें प्रमाण है। तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। अर्थात् ईश्वर की उत्कर्षता की सिद्धि के विना शास्त्र की सिद्धि नहीं और शास्त्र के बिना ईश्वर की उत्कर्षता सिद्ध नहीं होती। अतएव इस दोष को दूर करने के लिये, योगदर्शन सिद्धान्त में ईश्वर के चित्त में शास्त्र और उत्कर्षता का अनादि सम्बन्ध माना है। अतएव शास्त्र के द्वारा ही ईश्वर के उत्कर्ष का बोध होता है इसी कारण वह सदा ईश्वर है, सदा मुक्त है। उसके समान या उससे अधिक कोई अन्य नहीं। अतएव जहाँ ऐश्वर्य की समाप्ति है वही ईश्वर है, वही सर्वज्ञ है। उससे बढ़कर कोई सर्वज्ञ नहीं। उसका काल से नाश नहीं होता। अतएव वह पूर्वजों का भी गुरु है, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में मानव-कल्याण के लिये ऋषियों को अनादि सिद्ध वेद का सदा उपदेश करता है। उस ईश्वर का वाचक प्रणव है। उस प्रणव और वाच्य ईश्वर का अनादि सिद्ध सम्बन्ध है, अर्थात् प्रणव शब्द से ईश्वर का ही बोध होता है। प्रणव ओंकार को कहते हैं। जिसने वाच्य-वाचक सम्बन्ध को जान लिया, वह योगी प्रणव का जप करता हुआ ईश्वर की भावना करता है, भावना करने से चित्त एकाग्र हो जाता है। जिससे ईश्वर की कृपा होती है। ईश्वर की कृपा से समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। अतएव चित्त समाहित हो जाता है। चित्त के समाहित होने पर आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। तथा व्याधि आदि अन्तरायों का अभाव भी होजाता है। वह अन्तराय नव प्रकार के हैं। जैसा कि इस सूत्र में वर्णन है। "व्याधिस्त्यान-संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थि-तत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥" १-३० ॥ १ व्याधि,

२ स्त्यान, ३ संशय, ४ प्रमाद, ५ आलस्य, ६ अविरति, ७ भ्रान्तिदर्शन, ८ अलब्धभूमिकत्व, ९ अनवस्थित्व।

शरीर के धारक वात, पित्त, कफ, आहार के परिणाम स्वरूप रस, चक्षु, मन आदि इन्द्रियों की विषमता को व्याधि कहते हैं, चित्त की योगानुष्ठान में क्षमता न होना स्त्यान है। गुरु और शास्त्र से कहा गया ज्ञान और उसका साधन, ऐसा ही यह है या ऐसा नहीं है इस प्रकार के उभयकोटि ज्ञान को संशय कहते हैं। समाधि की साधना की भावना न करना प्रमाद है। कफ आदि से शरीर का गुरुत्व और तामस चित्त की गुरुता से योग साधन में प्रवृत्ति न होना आलस्य है। विषय के सन्निकर्ष से चित्त में उसकी प्राप्ति की इच्छा को अविरति कहते हैं। गुरु आदि के द्वारा प्रमाणित अर्थ से विपरीत निश्चय को भ्रान्ति कहते हैं। मधुमति आदि भूमि में किसी भी भूमि का लाभ न होना, अलब्धभूमिकत्व है। भूमि के लाभ होने पर भी चित्त की प्रतिष्ठा न होना अनवस्थितत्व है। यह नव चित्त के विक्षेप योग के मल हैं। यही योग के प्रतिपक्ष और अन्तराय तथा आध्यात्मिक, आधि भौतिक, आधि दैविक दुःख कहे जाते हैं। क्योंकि जिनसे अभिहत हुआ प्राणी, उनके नाश के लिये प्रयत्न करता है। अतएव उन्हीं को दुःख कहते हैं। इच्छा के अभिघात से चित्त के क्षोभ को दौर्मनस्य कहते हैं। जो शरीर का कम्पन है। वह अङ्गमेजयत्व है। शीघ्रता से श्वास बाहर आना और भीतर जाना, श्वास प्रश्वास है, ये सब विक्षिप्त चित्त वाले को होते हैं। समाहित चित्त वाले को नहीं होते हैं। इस चित्त के विक्षेप को अभ्यास और वैराग्य से निरोध करना चाहिए। इसके लिये एक तत्व में चित्त को समाहित करने का अभ्यास करै। किन्तु जब तक चित्त मलिन है, तब तक किसी एक स्थान में स्थित नहीं

होता। अतएव उस मलिनता को दूर करने के लिये मैत्री आदि की भावना करै। जैसा कि योग सूत्र में कहा है, **मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥" १-३३ ।**

सुख संभोग को प्राप्त सब प्राणियों के साथ मैत्री की भावना करै, दुःखित प्रणियों के साथ करुणा की भावना करै। पुण्यात्मा प्राणी में मुदिता की भावना करै और अपुण्यात्मा प्राणी की उपेक्षा करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि यदि सभी सुख सम्पन्न प्राणियों में मैत्री की भावना की जाय तो जैसे अपने मित्र को सुखी देखकर मन में सुख होता है, वैसे ही शत्रु के सुख से भी सुख होगा। क्योंकि उस भावना से शत्रु भी मित्र हो जायगा। तब मात्सर्य्य (डाह), ईर्ष्या, द्वेष आदि मनके दोष नष्ट हो जायेंगे। दुःखी प्राणियों में करुणा की भावना से सबके दुःख दूर करने की इच्छा होगी। पिशुनता, निर्दयता आदि दोष दूर हो जायेंगे। ऐसे ही पुण्य कर्म करने वाले सभी प्राणियों के पुण्य कर्म को देखकर मुदिता की भावना करने से प्रसन्नता होगी। पापी प्राणी के आचरण की उपेक्षा करै, क्योंकि उससे मैत्री करने पर भी हानि होगी। तथा द्वेष करने से भी हानि होगी। अतएव योगाभ्यासी को उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। राजा का कर्तव्य है कि उसको दण्ड दे। प्रेम से समझाने पर मी पापी नहीं समझता। द्वेष करने पर उसकी चिन्ता होगी। जिसकी चिन्ता होती है उसके गुण और दोष चिन्ता करने वाले में भी आजाते हैं। अतएव पापियों की उपेक्षा करनी ही उत्तमता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि किसी को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश न दिया जाय। किन्तु जहां तक अपनी शक्ति हो वहां तक पापी मनुष्य को भी सदाचारी बनाने का प्रयत्न करै। उससे

राग-द्वेष न करैं। उपरोक्त मैत्री आदि भावनाओं से जब चित्त निर्मल हो जाता है। तब अति शीघ्र समाहित होता है। जिसका चित्त अधिक चञ्चल है उसको प्राणायाम के द्वारा चित्त को वश में करना चाहिए। परन्तु प्राणायाम अभ्यासी गुरु के द्वारा ही सीखना चाहिए। प्राणायाम का वर्णन आगे करेंगे।

मन को एकाग्र करने के कुछ और सरल साधन बतलाते हैं।

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसःस्थितिं निबन्धनी।"-१-३५॥

विषयवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थिति को निबन्धन करती है। जैसे नासिका के अग्रभाग में धारण करने वाले को दिव्य गन्ध की संवित् (ज्ञान) होती है। वह गन्ध प्रवृत्ति है। ऐसे ही जिह्वा के अग्र में रससंवित्, तालु में रूपसंवित्, जिह्वा मध्य में स्पर्शसंवित्, जिह्वा मूल में शब्दसंवित्, ये सब प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त की स्थिति को बाँधती हैं, अर्थात् संशय को नाश करती हैं। समाधि प्रज्ञा का द्वार होती हैं। इसीसे चन्द्र, आदित्य, ग्रह, मणि, प्रदीप, रत्न आदि में उत्पन्न प्रवृत्ति विषय वाली ही होती है, ऐसा जानना चाहिए। यद्यपि उन शास्त्र-अनुमान और आचार्य्य के उपदेशों से अवगत अर्थतत्व सत्य ही है। क्योंकि उनमें यथाभूतार्थ प्रतिपादन की शक्ति है। तथापि (तब भी) जब तक कोई एक देश भी अपनी इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता। तब तक वह सब परोक्ष की नाईं होता है। अपवर्ग आदि सूक्ष्म विषय में दृढ़ बुद्धि नहीं उत्पन्न कराता है। अतएव शास्त्र अनुमान और आचार्य्य के उपदेशों को दृढ़ करने के लिये किसी विशेष का प्रत्यक्ष करना चाहिए। उसमें उनसे उपदिष्ट अर्थ के एक देश के प्रत्यक्ष होने पर सुसूक्ष्म विषय अपवर्गादि में भी श्रद्धा उत्पन्न होती है। अथवा शोक रहित ज्योतिष्मतीं प्रवृत्ति उत्पन्न हुई चित्त की स्थिति को बांधती है।

"वीतराग विषयं वा चित्तम् ॥" १–३७ ॥ अथवा वीतराग चित्त का आलम्बन करने से योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है। **"स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनंवा ॥"** १–३८ ॥ स्वप्नज्ञान का आलम्बन अथवा निद्राज्ञान का आलम्बन करता हुआ चित्त तदाकार होजाता है उससे भी स्थिति पद को प्राप्त होता है। **"यथाभिमतध्यानाद्वा ॥"** १–३९ ॥ अथवा अपने को जैसा अभिमत हो उसका ध्यान करने से चित्त एकाग्र होता है। यदि एक अभिमत वस्तु में चित्त स्थित हो जाय तो अन्यत्र भी स्थिति पद को प्राप्त करता है। **"परमाणु परम महत्वान्तोऽस्यवशीकारः ॥"** १–४० ॥ सूक्ष्म में प्रवेश करता हुआ परमाणु तक स्थिति पद को प्राप्त करता है। स्थूल में प्रवेश करता हुआ परम महत्व तक स्थिति पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार उभय कोटि को दौड़ने वाले इस चित्त का जो अप्रतिघात है, वह परवशीकार है। उस वशीकार से परिपूर्ण योगी का चित्त पुनः अभ्यासकृत परिकर्म की अपेक्षा नहीं करता।

लब्ध स्थिति के चित्त का क्या स्वरूप है, क्या विषय है अथवा क्या समापत्ति है। उसको कहते हैं। **"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जता समापत्तिः ॥"** १–४१ ॥ जिस समय चित्त की वृत्ति क्षीण हो जाती है। उस समय चित्त निर्मल मणि के समान स्वच्छ हो जाता है। अतएव जैसे स्फटिक जिस जिस उपाधि से संयुक्त होता है, वैसा ही रक्त पीत नीलादि रूप का प्रतीत होता है, तैसे ही शुद्ध चित्त जिस स्थूल–सूक्ष्म ग्राह्य विषय के साथ सम्पन्न होता है, वैसा ही प्रतीत होता है। यदि ग्रहण (इन्द्रिय) से सम्पन्न हुआ तो ग्रहणाकार प्रतीत होता है। यदि ग्रहीतृ (पुरुष) के साथ सम्पन्न हुआ तो पुरुषाकार प्रतीत होता है। यदि मुक्त पुरुष के आलम्बन से उपरक्त हुआ तो मुक्त पुरुष से

सम्पन्न हुआ मुक्त पुरुषाकार प्रतीत होता है। इस प्रकार स्फटिकमणि के समान चित्त का ग्रहीतृ–ग्रहण–ग्राह्य (पुरुष–इन्द्रिय–भूत) में जो तदाकारापत्ति है वह समापत्ति कही जाती है।

वह समापत्ति विषय और प्रकृति के भेद से चार प्रकार की है १सवितर्क, २ निर्वितर्क, ३ सविचार, ४ निर्विचार, अतएव स्थूल विषयक समापत्ति सवितर्क और निर्वितर्क रूप होती है। उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान विकल्प से संकीर्णासवितर्क समापत्ति होती है।वह जैसे

"शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।" १–४२॥

गो शब्द कर्ण से ग्राह्य है, वाक् इन्द्रिय में स्थित है, गो यह अर्थ चक्षु और त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य है। गोशाला में स्थित है। गो यह ज्ञान चित्त में स्थित है। विभक्तों का भी अविभाग से गो यह ज्ञान देखा जाता है। विभाग करने पर शब्द के धर्म अन्य हैं, अर्थ के अन्य हैं। विज्ञान के धर्म अन्य हैं। इस प्रकार इनका विभक्त मार्ग है। किन्तु शब्द, अर्थ और ज्ञान से मिश्र सविकल्प विषय में समापन्न योगी का जो गो आदि अर्थ, समाधि प्रज्ञा में आरुढ़, यदि वह शब्द अर्थ-ज्ञान विकल्प से अनुविद्ध भाषा की सहायता से प्रतीत होता है, तो वह संकीर्णा समापत्ति सवितर्क कही जाती है। जिस समय पुनः शब्द सङ्केत की स्मृति का अपनय होता है, श्रुत अनुमानज्ञान विकल्प से शून्य समाधि प्रज्ञा में स्वरूप मात्र से अवस्थित अर्थ उसके स्वरूपाकार मात्रता से ही अवच्छेद्य होता है, वह निर्वितर्कासमापत्ति है, वह पर प्रत्यक्ष है। वह श्रुत और अनुमान का बीज है। उससे श्रुत और अनुमान होते हैं। वह श्रुत और अनुमान के साथ होने वाला दर्शन नहीं है। अतएव योगी का निर्वितर्क समाधि से उत्पन्न दर्शन अन्य प्रमाण से असंकीर्ण है। इस निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण इस सूत्र में है।

'स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'' ॥ १-४३ ॥

शब्द अर्थ ज्ञान विकल्प के अपगम होने पर जो स्वरूप शून्य की तरह है अतएव अर्थमात्र निर्भास अन्तःस्थिति है। वह निर्वितर्क समापत्ति है। इसी प्रकार सूक्ष्म विषय की समापत्ति भी जाननी चाहिए, अर्थात् देश, काल, अनुभव से अवच्छिन्न अभिव्यक्तधर्मक सूक्ष्म भूतों में जो समापत्ति होती है, वह सविचार कही जाती है। वहां भी एक बुद्धि निर्ग्राह्य ही उदित धर्म विशिष्ट भूत सूक्ष्म आलम्वनी भूत समाधि प्रज्ञा में उपस्थित होती है। जो पुनः सर्व प्रकार से शान्त उदित अव्यपदेश्य धर्म से अनवच्छिन्न सर्व धर्मानुपाति सर्वधर्मात्मक समापत्ति होती है। वह निर्विचार कही जाती है। अभिप्राय यह है कि सवितर्क के समान शब्द और अर्थ के ज्ञान से संकीर्ण सूक्ष्म पदार्थ विषयक समापत्ति सविचार होती है। शब्दादि से रहित समापत्ति निर्विचार होती है। तन्मात्रा से लेकर प्रधान तक सूक्ष्म विषय होता है। उसीका नाम सवीजसमाधि है। जिस समय निर्विचार समापत्ति होती है। उस समय रज-तम से रहित बुद्धि स्वच्छ हो जाती है। उसमें वास्तविक तत्व का साक्षात्कार होता है। अतएव उस बुद्धि का नाम ऋतम्भरा है, जैसा कि सूत्र है, "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥" १-४८ ॥ समाहित चित्त की जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसकी ऋतम्भरा संज्ञा होती है। वह संज्ञा अन्वर्थ है सत्य को ही धारण करती है उसमें विपर्य्यास (असत्य का गन्ध भी) नहीं होता। जैसा कि कहा है, "आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधाप्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥" वेद-अनुमान और ध्यान के अभ्यास में जो आदर उससे तीन प्रकार की बुद्धि की कल्पना करते हुए उत्तम योग को प्राप्त करता है। वह पुनः "श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥" १-४९ ॥

श्रुत और अनुमान से जो ज्ञान होता है। उससे अन्य विषय को ग्रहण करने वाली योगी की प्रज्ञा होती है। आगम से जो ज्ञान होता है, उसको श्रुत कहते हैं। वह ज्ञान सामान्य विषयक होता है आगम से विशेषका कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द का विशेष के साथ में संकेत नहीं किया गया है। ऐसे ही अनुमान भी सामान्य का ही ज्ञान कराता है। जहां प्राप्ति है वहीं अनुमान की गति है। जहां प्राप्ति नहीं वहां अनुमान की गति नहीं। अतएव अनुमान से सामान्य का ही ज्ञान होता है। सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तु का लोकप्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता। बिना प्रमाण के सिद्ध विशेष का अभाव है, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समाधि प्रज्ञा से उसका ग्रहण होता है। वह विशेष भूतसूक्ष्मगत वा पुरुषगत हो, अतएव श्रुत और अनुमान से उत्पन्न हुई प्रज्ञा से अन्य को विषय करने वाली वह प्रज्ञा होती है।

निर्विचार समाधि के उत्कर्ष से उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा के लाभ होने पर जो उस समाधि से जन्य संस्कार है वह नवीन २ उत्पन्न होता है। समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थान संस्कार का बाध करता है। उस के निरोध होने पर सबके निरोध से निर्वीज समाधि होती है। जैसा कि सूत्र है **"तस्यापिनिरोधे सर्व निरोधान्निर्वीजःसमाधिः ॥"** १—५१ ॥ इस प्रकार योग दर्शन के प्रथम समाधि पाद का संक्षिप्त भाव वर्णन किया। इसमें समाहित चित्त के लिये योगाभ्यास कहा गया है। जिनका चित्त अधिक चञ्चल है, उनके लिये साधन पाद में साधन बतलायेंगे।

साधनपाद

चञ्चल चित्त वालों को तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग करना चाहिए। जैसा कि सूत्र में कहा है। "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगः।" २-१। शास्त्र विहित कृच्छ्रचान्द्रायणादि, आसन, प्राणायाम आदि को तप कहते हैं। वानप्रस्थ आश्रम में तप का विधान है। किन्तु जितनी शक्ति हो उतना ही तप करना चाहिए, जिससे शरीर की धातु में विषमता न हो, चित्त निर्मल और दोष दूर हो। बिना तप के योग नहीं सिद्ध होता। क्योंकि अनादि कर्मक्लेश की वासना से वासित चित्त विचित्र विषयजाल से युक्त अशुद्ध होता है। वह अशुद्धि बिना तप के नहीं दूर होती। अतएव तप करना चाहिए। शास्त्र विहित तप करने से पाप क्षय होता है। पाप क्षय के अनन्तर विवेक और वैराग्य होता है। तभी समाधि का अभ्यास होता है। प्रणवादि पवित्र मन्त्र के जप को अथवा मोक्षशास्त्र के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं। प्रणवादि मन्त्र के जप और शास्त्रों के अध्ययन से चित्त समाहित होता है। सब कर्मों को परम गुरु ईश्वर में अर्पण अथवा सब कर्मों के फल का परित्याग करना, ईश्वरप्रणिधान कहा जाता है। ईश्वरप्रणिधान से अति शीघ्र मन शान्त होता है। इस प्रकार क्रिया योग से समाधि की भावना होती है और क्लेश क्षीण होते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, पांच क्लेश हैं। यथा योग सूत्र है "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः। २—३।" प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदाररूप जो अस्मितादि क्लेश हैं। उनकी उत्पत्ति का क्षेत्र अविद्या है, यदि अविद्या दूर होजाय तो सभी क्लेश दूर हो जायं। चित्त में शक्ति-मात्र से प्रतिष्ठ बीजभाव को प्राप्त क्लेश प्रसुप्त कहे जाते हैं। जैसे

तत्व में लीन या विदेह भाव को प्राप्त होने वालों के क्लेश प्रसुप्त होते हैं। क्योंकि कालान्तर में पुनः अंकुरित हो जाते हैं। योगियों के क्लेशतनु, दग्ध बीज के समान होते हैं। उनसे पुनः अंकुर नहीं उत्पन्न होता। विच्छिन्न और उदार क्लेश विषयी पुरुषों के होते हैं। कभी किसी में राग होता है किसी से वैराग्य होता है। एक स्थान में राग होने वाला है। एक में राग हो गया है। एक विषय में जो सदा वृत्ति रहती है, उसको उदार कहते हैं। ये सभी क्लेश अविद्या के ही भेद हैं। क्योंकि सभी अस्मितादिकों में अविद्या अन्वित रहती है। जो वस्तु अविद्या से विषय की जाती है, उसी वस्तु में क्लेश भी लब्ध वृत्ति होते हैं। अविद्या के क्षीण होने पर अन्य क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं।

"अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। २—५।" अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुःख में, सुख अनात्मा में आत्म बुद्धि को अविद्या कहते हैं। जो उत्पन्न होता है वह नित्य नहीं हो सकता। किन्तु अविद्या के कारण, पृथ्वी ध्रुव है, चन्द्रतारक के सहित द्युलोक ध्रुव है, देवलोक में रहने वाले अमर है, ऐसा कहा जाता है। परम अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, जैसे कहना कि यह स्त्री चन्द्रमा के समान मुख वाली है। मानो मधु अमृत के अवयव से रची गई है इत्यादि। समस्त संसार ही विवेकी को दुःख रूप है, किन्तु इस दुःख रूप संसार को सुख रूप समझना तथा शरीर, मन, बुद्धि आदि आत्मा नहीं है। किन्तु इन्हीं को आत्मा मान लेना अविद्या है "दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।" २—६॥ दृक् शक्ति पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि है। इन दोनों की जो एक स्वरूपापत्ति की भांति प्रतीत होना है, वह अस्मिता नामक क्लेश है। वास्तव में पुरुप और बुद्धि पृथक् २ हैं।

"सुखानुशयी रागः ।" २-७ । किसी वस्तु के सेवन से सुख हुआ पुनः उसीकी स्मृति से उसकी प्राप्ति का लोभ राग है ।

"दुःखानुशयीद्वेषः ।" २-८ । जिससे दुःख हुआ पुनः उसकी स्मृति होने पर दुःख या दुःख के साधन के प्रति जो क्रोध, उसके नाश की इच्छा, उसका नाम द्वेष है ।

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।" २-९ । मैं कभी मृत्यु को न प्राप्त हूँ, सदा जीवित रहूँ, इस प्रकार जो स्वभाव से मूर्ख और पण्डित में भाव प्रतीत होता है । उसका नाम अभिनिवेश है, ये क्लेश योगियों के चित्त में दग्ध बीज के समान स्थित रहते हैं । चित्त के लय होने पर उसीके साथ लय होजाते हैं । स्थूलक्लेशों को ध्यान के द्वारा दूर करना चाहिए । क्लेशमूलक कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्म वेदनीय हैं जैसा कि सूत्र है, "क्लेशमूलः कर्माशयोदृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥" २-१२ । पुण्य और अपुण्य कर्म के आशय (धर्म-अधर्म) काम, लोभ, मोह और क्रोध से उत्पन्न होते हैं काम से काम्यकर्म में प्रवृति होनेपर स्वर्गादि का हेतु धर्म होता है इसी प्रकार लोभ से परद्रव्य का हरण रूप अधर्म नरकादि का हेतु होता है और इसीप्रकार मोह से अधर्म रूप हिंसा आदि में धर्म बुद्धि से प्रवर्तमान को अधर्म ही होता है । मोह से धर्म नहीं उत्पन्न होता, क्रोध से कभी २ धर्म उत्पन्न होता है । जैसे पिता के अपमान से उत्पन्न क्रोध से ध्रुव के अनुष्ठान से धर्म उत्पन्न हुआ । तीव्रसंवेग से मन्त्र-तप-समाधि द्वारा संपादित अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि महानुभावों की आराधना से उत्पन्न धर्म तत्काल फल देता है । ऐसे ही तीव्रक्लेश से भीत-व्याधित-कृपण में, विश्वास प्राप्त होने वाले में, महानुभाव वा तपस्वी में, पुनः पुनः किया गया अपकार रूप पाप

तत्काल फल देता है। क्लेश रूपी मूल के रहने पर ही कर्म के संस्कार अपने फल का आरम्भ करते हैं। जन्म–आयु–भोग का कारण यदि पुण्य है, तो सुख रूप फल प्राप्त होता है। यदि पाप हेतु है तो दुःख रूप फल प्राप्त होता है। किन्तु विवेकी को संसार के सभी पदार्थ दुःख रूप ही प्रतीत होते हैं। अतएव संसार रूप दुःख दूर करने का ही सदा प्रयत्न करना चाहिए। जैसे चिकित्सा शास्त्र में चार व्यूह (रोग–रोगहेतु–आरोग्यता–औषधि) है। ऐसे ही संसार–संसारहेतु, मोक्ष–मोक्ष उपाय, योग शास्त्र के चार व्यूह हैं।

उसमें दुःख बहुल संसार ही हेय है, जो कि अभी प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि अतीत दुःख तो भोग चुके, वह हेय नहीं हो सकता वर्तमान भोग रहे हैं। अतएव यह भी हेय नहीं हो सकता। जो आने वाला दुःख है वही हेय है। द्रष्टा (पुरुष), दृश्य (प्रधान). का संयोग हेय (दुःख) का हेतु है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग की आत्यन्तिक निवृति ही हान (मोक्ष) है, उसका उपाय सम्यग्दर्शन है। उसमें हाता का स्वरूप न हेय है न उपादेय है। क्योंकि हेय में उसके उच्छेदवाद का प्रसङ्ग आता है, उपादान में हेतुवाद का। अतएव हानोपादान रहित शाश्वत्वाद ही सम्यग्दर्शन है। अब आगे दृश्य और द्रष्टा का वर्णन करेंगे।

"प्रकाश क्रिया स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थंदृश्यम् ॥" २-१८ ॥ प्रकाशशील, सत्वगुण, क्रियाशील, रजोगुण, स्थितिशील तमोगुण, पञ्चमहाभूत, और इन्द्रिय स्वरूप भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिए ही यह दृश्य है "द्रष्टा दृशिमात्रःशुद्धोऽपिप्रत्ययानुपश्यः।" १-२० । द्रष्टा दृशि मात्र है, शुद्ध भी प्रत्ययानुपश्य है। अभिप्राय यह है कि दृक्शक्ति सब का प्रकाश करने वाली है। वह लय और उदयधर्म से शून्य है वह पुरुष है, वह न तो

बुद्धि के सरूप है न अत्यन्त विरूप है। बुद्धि के सरूप इस कारण नहीं है कि बुद्धि ज्ञात और अज्ञात पदार्थों को विषय करती है। बुद्धि में परिणाम होता है, उसमें घटादि पदार्थ कभी ज्ञात होते हैं और कभी अज्ञात् होते हैं। यही ज्ञात-अज्ञात् रूप घटादि पदार्थ बुद्धि के परिणामित्व को दिखलाते हैं। ऐसा नहीं कि बुद्धि पुरुष विषय हो और गृहीत-अगृहीत भी हो बुद्धि सदा पुरुष द्वारा गृहीत होती है। अतएव पुरुष परिणाम से रहित है। बुद्धि परार्थ है, क्योंकि वह संहत्यकारी है। पुरुष स्वार्थ है, सबका द्रष्टा है, किसी अन्य के लिए नहीं है, अतएव बुद्धि के सरूप नहीं, और अत्यन्त विरूप भी नहीं क्योंकि वह शुद्ध (पुरुष) भी ज्ञानवृत्ति का प्रकाश करता है। अतएव बुद्ध्यात्मक न होने पर भी तदात्मक के समान प्रतीत होता है, जैसे कोई पुरुष राजा के सम्बन्ध से राज पुरुष होता है। तैसे ही पुरुष के उपदर्शन से सत्ता को प्राप्त बुद्धि भी पौरुषेयी होती है किसी प्रकार पुरुष के सदृश प्रतीत होती है और अनुभव भी की जाती है। मैं द्रष्टा हूँ, ज्ञाता हूँ, इस प्रकार अचेतन भी बुद्धि मैं अपने आपको जानती हूँ, ऐसा निश्चय करती है। इसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि में प्रति संक्रान्त के समान तथा बुद्धि की वृत्ति जैसी होती है उसी के समान प्रतीत होता है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं मूर्ख हूँ, इत्यादि अपने को समझने लगता है। यह समस्त दृश्य उसी द्रष्टारूप पुरुष के लिए है। इस दृश्य का स्वरूप पर रूप से प्रतिलब्ध स्वरूप भोग और अपवर्ग के अर्थ के करने पर पुरुष से नहीं देखा जाता। स्वरूप के हान से इसका नाश प्राप्त हुआ किन्तु नाश नहीं होता है, जैसा कि सूत्र है। "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य साधारणत्वात् ॥" २-२२॥ यह दृश्य एक कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट भी अनष्ट है। क्योंकि अन्य अकृतार्थ के प्रति साधारण है। द्रष्टा और दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु संयोग है, उस संयोग का

हेतु (कारण) अविद्या है। उस अविद्या के अभाव से बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव होता है, यही हान है। यही पुरुष का कैवल्य है, अर्थात् दुःख के कारण के निवृत्त होने पर दुःख का उपराम ही हान है। उसी समय पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होता है। विप्लव से रहित विवेकख्याति हान का उपाय है। बुद्धि और पुरुष पृथक् पृथक् हैं इस यथार्थ ज्ञान का नाम विवेक ख्याति है। जब तक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब तक विवेक ख्याति सविप्लव कही जाती है। मिथ्या ज्ञान का ही नाम विप्लव है। जब अभ्यास के द्वारा मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो जाता है। तब विप्लव रहित विवेकख्याति उत्पन्न होती है उससे दुःख का नाश होता है। अतएव वही हान का उपाय है। जिसको विवेकख्याति उत्पन्न हो गई है। उसकी सप्त प्रकार की बुद्धि होती है। इसी को ज्ञान की भूमिका कहते हैं यथा :—

१—हेय को सम्यक् प्रकार से जान लिया, पुनः परिज्ञेय नहीं है।

२—हेय के हेतु क्षीण हो गए पुनः इनका क्षेतव्य नहीं है।

३—निरोध समाधि से हान (कैवल्य) का साक्षात्कार कर लिया।

४—विवेक ख्यातिरूप हान (मोक्ष) के उपाय को निष्पन्न कर लिया यह चार भूमिका प्रयत्न से निष्पाद्य हैं। शेष तीन बिना प्रयत्न के स्वयम् उत्पन्न होती हैं।

५—हमारी बुद्धि निष्पन्नार्थ है, ऐसी उपलब्धि होना।

६—बुद्धि के गुण सुख–दुःख आदि अपने कारण में प्रलय के अभिमुख हैं, अपने कारण के सहित अस्त होगये हैं। इन प्रलीन होने वालों की पुनः उत्पत्ति नहीं होगी।

७—पुरुष गुणों के सम्बन्ध से परे है। स्वरूपमात्र ज्योति निर्मल केवली है। इस प्रकार सप्त भूमिका को प्राप्त पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है, इसीको गुणातीत भी कहते हैं।

विवेकख्याति हान का उपाय है, उसकी सिद्धि होगयी। किन्तु उसका साधन क्या है? यह नहीं बतलाया गया अतएव अब साधन बतलाते हैं। अष्टाङ्ग योग के अभ्यास से पञ्चपर्वा अविद्या का नाश होता है। उसके नाश होने पर विवेक का उदय होता है। जैसे २ साधन का अनुष्ठान किया जाता है। वैसे २ अशुद्धि का क्षय होता है। वैसे २ विवेक बढ़ता है। अतएव योगाङ्ग का अनुष्ठान ही अशुद्धि क्षय का कारण है वह योगाङ्ग इस प्रकार है "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।" २-२९। १ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान, और ८ समाधि, ये योग के आठ अङ्ग हैं।

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य्य, ५ अपरिग्रह, यह पांच प्रकार का यम है। सब प्रकार सदा सब भूतों से द्रोह न करना अहिंसा है। जितने यम-नियम कहे गये हैं उन सबका मूल अहिंसा है। जो हिंसक मनुष्य होता है, वह अन्य किसी यमादि का पालन नहीं कर सकता। यदि अहिंसा व्रत को धारण कर लिया जाय तो अन्य यमादि स्वतः सिद्ध होजाते हैं। वाणी और मन से यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं, अर्थात् जो मन में निश्चय किया है उसीको वाणी से कहना। जैसा देखा, जैसा सुना, जैसा अनुमान किया और जैसा मन में निश्चय किया है वैसा ही अन्य में स्वबोध को पहुँचाने के लिये, जो वाणी का प्रयोग किया जाता है वही सत्य है। यदि अन्य की वञ्चना के लिये, प्रयुक्त है या भ्रान्ति उत्पन्न करने के लिये या सत्य के आच्छादन के लिये प्रयुक्त है तो वह वाणी सत्य नहीं कही जाती। किन्तु यह यथार्थ भी वाणी भूतोपघात के लिये नहीं प्रयोग करना चाहिए। यदि उससेप्राणियों का

उपघात होता हैं तो वह सत्य नहीं, उससें पाप ही होता है। उस पुण्याभास से अतिकष्ट प्राप्त होता है। अतएव परीक्षा करके, जिससे सब भूतों का हित हो, ऐसा सत्य बोलै।

शास्त्र निषिद्ध द्रव्य का अन्य से स्वीकार करना स्तेय है। उसका निषेध पुन: अस्पृहारूप अस्तेय है। केवल चौर्य्य से विरति मात्र अस्तेय नहीं है। किन्तु अग्रहणीय विषय में अस्पृहा रूप है। चक्षु आदि इन्द्रिय जिसके सुरक्षित हैं। ऐसा स्मरण–कीर्तन आदि से संयमी के उपस्थ इन्द्रिय के संयम का नाम ब्रह्मचर्य्य है। विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा आदि दोषदर्शन से उनको स्वीकार न करना अपरिग्रह है। वे अहिंसा आदि योगियों के लिये सार्वभौम महाव्रत हैं। अभिप्राय यह है कि योगी उनका परित्याग किसी जाति, देश, काल में नहीं करता, जैसे मछली को मारने वाले मछली की ही हिंसा करते हैं, अन्य की नहीं, यह जात्यवच्छिन्न है। जैसे कोई कहता है कि मैं तीर्थ में हिंसा नहीं करूंगा। यह देशावच्छिन्न है। जैसे कोई कहता है चतुर्दशी या पुण्य दिन में हिंसा नहीं करूंगा। यह कालावच्छिन्न है। देश, जाति, काल से उपरत की समया-वच्छिन्न है। जैसे देव–ब्राह्मण के लिये हिंसा करूंगा, अन्य के लिये नहीं। क्षत्रिय की युद्ध में ही हिंसा विहित है अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार सत्यादि के विषय में भी जानना चाहिए उन सभी का पालन, जाति, देश, काल, समय से अनवच्छिन्न सब प्रकार से सब भूमि में व्यभिचार सें रहित करना चाहिए, इसीको सार्वभौम महावृत कहते हैं।

"शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" २-३२।

१ शौच, २ सन्तोष, ३ तप, ४ स्वाध्याय, ५ ईश्वरप्रणि-धान यह पांच नियम हैं॥ बाह्य और आभ्यन्तर भेद से शौच दो

प्रकार का होता है। मिट्टी जल आदि के द्वारा शरीर आदि को शुद्ध करना तथा पवित्र भोजन करना वाह्य शौच है। मद, मान, मात्सर्य्य, ईर्ष्या, असूया, काम, क्रोध आदि मलों को दूर करना आभ्यन्तर शौच है। प्राप्त विषय से अधिक की इच्छा न करना संतोष है। भूख, पिपासा, सर्दी, गर्मी आदि का सहना, निश्चल होकर बैठना, काष्ठमौन, आकार मौन धारण करना कृच्छ्-चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतों का करना तप है। मोक्ष शास्त्र का अध्ययन अथवा प्रणव का जप स्वाध्याय है। उस परम गुरु को सब कर्मों का अर्पण करना ईश्वर-प्रणिधान है। यदि कभी उपरोक्त व्रत धारण करने वाले को वितर्क उत्पन्न हो कि मैं अपकारी को मारूंगा, असत्य भी बोलूंगा, इसके द्रव्य को भी स्वीकार करूंगा। इसकी स्त्री के साथ मैथुन भी करूंगा। इसके परिग्रह का स्वामी होऊंगा। इस प्रकार उन्मार्ग की ओर ले जाने वाले अति दीप्त वितर्क ज्वर से बाध्यमान उनके प्रतिपक्ष की भावना करै। संसार रूप घोर अग्नि में पच्यमान मैं सर्व भूतों के अभय दान से योग धर्म की शरण को प्राप्त हूँ। वह मैं जिस हिंसा आदि का परित्याग करके, यदि पुनः उनको स्वीकार करता हूँ तो श्वान् की वृत्ति से उसी के समान हो जाऊँगा। जैसे श्वान् बमन का चाटने वाला होता है। वैसे ही त्याग कर पुनः ग्रहण करने वाला मैं हूँगा इत्यादि भावना करने से अहिंसा आदि व्रत दृढ़ होते हैं। हिंसा आदि वितर्क कृत, कारित, अनुमोदित, लोभ, मोह, क्रोध पूर्वक, मृदु, मध्य, अधिमात्र, दुख, अज्ञान, अनन्त फल वाले हैं, इन सब के अनेक सूक्ष्म भेद हैं। इनका वर्णन विस्तार भय से नहीं किया। इनका सूक्ष्म रूप से विचार करता हुआ सावधान रहै तथा इनके दुष्परिणामों को विचारता रहै, तो इनसे बच सकता है। नहीं तो बचना कठिन है। यदि पूर्ण रीति से अहिंसा आदि

का परिपालन हो जाता है तो उनसे सिद्धियां अवश्य प्राप्त होती हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। अतएव उनसे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन करते हैं।

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।" २-३५। अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर, उसके समीप में परस्पर स्वाभाविक वैर करने वाले भी वैर परित्याग कर मित्र बन जाते हैं। जैसे अश्व, महिष, मूषक, मार्जार, सर्प, नकुल आदि भी प्रतिष्ठित अहिंसक योगी के चित्त के अनुसार ही उसके समीप में निर्वैर हो जाते हैं। **"सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्।"** २-३६। सत्य की प्रतिष्ठा होने पर इसका वचन निष्फल नहीं होता। यदि किसी को कह दे कि धर्मात्मा हो तो वह धर्मात्मा हो जाता है। किसी को कह दे कि स्वर्ग चले जावो तो स्वर्ग चला जाता है। **'अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्व रत्नोपस्थानम्।"** २-३७॥ अस्तेय की प्रतिष्ठा होने से सब दिशाओं में स्थित सर्व प्रकार के रत्न अपने आप उपस्थित होते हैं। **ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायांवीर्य्यलाभः।"** २-३८॥ ब्रह्मचर्य्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्य का लाभ होता हैं जिससे प्रतिघात रहित गुणों का उत्कर्ष होता है। ऊहा अध्ययन आदि से ज्ञान के सिद्ध होने पर, अपने शिष्यों को उस ज्ञान का हृदयङ्गम कराने में समर्थ होता है। **"अपरि ग्रहस्थैर्य्ये जन्म कथंता संबोधः।"** २-३६। अपरिग्रह के स्थित होने पर इसको मैं कौन था, किस प्रकार था, यह क्या है, यह कैसे हैं, मै क्या २ हूँगा, कैसे हूँगा इत्यादि। भूत, भविष्य, वर्तमान में शरीरादि के सम्बन्ध की जिज्ञासा तथा उसका बोध होजाता है। इस प्रकार यम की स्थिरता से सिद्धियां आती हैं। नियमों का पालन करने पर सिद्धियों को कहते हैं। **"शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः।"** २-४०॥ शौच

से स्वाङ्ग जुगुप्सा और अन्य से असंसर्ग होता है। अभिप्राय यह कि निज शरीर को शुद्ध करने पर भी इसमें दोष देखता है। अतएव इस अशुद्ध शरीर को त्यागने की इच्छा करता है। जब मिट्टी जलादि से अपने शरीर को शुद्ध करता हुआ भी शुद्ध नहीं देखता तब अन्य के शरीर से कैसे संसर्ग करैगा। **"सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्मदर्शन योग्यत्वानि च।"** २-४१। मन की शुद्धि होने पर, वह विक्षेप से रहित अन्तर्मुख होता है। इससे एकाग्रता होती है, उससे इन्द्रिय जय होता है, उसके अनन्तर आत्म-दर्शन के योग्य बुद्धि होती है **"सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।"** २-४२। सन्तोष से अनुत्तम सुख लाभ होता हैं। **"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि-क्षयात्तपसः।"** २-४३। तप से अशुद्धिरूप मल के क्षय होने पर शरीर में अणिमा आदि सिद्धियां प्रकट होती हैं। इन्द्रियों को दूर से श्रवण-दर्शन आदि की सिद्धि प्राप्त होती है। **"स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः।"** २-४४। स्वाध्यायशील को देवता, ऋषि और सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं। **"समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणि-धानात्।"** २-४५। ईश्वर का प्रणिधान करने से समाधि की सिद्धि होती है। जिससे सब इच्छित वस्तु को सत्य रूप से जानता है। देशान्तर, देहान्तर, कालान्तर में उसकी बुद्धि यथार्थ वस्तु के जानने में समर्थ होती है, ये सिद्धियां अवश्य आती हैं, यदि उचित रीति से यम-नियमों का पालन किया जाय। दंभ या पाखण्ड करने वालों को कोई भी सिद्धि नहीं आती। निश्चल और सुखदायक, बैठने के प्रकार को आसन कहते हैं। जैसे पद्मासन, सिद्धासन, वीरासन आदि, इन आसनों को उनके ज्ञाता गुरु के द्वारा ही सीखना चाहिए। प्रयत्न के उपरम होने पर ही आसन सिद्ध होता है। जिससे शरीर में कम्प नहीं होता अथवा

परम महत्व (अनन्त) में समापन्न चित्त आसन को सिद्ध कराता है जैसा कि सूत्र है "प्रयत्न शैथिल्याऽनंत समापत्तिभ्याम् ॥" २-४७। जब आसन सिद्ध होजाता है तब शीत, उष्ण भूख, पिपासा आदि द्वन्द्वों के अभिघात से योगी अभिभूत नहीं होता। अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्दों के द्वारा योगी को कोई विघ्न नहीं होता, वह समस्त द्वन्दों को आनन्द के साथ सहन करता है "ततो द्वंद्वान-भिघातः ॥" २-४८॥ आसन सिद्ध होने पर ही प्राणायाम कर सकता है जैसा की उसी प्रसङ्ग में कहा है। "तस्मिन्सतिश्वास प्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदः प्राणायामः ॥ २-४९॥ वाह्य वायु का अन्दर प्रवेश करना श्वास है, कोष्ठ के वायु को वाहर निकालना प्रश्वास है। उन दोनों का अभाव होना प्राणायाम है। प्राणायाम कई प्रकार का होता है। उसके करने से बहुत लाभ होते हैं, किन्तु बिना योग्य गुरू के प्राणायाम नहीं करना चाहिए। आज कल बहुत से लोग पुस्तकों में लिखी बिधि को देखकर प्राणायाम करने लगते हैं अथवा जो स्वयं प्राणायाम नहीं जानते और न करते हैं। ऐसे गुरू के उपदेश से आसन और प्राणायाम करने लगते हैं और यम-नियमों का पालन नहीं करते, उनको हानि ही होती है। अतएव बहुत सोच समझ कर इस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए हमने इसका वर्णन विस्तार से इसी कारण नहीं किया। प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेक ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म क्षीण हो जाता है। "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥" २-५२। प्राणायाम के सिद्ध होने पर ही मन की धारणा में योग्यता होती है "धारणासु च योग्यता मनसः।" २-५३॥ इसके अनन्तर प्रत्याहार को कहते हैं। "स्वविषयासम्प्रयोगेचित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणांप्रत्याहारः ॥" चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियां भी

चित्त की भांति निरुद्ध होजाती हैं। जैसे मधुकरराज के उड़ जाने पर उसके पीछे सब मधु मक्खियां उड़ जाती हैं और उसके बैठने पर बैठती हैं। अतएव चित्त के वश होने पर अन्य इन्द्रियों को वश करने में कठिनाई नहीं पड़ती। किन्तु मन को वश में करने के लिये इन्द्रियों को भी वश में करना आवश्यक है। जब इन्द्रिय और मन वश में हो जाते हैं, तब योगी को आगे की भूमिका को प्राप्त करने में सरलता होती है। चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का निरुद्ध होना ही इन्द्रियों की परमा वश्यता है। इसके अनन्तर विभूतिपाद का वर्णन करेंगे॥

अष्टाङ्ग योग के पांच बहिरङ्ग साधनों का वर्णन साधनपाद में किया। अब विभूतिपाद में प्रथम तीन अन्तरङ्ग साधनों का वर्णन करते हैं। क्योंकि इन्हीं के सिद्ध होने पर विभूतियों की प्राप्ति होती है। "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥" ३—१॥ नाभिचक्र, हृदय-कमल, मूर्धाज्योति, नासिकाके अग्रभाग में और जिह्वाके अग्रआदि देशों में अथवा वाह्य विषयों में चित्त का वृत्ति मात्र से वन्ध, धारणा कही जाती है "तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्॥" ३-२॥ उस देश में ध्येय का आलम्बन करने वाली वृत्ति का समान प्रवाह ध्यान कहा जाता है। "तदेवार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपशून्यमिवसमाधिः॥" ३-३॥ वही ध्यान जिस समय ध्येयाकार प्रतीत होता है, प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य की भांति हो जाता है। ध्येय स्वभावके आवेश से उस समय समाधि कही जाती है। यह समाधि शब्द पारिभाषिक है। ध्येय विषय में चित्त की स्थिरता का वाचक है, जहां कहीं सम्यक् समाधान से अन्य वृत्ति का निरोध ही सामान्य रूप से समाधि है। इस समाधि रूप चित्त के स्थैर्य्य को प्राप्त कर ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य विषयक संप्रज्ञान का साधन करै। उसके सिद्ध

होने पर संप्रज्ञात समाधि होती है। उस संप्रज्ञात के निरोध होने पर सर्व वृत्ति निरोध रूप असंप्रज्ञात समाधि होती है। **"त्रयमेकत्र संयमः ॥" ३-४ ॥** धारणा, ध्यान और समाधि का एक विषय में साधन को संयम कहते हैं। **"तज्जयात्-प्रज्ञालोकः ॥" ३-५ ॥** उस संयम के जय होने पर प्रज्ञा का प्रकाश होता है। जैसे २ संयम स्थिर पद होता है। वैसे २ समाधि प्रज्ञा निर्मल होती है **"तस्य भूमिषु विनियोगः ॥" ३-६ ॥** संयम का जित भूमि के अनन्तर भूमि में विनियोग होता है। जिसने अधर भूमि को नहीं जीता है। वह अनन्तर भूमिका उल्लंघन करके प्रान्त भूमि में संयम को नहीं प्राप्त करता, उसके अभाव से उसकी प्रज्ञा का प्रकाश कैसे होगा। ईश्वर की कृपा से जिसने उत्तर भूमि को जीत लिया है। उसको अधर भूमि, परचित्तज्ञान आदि में संयम करना युक्त नहीं। क्योंकि उस अर्थ का अन्य से अवगत हो जाता है। इस भूमि के अनन्तर यह भूमि है, इसमें योग ही उपाध्याय (गुरु) है। जैसा कि आचार्य्य का वचन है।

"योगेन योगोज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगेरमते चिरम् ॥"

योग से योग जानना चाहिए, योग से योग प्रवर्तित होता है। जो योग से प्रमाद नहीं करता वह योग में चिरकाल तक रमण करता है। अथवा अचिर (शीघ्र) योग में रमण करता है। इस प्रकार उपरोक्त धारणा, ध्यान, समाधि साधन होने पर भी निर्वीज-समाधि के वहिरङ्ग साधन हैं। क्योंकि जब इन तीनों का अभाव होता है, तब निर्वीज समाधि की प्राप्ति होती है। इसके अनन्तर चित्त के परिणाम का सूक्ष्म विवेचन योग दर्शन में है किन्तु उसका

वर्णन नहीं कर रहे हैं तथा भूत और इन्द्रियों के धर्म, लक्षण, अवस्था, परिणाम का सूक्ष्म विवेचन है। उन धर्म, लक्षण, अवस्था, परिणाम में संयम करने से भूत, भविष्य, वर्तमान का परिज्ञान होता है।

इसके अनन्तर अनेक प्रकार के संयम से अनेक प्रकार की विभूतियों (सिद्धियों) की प्राप्ति का वर्णन है। यदि ठीक से संयम किया जाय तो सिद्धियां अवश्य आती हैं। सिद्धियों का वर्णन श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण तथा बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि के धार्मिक ग्रन्थों में है। वर्तमान समय में भी कुछ सिद्धियों तथा सिद्धों के दर्शन किसी २ भाग्यशाली को होजाते हैं। इस पर भी कुछ लोगों का कथन है कि "यह सब सिद्धियां नहीं आसकतीं, न कभी किसी में आई हैं, केवल बढ़ा चढ़ा कर पुस्तकों में लिख दी गई हैं।" इस प्रकार का कथन उचित नहीं। क्योंकि सिद्धियां आसकतीं हैं और प्राचीन समय में भी आई थीं तथा भविष्य में भी आवैंगी। किन्तु यदि साधन ठीक से किया जाय तभी सिद्धियां आसकती हैं। वर्तमान समय में उचित साधन का अभाव है। अतएव सिद्धियां नहीं आतीं। योगदर्शन का लक्ष्य केवल सिद्धियां प्राप्त करना ही नहीं है। किन्तु कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त करना है। अतएव पर वैराग्य के द्वारा समस्त सिद्धियों से विरक्त होकर निर्बीज समाधि का अभ्यास करना चाहिए। जब समाधि के द्वारा चित्त निर्मल होजाता है, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है। जैसा कि विभूति पाद का अन्तिम सूत्र है, **"सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति ॥"** ३–५५ ॥ जिस समय रज और तम रूप मल से रहित बुद्धिसत्व की पुरुष के समान शुद्धि होजाती है। वह पुरुष के समान प्रतीत होता है। पुरुष स्वभाव से शुद्ध है किन्तु अविवेक से बुद्धि के गुण पुरुष में प्रतीतहोते हैं विवेक से पुरुष का ज्ञान होजाता है, तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है॥ कैवल्यपाद में आगे इसी का वर्णन करेंगे ॥ इति विभूतिपाद ॥

॥ कैवल्यपाद ॥

इस कैवल्यपाद में योग का मुख्य फल कैवल्यव्युत्पादित किया गया है। उसके पूर्व सिद्धि के भेद का वर्णन करते हैं "जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः।" ४-१॥ १ जन्म, २ औषधि, ३ मन्त्र, ४ तप, ५ समाधि से उत्पन्न सिद्धियां पाँच प्रकार की होती हैं। शरीर चित्त और इन्द्रियों के उत्कर्ष को सिद्धि कहते हैं। किसी विशेष प्रकार के कर्म करने से अन्य जन्म में विशेष प्रकार के शरीर की जन्म से ही जो सिद्धि होती है उसको जन्म से सिद्धि कहते हैं, जैसे देवादि शरीर में जन्म से ही बहुत सी सिद्धियां होती हैं। मनुष्यों में भी दृष्ट साधन के बिना किसी-किसी में कोई सिद्धि देखी जाती है।

औषधि सेवन से भी बहुत सी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से असुर भवन को प्राप्त हुआ, वहाँ असुर कन्या से उपनीत रसायन का सेवन करके जरा-मरण से रहितत्व तथा अन्य भी सिद्धि को प्राप्त करता है अथवा यहाँ पर ही रसायन के उपयोग से सिद्धि प्राप्त करता है। जैसे माण्डव्य मुनि रस के उपयोग से विन्ध्यवासी हुए। मन्त्र जप से आकाश गमन अणि-मादि सिद्धि का लाभ होता है। तप से संकल्प सिद्धि प्राप्त होती है। जहाँ जहाँ इच्छा करता है वहाँ वहाँ चला जाता है और भी जिस वस्तु की देखने-सुनने आदि की इच्छा करता है वही प्राप्त करता है। समाधि के अभ्यास से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योग के द्वारा शरीर-इन्द्रिय आदि का परिणाम प्रकृति के अनुप्रवेश से होता है। अभिप्राय यह है कि जो जिस जाति में उत्पन्न हुआ है उसी के अनुसार उसके शरीर-इन्द्रिय आदि की प्रकृति होती है। योग बल से उसकी

प्रकृति में परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य की प्रकृति से भिन्न देव की प्रकृति होजाती है। किन्तु धर्मादि की अपेक्षा से ही प्रकृति में परिणाम होता है, धर्मादि निमित्त प्रकृति का प्रयोजक नहीं, वह आवरण का ही भंग करता है। जैसे किसान खेत में पानी ले जाने के लिये केवल आवरण का भंग करता है, पानी स्वभाव से निम्नस्थल की ओर चला जाता है। जैसे वही किसान उसी खेत में उदक या भूमि के रस को धान्य के मूल में प्रवेश करने में समर्थ नहीं होता। किन्तु वह खेत में मूँग-गेहूँ आदि को वो देता है। वे स्वयं जैसी प्रकृति वाले होते हैं, वैसे रस को पृथिवी से खींच लेते हैं। क्योंकि पृथिवी में तो सभी रस होते हैं। किन्तु गन्ना मधुर रस को ही आकर्षित करता है। मिर्चा तिक्त रस को ही खीचता है इत्यादि योग दर्शन का सिद्धान्त है इसी कारण प्रकृति का प्रेरक न पुरुष है न ईश्वर, किन्तु प्रकृति स्वयं परिणाम को प्राप्त होती है। योगी अपने योगवल से अनेक शरीर का निर्माण करता है। एक समय में ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर को धारण कर सकता है, उन सब में योगी का संकल्प कार्य्य करता है। एक अपने चित्त से अनेक चित्त की कल्पना जिस संकल्प से करता है, वे उसी के अनुसार कार्य्य करते हैं। योगी ध्यान के द्वारा कर्म के संस्कार को नष्ट कर देता है। अतएव उसमें राग-द्वेषादि नहीं होते इसी कारण पुण्य और पाप में प्रवृति नहीं होती। अतः पुण्य-पाप से कोई संबन्ध भी नहीं होता। क्योंकि उसके क्लेश क्षीण हो जाते हैं, अन्य के कर्माशय रहते हैं। क्योंकि यह कर्म की जाति चतुष्पाद् है। "१ कृष्णा, २ शुक्लकृष्णा, ३ शुक्ला, ४ अशुक्लकृष्णा इति" उनमें दुष्टात्मा की कृष्णा होती हैं। वहिः साधन साध्य शुक्ल कृष्णा है उसमें परपीड़ा और परानुग्रह के द्वारा कर्माशय का प्रचय होता है। तपःस्वाध्याय और ध्यान वालों की शुक्ला होती है। वह मन के आधीन होने से वाह्य साधन के आधीन

पर को पीड़ा करके नहीं होती। अशुक्ल अकृष्णा क्षीणक्लेश चरम देह सन्यासियों की होती है। उसमें फल सन्यास से अशुक्ल और अनुपादान से अकृष्ण कर्म योगी का ही होता है। इतर भूतों का तो पूर्वोक्त तीन प्रकार का ही कर्म होता है। उनमें जो कर्म जिस समय फल देने के उन्मुख होता है, वैसी ही वासना का उदय होता है। वैसी ही योनि की प्राप्ति होती है। जिस योनि में प्राणी जाता है, उसी योनि का संस्कार अभिव्यक्त होता है, अर्थात चित्त में अनेक योनियों के संस्कार संस्कृत रहते हैं। कर्मानुसार जो योनि प्राप्त होती है, उसी का संस्कार उदय होता है। मनुष्य योनि में मनुष्य के, पशु योनि में पशु के, नारकीय प्राणियों के नारकीय संस्कार उदय होते हैं। वे संस्कार अनादि काल से चले आ रहे हैं। क्योंकि सबको अधिक दिन जीने की इच्छा और मृत्युका भय होता है, यह स्वाभाविक नहीं हो सकता। क्योंकि जातमात्र प्राणी को बिना मरण दुःख का अनुभव किए उससे भय कैसे हो सकता है। अतएव यह जन्म–मृत्यु का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। सदा ही सुख–दुःख का अनुभव होता है। धर्म से सुख होता है, अधर्म से दुःख होता है। सुख से राग होता है। दुः से द्वेष होता है। उसके अनन्तर प्रयत्न करता है, उससे मन वाणी शरीर से चेष्टा करता है। किसी के ऊपर अनुग्रह करता है, किसी को पीड़ा पहुँचाता है। उससे धर्म, अधर्म, राग, द्वेष पुनः पुनः होते हैं। यह संसारचक्र ऐसा ही भ्रमण करता रहता है। सब क्लेशों का मूल अविद्या इसको चलाती है। जिसकी अविद्या निवृत्त होगई, वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होजाता है। उस अविद्या की निवृत्ति विवेक से होती है। अविद्या के निवृत्त होने पर आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। जब आत्मा का साक्षात्कार होगया तब मैं कौन हूँ। क्या था, कैसे था, क्या हूँगा, यह क्या है, कैसे है, क्या होगा, यहसब चित्त के विचित्र परिणाम हैं।

पुरुष चित्त के धर्म से रहित है। अविद्या के कारण चित्त के धर्म के समान प्रतीत होता है। अविद्या के विनिवृत्त होने पर पुरुष शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, केवल होजाता है। जैसा कि सूत्र है "विशेषदर्शिन आत्म–भावभावनाविनिवृत्तिः ।" ४—२५ ॥ विशेषदर्शी की आत्मभाव की भावना विनिवृत्त हो जाती है। "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्यसर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघःसमाधिः॥४-२६॥ जिस समय यह ब्राह्मण प्रसंख्यान से भी कुछ प्रार्थना नहीं करता उसमें भी विरक्त की सर्वथा विवेक ख्याति ही होती है। संस्कार बीज के क्षय होने से अन्य प्रत्यय इसके नहीं उत्पन्न होते। उस समय इसकी धर्ममेघ समाधि होती है, उससे क्लेशकर्म की निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से अविद्या आदि क्लेश समूल निवृत्त हो जाते हैं। कुशल-अकुशल कर्माशय भी समूल नष्ट हो जाते हैं। क्लेश और कर्म की निवृत्ति होने पर विद्वान् जीवन्मुक्त हो जाता है। क्योंकि भव का कारण विपर्य्यय नहीं होता। जिसका विपर्य्यय क्षीण होगया है। वह कहीं किसी से उत्पन्न हुआ देखा नहीं गया है। उस समय सब आवरणरूप मल की निवृत्ति होजाती है। तब ज्ञान के अनन्त होने पर ज्ञेय अल्प होजाता है। उसके अनन्तर उसको कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता, वह कृतार्थ हो जाता है। कृतार्थ के प्रति गुणों के परिणाम क्रम समाप्त हो जाते हैं। जैसा कि सूत्र है "ततः कृतार्थानांपरिणामक्रम समाप्तिगुणानाम् ।" ४–३२। उस धर्म मेघ के उदय होने से कृतार्थ के गुणों के परिणामक्रम समाप्त हो जाते हैं। भोग अपवर्ग को करने वाले परिसमाप्तकर्म क्षण मात्र भी नहीं ठहर सकते। उनके सामने प्रकृति अपने नाटक को नहीं दिखलाती। वे पुरुष कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि योग दर्शन का अन्तिम सूत्र है

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति।" ४-३४ ॥ कृतकरणीयता से, पुरुषार्थ से, शून्यगुणों की अपने कारण प्रधान में जो लय है उसको कैवल्य कहते हैं। अथवा पुरुष की स्वरूप-प्रतिष्ठा कैवल्य है, यही शास्त्र का लक्ष्य है तथा सिद्धान्त है। बिना योगाभ्यास के कैवल्य की प्राप्ति हो नहीं सकती, अतएव इस योगाभ्यास को प्रायः सभी दर्शनकारों ने माना है। वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, जैन, बौद्ध आदि के ग्रन्थों में भी योग का वर्णन है और इसी के द्वारा तत्व साक्षात्कार माना गया है जिस मनुष्य का चित्त जितना ही अधिक समाहित होता है, उसके अन्दर उतनी ही अधिक शक्ति होती है। वह एक जन्म में सिद्ध नहीं होता, किन्तु अनेक जन्म के अभ्यास का फल होता है। यदि चित्त समाहित हो तो किसी प्रकार का रोग नहीं होता। क्योंकि योगी का शरीर भी शुद्ध हो जाता है। उसको वैद्य या डाक्टरों की आवश्यकता नहीं पड़ती। आज कल मनुष्यों को ठगने के लिये कुछ लोग सिद्धयोगी तथा ईश्वरावतार तक बनते हैं। किन्तु नाना प्रकार के रोगों से घिरे रह कर वैद्य और डाक्टरों के सामने दीन होते हैं, वास्तव में वे योगी नहीं हैं। जो वास्तविक सिद्ध योगी होता है, उसके शरीर में भी शक्ति होती है, वह भोग भी भोग सकता है किन्तु उसमें लिप्त नहीं होता। वर्तमान समय में पूर्णयोगी के दर्शन नहीं होते, इससे यह अनुमान नहीं किया जासकता कि कभी भी पूर्णयोगी नहीं होते थे, न आगे होंगे। इसके लिए देश काल की अपेक्षा होती है। जैसे आधुनिक वैज्ञानिक वस्तुओं का जितना आविष्कार इस समय है। वह पूर्व काल में नहीं था यह नहीं कहा जा सकता, यदि कहा जाय कि इतिहास में इसका वर्णन नहीं मिलता, तो इतिहास में वर्णन न

होने से ही किसी की असत्ता पूर्वकाल में नहीं सिद्ध की जा सकती। संसार अनन्त है, अनन्त प्रकार की सृष्टि होती रहती है तथा नाश भी होता रहता है। कभी किसी वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, किसी का तिरोभाव होता है। बहुत सी बातों का वर्णन इतिहास में नहीं रहता, इतिहास भी बदलता रहता है। इतिहासकारों में मतभेद भी होता है। अतएव इतिहास में न होने मात्र से कोई वस्तु असभंव नहीं हो सकती यदि कहा जाय कि वर्तमान समय के विज्ञान से सब बातों का पता लग गया है। तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि आधुनिक विज्ञान को वास्तविक विज्ञान का भी पता नहीं, जब मनुष्य की बुद्धि निर्मल होती है. तभी वास्तविक तत्व का साक्षात्कार होता है। बिना योग के बुद्धि निर्मल होती नहीं। आधुनिक वैज्ञानिकों की बुद्धि निर्मल नहीं। क्यों कि उनमें योग का अभाव है। अतएव आज का विज्ञान, विज्ञान नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह मनुष्यों को अन्धकार की ओर ले जा रहा है। बिना योगाभ्यास के किसी भी तत्व का पूर्ण साक्षात्कार नहीं होता अतएव योग दर्शन में बतलाये हुए निगम के अनुसार योगाभ्यास करना चाहिए योगदर्शन के समान और किसी अन्य दर्शन में समाधि का व्यवस्थित वर्णन नहीं। इसका आविर्भाव भारत में सृष्टिप्रारम्भ में ही हुआ है, अतएव किसी पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव इस पर नहीं पड़ा, इसी में बतलाये उपाय को अन्य मतों में भी लिया गया है। इस प्रकार संक्षेप में योग दर्शन सिद्धान्त का वर्णन किया है, इसके अनन्तर पूर्व मीमांसादर्शन सिद्धान्त का बर्णन करेंगे। क्योंकि उसमें धर्म का विचार है। विना धर्म विचार के धर्माचरण नहीं होता बिना धर्माचरण के अन्तः करण शुद्ध नहीं होता, उसके बिना विवेक वैराग्य के अभाव से योग नहीं होता।

॥ इति योग दर्शनम् ॥

॥ पूर्व मीमांसा दर्शन की संक्षिप्त सूची ॥

१ विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, नामध्येयार्थक, और शब्दराशि की प्रमाणता सिद्ध की गई है।

२ कर्मभेद, उपोद्घात, प्रमाण, अपवाद, प्रयोग भेदरूप अर्थ का वर्णन है।

३ श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या का विरोध प्रतिपत्ति कर्म, अनारभ्य अधीत, बहुप्रधानोपकारक प्रयाजादि याजमान का चिन्तन है।

४ प्रधानप्रयोजकत्व, अप्रधानप्रयोजकत्व, जुहूपर्णतादि का फल, राजसूयगत जघन्य अङ्ग और अक्षद्यूतादि का विचार किया है।

५ श्रुति लिङ्गादि का कर्म, उनके द्वारा वृद्धि, अवर्धनप्राबल्य और दौर्बल्य का विचार किया गया है।

६ अधिकारी, उसका धर्म, द्रव्य प्रतिनिधि, अर्थ लोपनप्रायश्चित्त तथा सत्रदेयवह्नि आदि का विचार किया गया है।

७ प्रत्यक्षवचन अति देश में शेषनामलिङ्गातिदेश का विचार है।

८ स्पष्ट, अस्पष्ट, प्रबललिङ्गातिदेश तथा अपवाद का विचार है।

९ प्रकृति में उपदिष्ट मन्त्र, साम, संस्कार कर्म का विकृति में अतिदेश प्राप्त का प्रकृति–विकृति, अग्नि-सूर्य्यादि देवता के भेद में प्रकृति गत देवतादि वाचकपद को त्यागकर विकृति में देवतादि वाचक पद का अध्याहार रूप ऊह का निरूपण किया है।

१० बाध हेतुद्वार, लोप विस्तार, बाध कारणकार्य्य, एकत्व ग्रहादि साम और प्रकीर्ण नञर्थ का विचार किया है।

११ तन्त्र, उपोद्घात तन्त्र, आवाप तन्त्र प्रपञ्चन और आवापप्रपञ्चन का विचार किया है।

१२ प्रसङ्ग तन्त्र निर्णय, समुच्चय विचार तथा विकल्प विचार किया है, इस प्रकार द्वादशाध्याय की संक्षिप्त सूची है, इसमें समस्त पूर्व मीमांसा के सिद्धान्त निहित हैं।

पूर्व मीमांसा सिद्धान्त

पूर्व मीमांसा के कर्ता जैमिनि ऋषि हैं। इनके समय का निश्चित निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है, अतएव इस विषय में हम भी कुछ नहीं लिखते हैं। धर्म क्या है ? यह जाने बिना मनुष्य धर्मानुष्ठान नहीं कर सकता, अतएव धर्म विचार के लिये जैमिनि जी ने इस दर्शन का आरम्भ किया है, इसी का नाम धर्म मीमांसा भी है, इसका आकार सब दर्शनों से बड़ा है। इसमें द्वादश अध्याय हैं अतएव इसको द्वादश लक्षणी मीमांसा भी कहते हैं।

पूर्व मीमांसा के दर्शन विषयक आक्षेपों का समाधान

कुछ लोगों का कथन है कि "पूर्व मीमांसा का दर्शन से बहुत थोड़ा सम्बन्ध है, शेष तो कर्मकाण्ड सम्बन्धी प्रश्नों, विरोधों, सन्देहों को दूर करने के लिए प्रयत्न मात्र है।" क्या उपरोक्त विषय पर विचार करना दर्शन सिद्धान्त के विपरीत है ? नहीं, वास्तव में दर्शनशास्त्र सभी विषय का विचार करता है, सब प्रकार के संदेहों को दूर करता है। अतएव कर्म विषयक सन्देहों को दूर करने के लिये, यह पूर्व मीमांसा दर्शन है, इसमें सभी विचार दार्शनिक हैं। किन्तु जिनकी बुद्धि में दर्शन का अर्थ ही कुछ बिलक्षण रीति का निश्चित है, वे जो चाहें समझें, उनकी बुद्धि स्वतन्त्र है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुयायी भारतीयों का भी कथन है कि "मीमांसा के पुराने ब्राह्मणीय यज्ञ वाले धर्म के अत्यन्त कट्टर धर्मशास्त्री थे। यज्ञ के सिवाय और किसी दूसरे विषय के तर्क-वितर्क के वे प्रबल विरोधी थे। शास्त्र वेद उन ७० के लगभग उत्पत्ति विधियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये विधियाँ यज्ञों का विधान बतलाती हैं कि उनके करने से किस

तरह का फल मिलैगा। मीमांसक के इस धर्म में न कोई धार्मिक भावुकता है न उच्च भावनायें, उनकी सारी बातें इस सिद्धान्त पर स्थित हैं कि ब्राह्मणों को दक्षिणा दे दो और फल तुम्हारे पास आ उपस्थित होगा।"

यह कथन भी पूर्व मीमांसा सिद्धान्त को न समझने के कारण ही है, यदि मीमांसा के सिद्धान्त को समझा जाय तो ऐसा कथन हो ही नहीं सकता। क्योंकि यद्यपि मीमांसक यज्ञ के पक्षपाती हैं और उनका ऐसा होना युक्ति युक्त भी है। यज्ञों से भौतिक जगत को भी लाभ होता है। यज्ञ के धूम्र से वायु मण्डल शुद्ध हो जाता है, यह सब को प्रत्यक्ष है। तथापि जिन ब्राह्मण ग्रन्थो में यज्ञों का वर्णन है, उन्हीं में उपनिषद् भी हैं। बिना यज्ञ रूपी धर्म किये अन्तः करण शुद्ध नहीं होता, उसकी शुद्धि के विना उपनिषद् का बोध ही नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि पूर्व मीमांसक उपनिषद् वाक्य को अर्थवाद मानते हैं तो अर्थवाद भी विधि के लिये ही होता है। यज्ञ का कर्ता आत्मा को जब तक शरीर से भिन्न नहीं मानेगा, तब तक वह यज्ञ में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। उपनिषद् में ही आत्मा को शरीर से भिन्न सिद्ध किया गया है। इसका विशेष विचार उत्तर मीमांसा में है यह केवल दक्षिणा देने से ही सफल नहीं होता, उसके और भी अङ्ग है चाहे कितनी ही दक्षिणा दी जाय, यदि अन्य अङ्ग पूर्ण नहीं हैं तो यज्ञ सफल नहीं होता। अतएव जो लोग केवल दक्षिणा देने से ही यज्ञ सफल होता है ऐसा मीमासकों का मत समझते हैं, वे मीमांसा दर्शन ज्ञान से शून्य हैं। केवल भावुकतामात्र से धर्म का आचरण नहीं होता, उसमें तो विधान की तथा विवेक की भी आवश्यकता होती है। केवल भावुकतावश धर्मानुष्ठान से कोई लाभ नहीं होता है, जैसे कोई रोगी केवल भावुकता वश किसी औषधि का सेवन करता है। उससे ही उसका रोग निवृत नहीं होता भावुकता हो या न हो, यदि

औषधि का सेवन विधि पूर्वक किया जाता है, तो रोग अवश्य निवृत्त होता है। अतएव मीमांसक विधान पर अधिक बल देते हैं। मीमांसा की शैली अत्युत्तम है, इसी शैली से संसार के समस्त विधानों का विचार किया जाता है।

॥ धर्म जिज्ञासा आरम्भ ॥

धर्म विचार के लिए ही यह शास्त्र है अतएव इसका आरम्भ किया जाता है **"अथातो धर्मजिज्ञासा ।"**१-१-१॥ वेदाध्ययन के अनन्तर धर्म का विचार करना चाहिये क्योंकि वेदों के द्वारा ही धर्म का ज्ञान होता है, जैसे राजकीय शासन विधान का अध्येता ही उसका विचार कर सकता है, सब नहीं। धर्म के विषयमें केवल वेद ही प्रमाण है, अन्य प्रमाण उसके सहायक मात्र हैं। उस वेद का अध्ययन गुरु के द्वारा गुरुकुल में रहकर करना चाहिये। अपने आप पढ़ने से उसके अर्थ का ज्ञान ठीक से नहीं होता, अर्थ ज्ञान तो दूर रहा उसका उच्चारण भी ठीक रीति से नही होसकता। वर्तमान समय में प्रायःलोग मनमाने ढङ्ग से वेदो का अध्ययन करके अर्थ का अनर्थकर अपनी तथा जनता की हानि कर रहे हैं, इसी कारण संसार में अनेक प्रकार का उपद्रव बढ़ रहा है अतएव वेदाध्ययन वेदज्ञाता गुरु के द्वारा ही करना चाहिये धर्मका लक्षण इसप्रकार किया है। **"चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः ॥"** १–१–२॥ धर्मशब्द का क्या अर्थ है? इस विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें अनेक शास्त्रों में की गई हैं। सांख्य शास्त्र में यागादि अनुष्ठान से जन्य अन्तःकरण की विशेष वृत्ति को धर्म कहा है। ज्ञानानन्तरजन्य ज्ञान की वासना को बौद्ध लोग धर्म मानते हैं, विशेषपुण्य से उत्पन्न पुद्गल नामक देह के आरम्भक परमाणुओं को जैन लोग धर्म मानते हैं। विहित कर्म से जन्य

आत्मा के विशेष गुण (अदृष्ट) को न्यायशास्त्र में धर्म माना गया है। मीमांसा के एकदेशीय जन अपूर्व को धर्म मानते हैं। कुछ आगम के अनुयायी चैत्यवन्दन को धर्म कहते हैं। योग से आत्मदर्शन को भागवत लोग धर्म मानते हैं। ऐतिह्य के ज्ञाता आचार को धर्म मानते हैं। वैशेषिककार के मत में जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है वह धर्म है और कुछ लोग सत्य को ही परम धर्म मानते हैं, इत्यादि अनेक मत हैं। किन्तु भगवान् जैमिनि ऋषि ने वेदवोधित निश्रेयस् का साधन धर्म है यह माना है। अब जैमिनि प्रणीत मीमांसा के सूत्र का अर्थ करते हैं।

क्रिया के प्रवर्तक बचन को चोदना कहते हैं जैसा कि लोक में ब्यवहार देखा जाता है, कि मैं आचार्य्य से प्रेरित होकर कर्म कर रहा हूँ, जिससे लक्षित हो उसको लक्षण कहते हैं। जैसे धूम अग्निका लक्षण है। भाव यह है कि चोदनाजन्य प्रमा का विषय पुरुष के निश्रेयस् का हेतु धर्म है और जो अनर्थ का हेतु है वह अधर्म है, इस सूत्र में धर्म और अधर्म दोनों का विचार किया गया है। उस धर्म का ज्ञान जिस चोदना से होता है वह भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म आदि सभी अर्थों के वोधन में समर्थ है और कोई प्रमाण अथवा इन्द्रियाँ भूतादि के बोधन में समर्थ नहीं हैं, इस प्रकार सामान्य रूप से शब्द की प्रमाणता सिद्ध हुई। अब संशय होता है कि जिस वेद वाक्य से धर्म का ज्ञान होता है, वह पौरुषेय है या अपौरुषेय ? यदि पौरुषेय है, तो पुरुष में भ्रमविप्रलिप्सादि दोष होने के कारण प्रमाणता नहीं होगी। यदि कहा जाय कि जो आप्त होते हैं, उनमें कोई दोष नहीं होता, तो आप्त कौन है! यह प्रश्न होगा। यदि कहा जाय कि यथार्थ वक्ता को आप्त कहते हैं तो प्रश्न उठता है कि यथार्थ क्या है ? यदि कहा जाय कि जिसको आप्त कहें, वही यथार्थ है, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा।

क्योंकि बिना आप्त के सिद्ध हुए यथार्थता की सिद्धि नहीं होती यथार्थता के सिद्ध हुए बिना आप्तत्व की सिद्धि नहीं होती। अतएव वेद आप्त वचन होने से प्रमाण है, यह सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि वेद अपौरुषेय है तो उसकी अपौरुषेयता में प्रमाण क्या है? क्योंकि बिना प्रमाण के वस्तु की सिद्धि नहीं होती। यदि कहा जाय कि वेद की प्रमाणता स्वत: सिद्ध है, तो उसमें क्या हेतु है? जो स्वत: सिद्ध है, उसके लिये हेतु की अपेक्षा नहीं होती। मीमांसकों के मत में सब प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत: है। इसका विस्तार से वर्णन मीमांसा वार्तिक में है, वहां पर ही देखना चाहिए।

इससे यह सिद्ध हुआ कि धर्म के विषय में वेद ही प्रमाण है, अन्य नहीं। क्योंकि पुरुष की इन्द्रियों का जब अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, तब उस अर्थ का प्रत्यक्ष होता है, अतएव विद्यमान वस्तु के साथ ही इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से उसीका प्रत्यक्ष होता है। धर्म और अधर्म तो होने वाले हैं, उनका इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं तो उनकी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि कैसे होसकती है। जब प्रत्यक्ष प्रमाण से धर्मादि की सिद्धि नहीं होती तो अनुमानादि से कैसे होसकती है, इसी बात को मीमांसा के इस सूत्र में सिद्ध किया है **"सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धि जन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥"** १-१-४॥ यदि प्रत्यक्षादि के द्वारा धर्म का ज्ञान नहीं होता तो प्रमाण रहित का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अपौरुषेय वेद धर्म में प्रमाण है। उस वेद की अपौरुषेयता सिद्धि के लिये मीमांसकों ने अनेक युक्तियों से शब्द को नित्य सिद्ध किया है। जो लोग उनकी युक्तियों को नहीं स्वीकार करते थे वे लोग भी वर्तमान समय में ग्रामोफोन के रिकार्ड के द्वारा अभिव्यक्त शब्द को नित्य मान सकते हैं। यदि शब्द नित्य नहीं

तो उसकी अभिव्यक्ति बिना कण्ठ–तालु आदि के रिकार्ड से कैसे होसकती है। अब तो आधुनिक वैज्ञानिक यह भी कहने लगे हैं कि आकाश में अनेक प्रकार के शब्द भ्रमण किया करते हैं, यदि प्रयत्न किया जाय तो उनको ग्रहण भी किया जा सकता है। अतएव मीमांसकों का सिद्धान्त सत्य ही है, जब सभी शब्द नित्य हैं तब वेद की नित्यता में संदेह ही क्या ?

॥ प्रमाण के स्वतः का विचार ॥

मीमांसा के मत में सभी प्रमाण स्वतः सिद्ध हैं। अब इसका भी थोड़ा सा विचार करते हैं। इस विषय में दर्शनकारों में मतभेद है, उसको दिखलाते हैं। प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है और ग्रहण किया जाता है, ऐसा सांख्य दर्शन का सिद्धान्त है। न्याय दर्शनकार दोनों को परतः मानते हैं। सौगत (बौद्ध) अप्रामाण्यस्वतः, प्रामाण्यपरतः मानते हैं। मीमांसक प्रामाण्यस्वतः, अप्रमाण्यपरतः मानते हैं। मीमांसक कहते हैं कि यदि ज्ञान स्वगत प्रामाण्य को स्वतः निश्चय करने में समर्थ नहीं है तो जगत में निश्चय का अत्यन्ताभाव हो जायगा। समस्त जगत का आन्ध्य ही प्राप्त होगा जो स्वतः निश्चीयमान नहीं है वह परतः निश्चीयमान नहीं होसकता, क्योंकि पर में भी अपने निश्चय का सामर्थ्य नहीं है। अतएव कहीं न कहीं स्वतः ग्राह्यत्व अङ्गीकार करना ही चाहिए। श्रेष्ठ तो यही है कि सब ज्ञानों में प्रामाण्य स्वतः अङ्गीकार करना चाहिए। वह स्वतः ग्राह्यत्व प्राथमिक ज्ञानग्रह ग्राह्यत्व है, अर्थात प्रथम ज्ञान के ग्रहण से जो ग्रहण करने योग्य हो उसे स्वतः ग्राह्यत्व कहते हैं। इस प्रकार का स्वतः ग्राह्यत्व मीमांसकों के सभी मतों में उपयुक्त है, जैसे मुरारि मिश्र के मत में 'अयं घटः' (यह घट है) इस

प्रकार के (प्रथम) ज्ञान के दूसरे क्षण में 'घटमहंजानामि' यह अनुव्यवसाय रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे ही घट का ज्ञान उत्पन्न होता है !

प्रभाकर मतावलम्बी कहते हैं, कि सभी ज्ञान स्वयं प्रकाशित होने से घटमहं जानामि (मैं घट को जानता हूँ) इस प्रकार व्यवसाय ज्ञान से ही प्रामाण्य ग्रहण होता है ।

कुमारिल भट्ट मतावलम्बी कहते हैं, कि 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञातता नामक कोई सविषय पदार्थ घट उत्पन्न होता है, उस लक्षण वाले अनुमान से प्रमाण स्वीकार किया जाता है, इस प्रकार प्रथम ज्ञान का ग्रहण होता है ।

* शब्द और अर्थ का सम्बन्ध *

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को मीमांसक नित्य मानते हैं । अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का कभी वियोग नहीं होता, वेद में अग्निहोत्र आदि धर्म का उपदेश है, अतएव अग्निहोत्रादि के विषय में वेद प्रमाण है क्योंकि उसका व्यभिचार नहीं होता । प्रत्यक्षादि प्रमाण से अग्निहोत्रादि धर्म का ज्ञान नहीं होता, शब्द से निश्चित ज्ञान होता है । पौरुषेय शब्द के अर्थज्ञान में सन्देह हो सकता है, किन्तु अपौरुषेय वेद में शङ्का का अवकाश नहीं । शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है तथा वेद अपौरुषेय है । शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध तब होसकता है, जब दोनों नित्य हों, अतएव मीमांसक दोनों को नित्य मानते हैं ।

* शब्द की नित्यता *

अब शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष का कथन करते हैं "**कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥**" १–१–६ ॥ शब्द और अर्थ

के सम्बन्ध को नित्य कहा गया है, किन्तु यह युक्ति युक्त नहीं हैं, क्योंकि उच्चारण रूप प्रयत्न के अनन्तर ही गकारादि शब्दों की उपलब्धि होती है ! अतएव वे प्रयत्न से जन्य हैं, जो जिसके अनन्तर नियम से उपलब्ध होता है, वह उससे जन्य है ऐसा नियम है। यदि कहा जाय कि उच्चारण रूप प्रयत्न शब्द का अभिव्यञ्जक है, अतएव उससे जन्य है तो यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शब्द की अभिव्यक्ति से पूर्व उसकी सत्ता रहती है इसमें कोई प्रमाण नहीं है, जो शब्द होता है उसकी अभिव्यक्ति होती है, असत् की अभिव्यक्ति नहीं होती शब्द उत्पन्न होता है अतएव अनित्य है। **"अस्थानात् ॥"** १-१-७॥ उच्चारण के पश्चात् शब्द मुहूर्त मात्र भी नहीं ठहरता है, अतएव वह विनष्ट होगया लोग ऐसा जानते हैं। अनुपलब्धि के कारण व्यवधान आदि के अभाव होने पर भी शब्द उपलब्ध नहीं होता। अतएव वह अनित्य है। **"करोति शब्दात् ॥"** १-१-८॥ संसार में यह कहा जाता है। कि 'शब्द करो' शब्द न करो इससे सिद्ध होता है कि शब्द कार्य है। अतएव शब्द अनित्य है। **"सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥"** १-१-६॥ यदि शब्द नित्य एवं एक ही हो तो नाना देश में एक साथ उपलब्ध न हो, किन्तु उपलब्ध होता है, अतएव अनित्य है। क्योंकि जो कार्य्य है उसीका नाना देश में सम्बन्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः तिसकारण शब्द अनित्य है। **"प्रकृति विकृत्योश्च ॥"** १-१-१० ॥ शब्द की प्रकृति में विकृति होती है, जैसे दधि+अत्र में व्याकरण के नियम से दधि के इकार के स्थान में यकार हो जाता है, जो विकार को प्राप्त होता है वह अनित्य है। **बृद्धिश्च कर्तृ भूम्नाऽस्य ॥"** १-१-११॥ अनेक व्यक्तियों के एक साथ उच्चारण करने से शब्द महान् हो जाता है। वह यदि अभिव्यक्त होता है वह अनेक या एक से उच्चार्य्यमाण होने पर भी जितना पूर्व में था उतना ही उपलब्ध होगा। अतएव

यह मानते हैं कि इसका एक–एक अवयव किया जाता है, जिसके प्रचय होने से महान् उपलब्ध होता है, अतएव अनित्य है। अब उनं सब आक्षेपों का उत्तर देते हैं **"समं तु तत्रदर्शनम् ॥"** १-१-१२॥ जो यह कथन है कि प्रयत्न के अनन्तर शब्द देखा जाता है अतएव कृतक होने से वह अनित्य है। यदि विशेष स्पष्ट हेतु से शब्द का नित्यत्व सिद्ध करने में हम समर्थ हों तो नित्य ज्ञान के सामर्थ्य से प्रयत्न के द्वारा अभिव्यक्त (प्रकट) होता है, यह सिद्ध हुआ। यदि उच्चारण के पूर्व अनभिव्यक्त शब्द प्रयत्न से अभिव्यक्त होता है। तो यह दोनों पक्षों में समान है। **"सतःपरमदर्शनंविषयानागमात् ॥"** १–१–१३॥ जो यह कहा कि उच्चारण के अनन्तर शब्द नष्ट हो जाता है, इसमें भी यदि इसकी नित्यता को विस्पष्ट कह सकें तो नित्य प्रत्यय के सामर्थ्य से कभी उपलब्धि तथा कभी अनुपलब्धि को देख कर उसकी उपलब्धि का कोई निमित्त कल्पित करेंगे। सो वह संयोग विभाग के सद्भाव होने पर होता है। अतएव संयोग विभाग ही शब्द का अभिव्यञ्जक है। यदि कहा जाय कि संयोग विभाग के उपरत होने पर भी शब्द सुना जाता है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द उपलब्ध होता है, अतः संयोग विभाग उपरत नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। इसका और भी सूक्ष्म विवेचन भाष्य में देखना चाहिए, विस्तार भय से नहीं लिख रहे हैं॥ **"प्रयोगस्य परम् ॥"** १–१–१४॥ जो यह कहा कि 'शब्द करो या न करो' ऐसा प्रयोग होता है। तो यहां पर भी यदि शब्द निःसन्देह नित्य है, तो जैसे 'गोमयकरो' व्यवहार होता है वैसा ही यहां भी व्यवहार हो जायगा। **"आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥"** १—१—१५॥ और जो यह कहा था कि एक देश में स्थित का नाना देश में एक साथ दर्शन अयुक्त है, यह भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि सूर्य्य एक है किन्तु नाना देश में प्रतीत

होता है, इसी प्रकार शब्द एक होने पर सर्वत्र प्रतीत होता है। **"वर्णान्तरमविकारः ॥"** १-१-१६ ॥ और जो कहा था कि प्रकृति विकृति होती है। वहां दधि+अत्र में इकार के स्थान में अन्य वर्ण यकार होता है, अतएव विकार नहीं है। **"नाद वृद्धिरपरा ॥"** १-१-१७ ॥ और जो कहा था कि शब्द की वृद्धि होती है। अतएव सावयव शब्द है, अतएव अनित्य है। यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द तो निरवयव है बढ़ता-घटता हुआ प्रतीत होता है।

अब शब्द की नित्यता को सिद्ध करते हैं। **"नित्यस्तु-स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥"** १-१-१८ ॥ शब्द नित्य है क्योंकि अन्य को अर्थ निश्चय कराने के लिये प्रयुक्त होता है। वह उच्चारण स्वतः फल रूप नहीं, अतएव अवश्य किसी फल से सम्बन्ध होना चाहिए। उसके विचार पर फलवान् गवानयनादिरूप व्यापार का अङ्ग भूत जो गवानयनादिरूप अर्थ का प्रत्यय वह है, वह उस फल से ही फलवान् है। उच्चारण से संस्कृत फल साकांक्ष शब्द का फल योग्यता से निश्चय किया जाता है, उस प्रकार अर्थ प्रत्यय फलकत्व शब्द की नित्यता होने पर ही उपपन्न होता है। अभिप्राय यह है कि उच्चारण होने पर ही यदि शब्द विनष्ट हो जाय। तो अन्य को अर्थ निश्चय कराने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि एक शब्द उच्चारण किया वह नष्ट होगया, दूसरा उच्चारण किया वह भी नष्ट होगया, तो एक दूसरे शब्द का सम्बन्ध ही गृहीत नहीं होगा। शब्द सम्बन्ध के अग्रहण से वाक्य नहीं बनेगा तो शाब्द बोध कैसे होगा। अतएव शब्द नित्य है, इस प्रकार अनेक युक्तियों से शब्द की नित्यता सिद्ध की है। जब शब्द नित्य है तो शब्द का अर्थ भी नित्य है अतएव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। मीमांसा का अन्य दर्शनों के साथ यही महान् विरोध है कि वेदों का नित्यत्व

अपौरुषेयत्व और धर्म में प्रमाणत्व को सिद्ध करता है शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मान लेने पर भी वेदों की नित्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ? इस सन्देह को भी संक्षेप से दूर करते हैं। वेद अलौकिक है तथा अपूर्व है। अतएव किसी पुरुष की बुद्धि से उसकी कल्पना नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि वेद ही में काठक कालापकादि नाम आते हैं तथा मन्त्र के द्रष्टाऋषि होते हैं। अतएव वेद अपौरुषेय नहीं, यह "वेदांश्चैके पुरुषाख्या।" १-१-२७॥ इस सूत्र का भाव है और "अनित्य दर्शनाच्च॥" १-१-२८॥ इस सूत्र में जनन-मरण वाला वेदार्थ सुना गया है। यथा "ववरःप्रावाहणिरकामयत,कुसुरुविन्दःऔद्दालिकिरकामयत।" इत्यादि—"प्रवहण के पुत्र ववर ने कामना की। उद्दालक के पुत्र कुसुरुविन्द ने कामना की, इससे यह सिद्ध होता है कि ववर, कुसुरुविन्द से पूर्व वेद नहीं था अतएव अनित्य है।

अब इसका समाधान करते हैं "उक्तं तु शब्द पूर्वत्वम्।" १-१-२९ "आख्या प्रवचनात्॥" १-१-३०॥ काठकादि नाम प्रवचन की अतिशयता से हो गया है। ऋषि लोग मन्त्र के द्रष्टा हैं कर्ता नहीं। वे भी अनादि हैं और मन्त्र भी अनादि हैं। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान ईश्वर ने वेद रचा तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। क्योंकि बिना वेद के ईश्वर की सिद्धि नहीं और बिना ईश्वर की सिद्धि के वेद की सिद्धि नहीं, यदि ईश्वर ने वेद की रचना की है ऐसा मान भी लें तो कब वेद की रचना की, यदि कहा जाय सृष्टि के आरम्भ में तो कौन सी सृष्टि के आरम्भ में, यदि कहा जाय कि प्रथम सृष्टि के आरम्भ में तो प्रथम सृष्टि कौन सी है ? इस प्रकार विचार करने पर वेद की रचना के समय का तथा उसके कारण का सिद्ध होना दुर्घट है। अतएव जबसे संसार है तबसे ईश्वर

और वेद है। पूर्व मीमाँसा के मूल सूत्र में ईश्वर का विचार नहीं है इतने से ही कुछ लोग इसको अनीश्वरवादी कहते हैं किन्तु जिस दर्शन का जो विषय होता है, उसीको वह सिद्ध करता है। ईश्वर का विचार वेदान्त दर्शन में है, इसके मूल में तो आत्मा का भी विचार नहीं है। किन्तु आत्मा शरीर से भिन्न है तभी इस शरीर के द्वारा किये कर्मों के फल को अन्य शरीर में तथा स्वर्गादि लोक में जाकर भोगता है। अतएव आत्मा का विचार भाष्य तथा टीकाकारों ने किया है। मीमांसा के टीकाकारों का यह भी मत है कि शरीर से सम्बन्ध होना बन्धन है, उसका अभाव ही मोक्ष है। अभिप्राय यह है कि कर्म से निष्पन्न शरीर का जो ध्वंस है और जो अनुत्पन्नों का प्रागभाव है वह मोक्ष है। कर्म निमित्त से जो बन्ध है उसकी निवृत्ति कर्म क्षय से होती है। उस कर्म का क्षय तब होता है जब शरीर से भिन्न अनन्त अजर दुःख से रहित आत्मा का ज्ञान होता है। उस ज्ञान के अनन्तर जो शरीर संप्रयोग से विरक्त होता है, उसका कर्म क्षय, फल उपभोग से होता है। उसके अनन्तर कर्म निमित्तक शरीर के पतन होने पर अनागत कर्मों के अनुष्ठान न होने से ही उसकी असत्ता है। अतएव अन्य शरीर के उत्पन्न न होने से शरीर से अत्यन्त सम्बन्ध रहित हो जाता है, उसका ही नाम मोक्ष है। अपवर्ग है और स्वर्ग में सुख की तार तम्यता होती है, और वह नाशवान् भी है। यह कुछ मीमांसक टीकाकारों का मत है। कुछ तो स्वर्ग को ही नित्य मानते हैं।

मीमांसक सृष्टि और प्रलय को भी नहीं मानते। अनादि और अनन्त रूप से जगत का प्रवाह चलता रहता है यदि ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न करता है तो किस फल की इच्छा से उत्पन्न करता है। क्योंकि बिना किसी प्रयोजन के कोई मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।

यदि कहा जाय कि जीवों के ऊपर दया करके ईश्वर सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है तो यह कथन उचित नहीं, क्योंकि जब किसी को दुखी देखा जाता है, तब दया उत्पन्न होती है। सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व जीव को कोई दुःख प्राप्त नहीं होता। अतएव जीव पर दया करने के निमित्त के अभाव से ईश्वर की अनुकम्पा से सृष्टि में प्रवृत्ति होती है, यह कथन उचित नहीं। यदि कहा जाय कि दुःख न होने पर भी सुख का अभाव रहता है, अतएव सुखाभाव रूप निमित्त से अनुकम्पा ईश्वर में होती है। यदि ऐसा है तो ईश्वर जीवों पर अनुकम्पा करके सुख को ही उत्पन्न करे दुख को उत्पन्न कभी न करे। किंतु यह सृष्टि सुख-दुःख रूप देखी जाती है। ईश्वर में स्वतः कोई प्रयोजन है ऐसा कह नहीं सकते। क्योंकि वह आप्त काम है। यदि कहा जाय कि क्रीड़ा के लिए सृष्टि में ईश्वर की प्रवृत्ति होती है तो यह भी आप्त सुख में नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि वह आप्त सुख नहीं है तो उसकी कृतार्थता भंग हो जायगी, और अल्प क्रीड़ा भी आनन्द देती है। इस वृहत् जगत् की रचना से ईश्वर को क्या आनन्द प्राप्त होता होगा? अतएव ईश्वर क्रीड़ाके लिए सृष्टि करता है यह सिद्धान्त ठीक नहीं। यदि मान लिया जाय कि अनुकम्पा से सृष्टि करता है, तो प्रलय किस कारण से करता है, यदि कहा जाय कि वह भी अनुकम्पा से तो यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि प्रलय से तो जीवों को दुःख होता है. दुःख देना ईश्वर की अनुकम्पा नहीं कही जा सकती। और यह सृष्टि किसी साधन से ईश्वर रचता है या बिना साधन से? यदि कहा जाय साधन से तो उस समय साधन का अभाव रहता है। यदि कहा जाय, कि धर्माधर्म साधन रहता है तो उसका भी सृष्टि से पूर्व अभाव रहता है। यदि कहा जाय बिना साधन के सृष्टि करता है तो बिना साधन के कोई कार्य होता नहीं। यदि कहा जाय कि यह ईश्वर का स्वभाव है तो स्वभाव भी बिना

किसी निमित्त के कार्य करने में समर्थ नहीं होता। अतएव इस जगत का कोई स्रष्टा नहीं। इसी प्रकार का जगत प्राणियों के कर्मानुसार प्रवाह रूप से चलता रहता है।

मीमांसा के टीकाकार प्रभाकर अख्यातिवादि नाम से प्रसिद्ध हैं। शुक्ति में यह रजत है, इस ज्ञान का भ्रमत्व ही नहीं स्वीकार करते। उनका मत है संसार में जो कुछ ज्ञान है सब प्रमा ही है। यदि सब प्रमा ज्ञान ही है तो रजत का चाहने वाला शुक्ति में क्यों प्रवृत्त होता है, तो उसका कारण सुनिये! यह रज़त है यहाँ पर दो ज्ञान हैं। यह सामने प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। इसमें दोष के कारण शुक्तित्व विशेष का ग्रहण नहीं होता। केवल शुक्ति मात्र को ग्रहण करता हुआ, उसकी समानता वाले संस्कार के उद्बोध क्रम से रजतकी स्मृति हो जाती है। अतएव शुक्ति को रजत जानकर उधर प्रवृत होजाता है। वहां से दोष के वश से रजत और शुक्ति भिन्न हैं, इसका ज्ञान नहीं होता। यहां सादृश्य दोष है, इस मत को भाट्ट लोग नहीं मानते, वे विपरीत ख्याति मानते हैं। विपरीत ख्याति को ही अन्यथा ख्याति भी कहते हैं। उनका कथन है कि केवल विवेकाग्रहण को ही भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कहीं-कहीं विवेक के होने पर भी भ्रान्ति होती है, जैसे चन्द्रमा एकही है दो नहीं, इस बात का अनुसंधान करता हुआ भी पुरुष अंगुलि से पीड़ित दृष्टि के कारण दो चन्द्रमा देखता है। कभी २ दिशा को जानता हुआ भी भ्रम में पड़ जाता है, अतएव विवेक ग्रहण न होने से शुक्ति में रजत की प्राप्ति होती है, यह नहीं कह सकते। अतएव अन्यत्र स्थित पदार्थ अन्यत्र ग्रहण किया जाता है, इस अन्यथा ख्याति को ही मानना चाहिए। ख्यातियों का विचार अति सूक्ष्म है, इस प्रकार मींमांसा

के टीकाकारों में कई बातों में मत भेद है, वह मूल की टीकाओं में ही देखना चाहिए।

मीमांसक मानते हैं कि समस्त वेद विधि-निषेधात्मक है, अर्थात् वेद किसी का विधान और किसी का निषेध करता है। जो वेद इससे रहित है, वह इसी विधि-निषेध के लिये अर्थवाद रूप है, वह कहीं निन्दारूप में होता है कहीं प्रशंसा रूप में, जैसे कहा गया है कि वायु शीघ्रगामी देवता है। "वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता" यह स्तुति रूप अर्थवाद है। "यो वर्हिषि रजतंदद्यात् पुराऽस्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवति-सोऽरोदीत्।" जो वर्हिष् नामक यज्ञ में रजत देता है संवत्सर से पहिले ही उसके गृह में रुदन होता है। "वह रोया।" इत्यादि निन्दारूप अर्थवाद है मीमांसा दर्शन में विधि-निषेध का ही विशेषरूप से विचार है। विधि कई प्रकार की होती है यह कुमारिल भट्ट के अनुयायी "शब्द भावनाविधि" मानते हैं, और प्रभाकर मतानुयायी नियोग विधि मानते हैं। इष्ट साधनता विधि तार्किकादि मानते हैं। सभी विधियाँ चार प्रकार की हैं १ उत्पत्ति, २ अधिकार, ३ विनियोग, ४ प्रयोग। इन्हीं में नियम परिसंख्या अपूर्वादि का भी अन्तर्भाव है। इसमें देवता और कर्म स्वरूप मात्रबोधक विधि, उत्पत्ति विधि कहलाती है, यथा "आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" इत्यादि। इतिकर्तव्यता के सहित करण यागादि के स्वर्गादिफल सम्बन्ध बोधक-विधि, अधिकार विधि कहलाती है। यथा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेत्" स्वर्ग की कामना वाला दर्शपूर्णमास से यजन करे। अङ्गसम्बन्ध-बोधक विधि, विनियोग विधि कहलाती है। यथा "व्रीहिभिर्यजेत्" व्रीहि से यजन करे। साङ्ग प्रधान कर्म प्रयोग की एकता बोधक विधि-प्रयोगविधि है। कर्म स्वरूप दो प्रकार का है.

१ गुण कर्म, और २ अर्थ कर्म। उसमें क्रतुकारकों को आश्रय करके विहितकर्म–गुणकर्म है। वह भी चार प्रकार का है १ उत्पत्ति, २आप्ति,विकृति,४ संस्कृति "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" (वसन्त में ब्राह्मण अग्न्याधान करे। "यूपंतक्षति" इत्यादि उत्पत्ति विधि है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।" "गां पयोदोग्धि" इत्यादि प्राप्ति विधि है। "सोममभिपुणोति, व्रीही नवहन्ति" इत्यादि प्राप्तिविधि है। "व्रीहीन् प्रोक्षति" "पत्न्यवेक्षते" इत्यादि संस्कार विधि है।

क्रतुकारक का आश्रय न करके विहित अर्थ कर्म है। वह भी दो प्रकार का है, १—अङ्ग, २—प्रधान। अन्यार्थ अङ्ग होता है और अनन्यार्थ प्रधान होता है। अङ्ग भी दो प्रकार का है १ सन्निपत्योपकारक, २ आराद्उपकारक। प्रधान स्वरूप का निर्वाह प्रथम है जैसे आवाहन प्रोक्षणादि फलोपकारि, दूसरा प्रयाजादि। इस प्रकार सम्पूर्ण अङ्ग संयुक्त विधि प्रकृति है। विकलाङ्ग संयुक्त विधि विकृति है, उन दोनों से बिलक्षण विधि दर्वी होम है। इस प्रकार मीमांसा में विधियों के विवेचन हैं, जो विधायक वचन नहीं हैं। वे इन्हीं विधियों के साथ एक वाक्यता के लिये अर्थवाद रूप हैं। वह अर्थवाद भी तीन प्रकार का है (१) गुणवाद, (२) अनुवाद, और (३) भूतार्थवाद।

उसमें प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थ का बोधक गुणवाद है जैसे "आदित्यो यूपः॥" प्रमाणान्तर से प्राप्त अर्थ का बोधक अनुवाद है जैसे, "अग्निर्हिमस्य भेषजम्॥" प्रमाणान्तर विरोध की प्राप्ति से रहित बोधक भूतार्थवाद है। जैसे "वज्र हस्तः पुरन्दरः।" इन्हीं सब बातों के विचार के लिये मीमांसा का निम्नाङ्कित सूत्र है "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् तस्मादनित्य-

मित्युच्यते ॥ १-२-१ ॥ १—वेद का क्रिया के लिये होने से जो क्रिया के लिये नहीं हैं उनका आनर्थक्य क्य है, अतः वह अनित्य कहा जाताहै। "विधिनात्वेक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" । १-२-७ ॥ विधि के साथ एक वाक्यता होने से विधि की स्तुति के लिये हैं, इस प्रकार इसका विस्तार से विचार किया गया है। मीमांसा दर्शन में मुख्य प्रमाण वेद को माना है। वेद विरुद्ध अन्य किसी भी प्रमाण को स्वीकार नहीं किया गया है। यदि स्मृति भी वेद विरुद्ध हो तो वह भी अप्रमाण है। वेद के विधि बचनों की संगति अनेक प्रकार से विस्तार पूर्वक मीमांसा दर्शन में की गई है। यहां विस्तार भय से सब का उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

मीमांसा पर किये गये आक्षेपों का पुनः समाधान

कुछ आधुनिक लोगों का कथन है कि "मीमांसा वैदिक काल से चले आये पुरोहित श्रेणी का—अपनी जीविका को सुरक्षित रखने के लिये—अन्तिम प्रयत्न था। उपनिषद् काल के आस पास धर्म और स्वर्ग के नाम पर होने वाली मुँह बांध कर या दूसरे ढंग से की गई पशु हत्याओं तथा टोटके जैसी क्रियाओं से बुद्धि बगावत करने लगी थी। उपनिषद् ने यागों का स्थान थोड़ा नीचा कर ब्रह्म ज्ञान को ऊंचे स्थान पर रख ब्राह्मणों को नये धर्म का पुरोहित ही नहीं बनाया, वल्कि पुराने यज्ञ-यागों का पितृयान का साधन मान पुरानी पुरोहिती को भी हाथ से नहीं जाने दिया॥"

यह कथन वेद के तत्व को न जानने से ही है। पूर्व मीमांसा में धर्म का विचार किया गया है। उसको युक्तियों से सिद्ध किया

~~सिद्धान्त ठीक नहीं तो क्यों, यदि कहा जाय कि इनके द्वारा उनके~~

गया है। ब्राह्मण तो पुरोहित कर्म को निन्दित मानते थे यज्ञ से यजमान का भी कल्याण होता है। अतएव मीमांसा में केवल पुरोहिती कर्मों को ब्राह्मण के लिये सुरक्षित करने का प्रयत्न नहीं है। किन्तु सर्व मानव कल्याण के लिये धर्म का विचार है। ऐसे ही उपनिषदों में वास्तविक तत्व का वर्णन है तथा उस तत्व के साधन की प्राप्ति के लिये कर्म का भी वर्णन है, वेदों में ही उपनिषद् हैं। उपनिषद् काल अन्य है, वैदिक काल अन्य है, यह कथन विचार शून्य पुरुषों का है। वेद का ही एक भाग उपनिषद् है, उसमें उपासना और ज्ञान का वर्णन है। कर्म का वर्णन शेष वेद भाग में है, कर्म उपासना ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध है। जो मनुष्य जिसका अधिकारी है, वह उसके लिये उत्तम है। इनमें कोई नीच या ऊंच नहीं। अतएव जो कुछ वेद में लिखा है, उसको मानना चाहिए।

वेद तथा वेद प्रतिपादित धर्मखण्डन के लिये बौद्धादि मत में प्रबल प्रयत्न किया गया है। कुछ लोग बुद्ध को बुद्धिवादी कहते हैं। बुद्धिवादी का अभिप्राय यह है कि जो कुछ बुद्धि में जँचे उसी को मानना। किन्तु यह सिद्धान्त ही बुद्धि में नहीं जँचता। बुद्ध का सिद्धान्त स्वयं बुद्ध के द्वारा ही समय २ पर परिवर्तित होता रहा है। यदि बुद्धिवाद सही है तो एक समय में जो बुद्धि में आये या समय समय पर बुद्धि परिवर्तन के द्वारा उसका भी परिवर्तन होता रहे, ऐसा मानने पर कोई भी सिद्धान्त निश्चित नहीं हो सकता। तथा किसी एक की बुद्धि में जो जचे या सबकी, यदि एकको तो क्यों, क्या अन्य में बुद्धि नहीं है। यदि कहा जाय नहीं तो क्यों ? संसार में तो यही देखा जाता है कि सभी सिद्धान्तवादी अपने २ सिद्धान्त को अपनी बुद्धि से ही सिद्ध करते हैं। यदि कहा जाय कि सबका

सिद्धान्त ठीक नहीं तो क्यों ? यदि कहा जाय

दुःख निवृत्त नहीं होते, तो यह कैसे जाना गया। यदि कहा जाय अनुमान से, तो अनुमान निर्दोष है, इसमें क्या प्रमाण? यदि उससे भिन्न कोई प्रमाण नहीं तो उसकी सिद्धि नहीं होगी यदि कोई अन्य प्रमाण है तो उसी से सबकी सिद्धि होगी अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार अनेक युक्तियों से बुद्धिवाद बुद्धि में जँचता नहीं। वास्तव में बुद्ध का क्या सिद्धान्त था? इसका ठीक पता नहीं चलता क्योंकि उनका लिखा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। वे मौखिक ही उपदेश करते थे। उनके शिष्य उसको कण्ठ कर लेते थे उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने उन उपदेशों को लिपिबद्ध किया, अतएव उनके शिष्यों में मतभेद है। सबको विचारने से सारांश यह निकलता है कि दार्शनिक सिद्धान्त उनका कुछ निश्चित सा नहीं था। वे व्यावहारिक आचरण पर ही अधिक बल देते थे, निवृत्ति मार्ग का उपदेश करते थे, अपने से अधिक किसी अन्य को बुद्धिमान नहीं मानते थे और अपने बचन को ही सर्वोपरि मानते थे। किन्तु समय समय पर उनके उपदेशों में परिवर्तन उनके शिष्यों के आग्रह से भी होता गया। पश्चात् उनके शिष्यों में भी अधिक मतभेद होगया। उनके बचनों का विभिन्न अर्थ लगाकर दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादकों में तथा व्यावहारिक आचारों में भी अनेक मत हो गए, अतएव उनका सिद्धान्त बुद्धिवाद के अनुकूल नहीं था। विशेषकर उनके सिद्धान्तों का विचार बौद्धदर्शन सिद्धान्त के विचार में करेंगे, यहां पर प्रसंगतः कुछ लिख दिया है। मीमांसा में वेद की प्रमाणता पर ही अधिक बल दिया गया है यह प्रथम लिख आये हैं। उसी को भाष्य वार्तिक तथा अन्य टीका ग्रन्थों में युक्तियों के द्वारा पुष्ट किया गया है। जिनके द्वारा सभी विरुद्ध मतावलम्बियों की युक्तियों का खण्डन हो जाता है। मीमांसकों की ही युक्तियों का अवलम्बन अन्य वेद को प्रमाण मानने वालों ने

ग्रहण किया है। अतएव पूर्व मीमांसा का अध्ययन सब को करना चाहिए। यद्यपि इसका अध्ययन आधुनिक लोगों को नीरस प्रतीत होता है, तथापि इसके तत्व को जानने के लिये अवश्य अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि बिना इसका अध्ययन किये इसके वास्तविक सिद्धान्त का ज्ञान नहीं हो सकता। वर्तमान समय में लोग मूल-ग्रन्थों का अध्ययन नहीं करते, अँग्रेजी अथवा हिन्दी अनुवाद को देखकर अपने आपको मीमांसा का ज्ञाता समझ कर उसकी आलोचना करने लगते हैं। अनुवादक तथा आलोचक की बुद्धि यदि किसी विशेष सिद्धान्त से प्रभावित है तो उसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिये अर्थ का अनर्थ कर सकती है। यदि इसके वास्तविक अर्थ को समझना हो तो इसका अध्ययन आचार्य के द्वारा ही करना चाहिए। इस मीमांसा दर्शन में बहुत से विधि वाक्यों का विचार है। इस पर भाष्य वार्तिक टीका तथा निबन्ध विस्तार से हैं, हमने तो संक्षेप में ही इसका सिद्धान्त लिख दिया है। पूर्ण ज्ञान के लिये सम्पूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए, इसके अनन्तर वेदान्त दर्शन का विचार किया है।

वेदान्त दर्शन सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन का क्या सिद्धान्त है, इसमें अधिक विप्रतिपत्ति है क्योंकि इस पर अनेक भाष्यकारों के भाष्य हैं। सबने अपने २ अनुकूल अर्थ लगाया है। हम प्रथम मूल सूत्रों के अनुसार वेदान्त सिद्धान्त का वर्णन करेंगे, पश्चात् भाष्यकारों के मतों को भी संक्षेप में प्रदर्शित करेंगे। वेदान्त सूत्र के रचना करने वाले वादरायण (व्यास) मुनि हैं। कुछ लोग वादरायण और व्यास को भिन्न भिन्न मानते हैं। इनका प्रादुर्भाव कब हुआ था इसमें भी इतिहासकारों में मतभेद है। पुराणों में भी कई व्यास हो गए हैं, ऐसा वर्णन आता है अतएव इसका वर्णन हम नहीं करेंगे, जैसी जिसकी समझ हो वैसा ही वह समझै।

वेदान्त दर्शन के सूत्रों में उनिषद के वचनों को लेकर विचार किया गया है, अतएव उपनिषदों का जो सिद्धान्त है उसी का प्रतिपादन इसमें भी है। किन्तु उपनिषदों का सिद्धान्त क्या है? इसमें भी भाष्यकारों का मतैक्य नहीं। उपनिषदों पर भी अनेक भाष्य हैं। अतएव उनके सिद्धान्तों के विवेचन के लिये मूल का ही आश्रय लेना पड़ता है। मूल शब्द से क्या अर्थ निकलता है, इसको भी हम यथा स्थान पर प्रदर्शित करते जायेंगे।

वेदान्त दर्शन में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं, प्रथम अध्याय को समन्वयाध्याय, द्वितीय को विरोध परिहार,

तृतीय को साधनाध्याय एवं चतुर्थ को फलाध्याय कहते अब प्रथम अध्याय के अर्थका विचार करते हैं और उसमें पहिले प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र का भावार्थ लिखते हैं "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" जैसे पूर्व मीमांसा में "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्र है वैसे ही यहाँ यह सूत्र है। जैसे वहां पर अर्थ किया जाता है कि वेदाध्ययन के अनन्तर धर्म का विचार करना चाहिए। ऐसे ही यहां पर भी यही अर्थ उपयुक्त है कि वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्म का विचार करना चाहिए। क्योंकि धर्म और ब्रह्म के ज्ञान में वेद ही मुख्य प्रमाण है। यदि प्रथम प्रमाण का ज्ञान न होगा तो प्रमेय का ज्ञान कैसे हो सकता है ? अतएव वेद का अध्ययन आवश्यक है, किन्तु ब्रह्म विचार के लिये कुछ साधन भी अपेक्षित हैं, क्योंकि ब्रह्म अति सूक्ष्म है बिना सूक्ष्म बुद्धि के ब्रह्म का विचार नहीं हो सकता। उस बुद्धि की सूक्ष्मता संपादन के लिये प्रथम निष्काम भाव से स्वधर्माचरण की आवश्यकता होती है। जिसने इस जन्म या पूर्व जन्म में निष्काम भाव से उपासना के सहित स्वधर्म का अनुष्ठान कर लिया है, उसकी बुद्धि में विवेक उत्पन्न होता है। विवेक के द्वारा वह निश्चय करता है कि इस संसार के पदार्थों में वास्तविक सुख नहीं है और जिनके नहीं वे भी दुःखी हैं। क्योंकि जिनके समीप वे सब पदार्थ उपलब्ध हैं वे भी दुःखी हैं। इस प्रकार अनेक युक्तियों से जब विचार कर लेता है, तब सब वस्तुओं से वैराग्य होता है अर्थात् शरीर निर्वाह के लिये ही वस्तुओं का उपयोग करता है। जब विवेक और वैराग्य हो जाता है तब मन में शान्ति आती है, जिसको शम कहते हैं। शम के होने पर समस्त इन्द्रियां वश में हो जाती हैं इसी को दम कहते हैं। जब शम–दम प्राप्त हो जाते हैं तभी सब दुःखों के सहन करने की शक्ति आती है। सब दुःखों को चिन्ता विलाप के बिना सहन करने को तितिक्षा कहते हैं।

जबतितिक्षा होगी तब सब कर्मों से उपरति होगी, अर्थात् सांसारिक कर्मों में अधिक प्रवृत्ति नहीं होगी। अथवा अपना कर्तव्य समझ कर कर्म करेगा, उसमें आसक्ति नहीं होगी तभी चित्त समाहित होगा अर्थात् चित्त की चञ्चलता निवृत्त हो जायगी। किन्तु यदि श्रद्धा का अभाव है तो कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता अतएव गुरु और शास्त्र के वचन में विश्वास होना आवश्यक है, इसीका नाम श्रद्धा है। इतना होने पर मुमुक्षुता–संसार के बन्धन से मुक्ति की इच्छा होगी। यदि किसी प्रकार मुमुक्षुता हो जाय तो सब साधन अपने आप ही आसकते हैं। अतएव विवेक, वैराग्य, शमदमादिषट सम्पत्ति, और मुमुक्षुता, इन चार साधनों से युक्त हुआ पुरुष ही ब्रह्म विचार का अधिकारी है। यदि ये साधन नहीं हैं तो ब्रह्मज्ञान की दृढ़ता नहीं होसकती, अतएव इन साधनों से युक्त होकर ही ब्रह्म का विचार करना चाहिए।

इसका वर्णन प्रायः सभी उपनिषदों में आता है। यथा—ईशावास्य में **"मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥"** किसी के धन की अभिकांक्षा मत करो, **"त्यक्तेनभुञ्जीथा।"** त्याग से भोजन करो। केन में **"तस्यै तपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठा।"** तप–दम–कर्म आदि उस उपनिषद् (ब्रह्म विद्या) की प्रतिष्ठा हैं, **"सत्यमायतनम्।"** सत्य आयतन है।

कठ में तो नचिकेता को परम विरक्त कहा गया है तथा विवेकी भी कहा गया है। पिता ने जब बूढ़ी गौओं का दान किया तभी उसके मन में विवेक उत्पन्न हुआ। पिता के शाप से जब यमके समीप गया तब यमने प्रसन्न होकर तीन वरदान दिये। नचिकेता प्रथम अपनी पिता की प्रसन्नता का तथा क्रोधादि की शान्ति का वरदान मांगता है दूसरे वरदान से स्वर्ग्य–अग्नि के विषय का वरदान मांगता है और तीसरे से आत्मज्ञान मांगता है।

वह यम के प्रलोभन देने पर भी आत्म विषयक जिज्ञासा का परित्याग नहीं करता यह कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली में 'उशनवैवाजश्रवसः' से लेकर 'यस्मिन्निदं' इत्यादि मन्त्र तक वर्णन है। जब नचिकेता सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करता है तब यम बहुत ही प्रसन्न होते हैं और नचिकेता को विस्तार से ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं। मुण्डक में लिखा है कि **"परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थंगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः" श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥"** ब्राह्मण कर्म से चयन किये हुए लोकों की परीक्षा करके निश्चय करे कि अकृत (ब्रह्म) कृत (कर्म) से नहीं प्राप्त होता उस ब्रह्म को जानने के लिये हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरू के पास जाय।

छान्दोग्य में प्रथम उपासना का विस्तार से वर्णन किया है पुनः श्वेतकेतु के अहंकार की शान्ति के लिये ब्रह्म विद्या का उपदेश किया है। तथा नारद और सनत्कुमार के संवाद में भी वैराग्य की तथा विवेक की झलक है। उपनिषदों के अध्ययन से पता लगता है कि जिनमें साधन चतुष्टय थे उनको ही ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है। यदि साधन नहीं थे तो साधनों का उपदेश किया गया है। क्योंकि साधन के बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती। जिसमें साधन होता है उसको श्रवण मात्र से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। जिसमें साधन नहीं होता है उसको साधन करके अभ्यास के द्वारा प्राप्त करना पड़ता है। अतएव वेदाध्ययन और विवेकादि साधन चतुष्टय के अनन्तर ही ब्रह्म का विचार करना चाहिए। वह ब्रह्म क्या है? जिसका बिचार करना चाहिए। ऐसा प्रश्न होने पर अब ब्रह्म का लक्षण बतलाते हैं। **"जन्माद्यस्य यतः।"** १–१–२॥ इस दृश्यमान जगत् का जिससे

जन्म, स्थिति और भङ्ग होता है वह ब्रह्म है। यह केवल अनुमान है इसी कारण इस लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिससे यह संसार उत्पन्न होता है, तथा जिससे स्थिति को प्राप्त होता है और अन्त में लय होता है वह ब्रह्म है। यह सूत्र तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार ब्रह्म का लक्षण कर रहा है। उसमें इस प्रकार वर्णन है कि भृगु ऋषि अपने पिता वरुण के समीप गये और उनसे कहा कि हे भगवन्! ब्रह्म को बतलाइये तब उन्होंने यह बचन कहा "यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति ॥" जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं जिससे उत्पन्न जीते हैं, जिसमें लय हो जाते हैं वह ब्रह्म है उसका विचार करो। अतएव उन्होंने विचार किया, विचार करके जाना कि अन्न ब्रह्म है। इस प्रकार क्रमशः प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द को ब्रह्म निश्चय किया, अन्त में आनन्द को ही ब्रह्म माना है। इसका वर्णन "आनन्द मयोऽभ्यासात् ।" १-१-१२। सूत्र में किया है। यहां पर आनन्द से ही इस जगत की उत्पत्ति आदि का वर्णन है यथा—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।" आनन्द से ही यह सब भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्द से उत्पन्न हुये जीते हैं और आनन्द में ही लय होजाते हैं। अतएव यह आनन्द ब्रह्म है, यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। इसी को तैत्तिरीय श्रुति में सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।" का स्वरूप लक्षण किया है। यह प्रत्येक ब्रह्म का स्वरूप है। सत्यस्वरूप ब्रह्म है, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है, अनन्त स्वरूप ब्रह्म है, आनन्द स्वरूप ब्रह्म है। अभिप्राय यह है कि जो सत्य है वही ज्ञान है, वही अनन्त है और वही आनन्द है। इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को उत्तम रीति से समझाया है। उसको ही देखना चाहिए।

विस्तार भय के कारण सब का उद्धरण यहां पर नहीं करते हैं। जो ब्रह्म सर्वज्ञ और सबका कारण है जिसको पूर्व सूत्र में अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है उसके विषय में केवल शास्त्र ही प्रमाण है। इस बात को सिद्ध करने के लिये यह सूत्र है—"शास्त्र योनित्वात्" १–१–३ ॥ इस सूत्र का दो प्रकार का अर्थ है शास्त्र का योनित्व (कारण) होने से ब्रह्म है, अर्थात् उस ब्रह्म के यथावत् स्वरूप के ज्ञान में शास्त्र प्रमाण है अतएव ब्रह्म है। अभिप्राय यह है कि अनेक विद्या स्थानों से उपबृंहित प्रदीप के समान सर्व अर्थ का प्रकाशक और सर्वज्ञकल्प जो ऋग्वेदादि शास्त्र हैं उनका कारण ब्रह्म है। क्योंकि जो सर्वज्ञादि गुणों से रहित है, उससे इस प्रकार के ऋग्वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि संसार के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति तथा धर्म आदि का वर्णन वेद में ही है। अल्पज्ञ पुरुष उसका निर्माण कर नहीं सकता अतएव सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् ईश्वर से ही उसका प्रादुर्भाव होता है। ईश्वर भी उसको नवीन रूप से कभी बनाता नहीं किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में वह अनादि सिद्ध वेदादि शास्त्र का आविर्भाव करता है। अतएव पूर्व मीमांसा के ही अनुसार उत्तर मीमांसा में भी वेद को अनादि माना गया है तथा उस ब्रह्म के ज्ञान में वेद ही प्रमाण है अन्य प्रमाण केवल सहायक हैं, ब्रह्म का प्रत्यक्ष सबको है नहीं। क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। सृष्टि आदि कार्यों को देखकर कर्त्ता का अनुमान हम कर सकते हैं। किन्तु उसका स्वरूप क्या है इसको अनुमान से नहीं सिद्ध कर सकते हैं। अतएव उसके ज्ञान में शास्त्र का प्रमाण है। उस ब्रह्म के प्रतिपादन में समस्त श्रुतियों का समन्वय है, अतएव वह ब्रह्म है तथा जगत् का कारण भी है। चतुर्थ सूत्र से इसी बात का प्रतिपादन किया है। "तत्तुसमन्वयात् ।" १–१–४ ॥

पूर्व मीमांसा के मत से शास्त्र सब विधि-निषेध का ही उपदेश करता है। अतएव उपनिषद् भाग भी क्रिया विधि के शेष हैं अथवा उपासन रूप विधि के विधायक हैं, इत्यादि संदेहों को दूर करने के लिये समन्वय सूत्र है। जितने उपनिषद् के वचन हैं वे सभी तात्पर्य के द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। यथा "ईशावास्यमिदं सर्वं।" ई० १। "पुरुषएवेदं सर्वम्"। यजु० पु० सू०। यह सब ईश्वर से वास्य (आच्छादनीय) है यह सब पुरुष ही है। "सदेवसोम्येदमग्रआसीत", "एकमेवाद्वितीयम्"। छान्दो० ६-२-१॥ सत् ही पहिले था। एक ही अद्वितीय था। इस प्रकार अनेकों श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन है, उनसे ब्रह्म की सिद्धि होती है और ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान भी होता है, "तत्त्वमसि" ॥ छान्दो० ६-८-७॥ आदि वाक्यों के द्वारा, अतएव वह विधि का शेष नहीं है एवं न उपासना के विधायक ही हैं, क्योंकि उपासना तो कर्ता के आधीन होती है तथा ज्ञान वस्तु के आधीन है। उपनिषद् वस्तु का ज्ञान कराती है ज्ञान के अनन्तर उपासना की आवश्यकता नहीं होती। वास्तविक वस्तु है आत्मा, उसके ही स्वरूप को जनाने के लिये उपनिषद् प्रयत्न करती हैं। वह आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है, ऐसा उपनिषद् के सरल शब्दार्थ से प्रतीत होता है और उस आत्मज्ञान के होने पर जगत् नहीं रहता केवल आत्मा ही रहता है यथा ईशावास्योपनिषद् में लिखा है "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति॥" "सर्वभूतेषु चात्मानम्।" "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः॥" जो सब भूतों को आत्मा में देखता है और सब भूतों में आत्मा को देखता है उस समय ज्ञानी को सब भूत आत्मा ही होजाते हैं। इसी प्रकार केनोपनिषद् में प्रश्न है कि— "केनेषितं पतति प्रेषितंमनः।" इत्यादि किस की प्रेरणा से मन, प्राण और वाणी आदि इन्द्रियां अपने २ व्यापार करती हैं? वहाँ

उत्तर दिया है कि "श्रोत्रस्य श्रोत्रंमनसो मनोयत् ।" इत्यादि । जो श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन है, प्राण का प्राण है इत्यादि तृतीय मन्त्र में ब्रह्म को वागादि इन्द्रियों का अविषय बतलाया है और ज्ञात् अज्ञात् से परे सिद्ध किया है तथा चतुर्थ मन्त्र से लेकर अष्टम मन्त्र तक स्पष्ट रूप से कहा है कि जिसको चक्षु आदि इन्द्रियाँ जानने में समर्थ नहीं हैं और सब का ज्ञाता है "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥" उसीको तुम ब्रह्म समझो जिसकी उपासना करते हो यह ब्रह्म नहीं है तथा कठमें भी यमने नचिकेता के प्रश्न का उत्तर ऐसा ही दिया है "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥" "मनसस्तु परावुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः पुरुषान्न परंकिंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः" इसमें सबसे परे पुरुष को बताया है उससे परे कुछ भी नहीं है, वही आत्मा है क्योंकि अन्त में कहा है कि अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः तंस्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकां धैर्येण ॥" अंगुष्ठमात्र का पुरुष अन्तरात्मा सदा प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट है। उसको जैसे मूंज से सींक धीरे से निकाल लेते हैं, वैसे ही अलग करके जान लेना चाहिये "तं विद्याच्छुक्रममृतम् ॥" उसको शुद्ध अमृत रूप जानै। प्रश्नोपनिषद् के अन्त में है कि "अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः । तंवेद्यंपुरुषंवेदयथामावोमृत्युः परिव्यथाः । तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परंवेदब्रह्मनेदनातः परमस्ति ॥" रथ की नाभि में अरा के समान जिसमें कला (प्राणादि) प्रतिष्ठित् हैं उसी वेद्य पुरुष को जानो ! जिससे तुम लोगों को मृत्यु व्यथित न करै। उन ऋषियों से बोले कि इतना ही मैं जानता हूँ यह परब्रह्म है इससे परे नहीं है।

मुण्डक में भी ऐसा ही अन्त में कहा है।' यथा—"यथानद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपेविहाय। तथा विद्वान्नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मै व भवति।" जैसे बहती हुई नदियां समुद्र में जाकर नाम रूप त्याग कर लीन होजाती हैं वैसे ही विद्वान् नाम रूप से मुक्त हुआ पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है। वह जो निश्चय करके उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है। माण्डूक्योपनिषद् में प्रणव की व्याख्या है। उसके चतुष्पाद में ब्रह्म का वर्णन है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ, व्यष्टि के अभिमानी और विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वर समष्टि के अभिमानी हैं, अकार, उकार, मकार के वाच्य हैं, यही तीन पाद हैं। चतुर्थपाद नान्तःप्रज्ञ, न वहिः प्रज्ञ, न उभयतः प्रज्ञ और न प्रज्ञान घन है। न प्रज्ञ है न अप्रज्ञ, किन्तु वह अदृष्ट, अव्यवहार्य्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्म प्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव और अद्वैत है। प्रणव का तुरीयपद अमात्र, अव्यवहार्य्य, प्रपञ्चोपशम, और शिव अद्वैत है। इस प्रकार जो प्रणव को जानता है वह आत्मा ही होता हुआ आत्मा में प्रवेश करता है। इसके विशेष अर्थ को शाङ्करभाष्य तथा माण्डूक्य कारिका में देखना चाहिए। तैत्तिरीयोपनिषद् में सच्चिदानन्द रूप से ही आत्मा का वर्णन करके पञ्च कोशातीत कहा है और ऐतरेय में भी ऐसा ही प्रश्न तथा उत्तर हुआ है अन्त में "प्रज्ञानं ब्रह्म" इस वचन से प्रज्ञान को ही ब्रह्म कहा है छान्दोग्य में आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को नव बार "तत्त्वमसि" महावाक्य का उपदेश करके आत्मा को ही ब्रह्म सिद्ध किया है तथा नारद और सनत्कुमार के संवाद में भूमा ब्रह्म का उपदेश है, यथा "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।"

जहां न अन्य को देखता है, न सुनता है, न जानता है वह भूमा है, वही ब्रह्म आत्मा है। बृहदारण्यक के कई स्थानोंमें जनक याज्ञवल्क्य के संवाद में आत्मा को ही ब्रह्म सिद्ध किया है। विस्तार भय से सब श्रुतियों को नहीं लिख रहे हैं। जितनी भी उपनिषद् वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, उन सभी में ब्रह्म को ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा जगत् का कारण सिद्ध किया है। महावाक्यरत्नावली में प्रायः सभी उपनिषदों के महावाक्यों का संग्रह है। उसका हिन्दी अनुवाद भी हमने कर दिया है उसको देखना चाहिए। इस प्रकार "तत्तुसमन्वयात्" सूत्र से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ब्रह्म का बोध वेदान्त शास्त्र से ही होता है। क्योंकि समस्त श्रुतियों का समन्वय उसी में है इस बात को संक्षेप में दिखला दिया है। पुनः "ईक्षतेर्नाशब्दम्" ॥१-१-५॥ इस सूत्र से प्रकृति में ईक्षितृत्व का खण्डन किया है, इसमें यह दिखलाया है कि किसी भी श्रुति में प्रकृति को कारण नहीं कहा गया है जैसे उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र को ब्रह्म का उपदेश करते हुये कहा कि "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्"। हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व सत् ही था, उसी ने ईक्षण किया। यदि कहा जाय कि यहाँ पर सत् शब्द से प्रधान का ही ग्रहण करेंगे तो प्रधान जड़ है। जड़ में ईक्षण नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि गौण्य ईक्षण प्रधान में भी हो सकता है तो नहीं, क्योंकि उसी प्रकरण में उसी सत् को आत्म शब्द से कहा है। "अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्य-नामरूपेव्याकरवाणि" ॥६-३-२॥ मैं इस सद्रूप जीवात्मा के द्वारा प्रवेश करकेनाम रूप का व्याकरण करता हूँ और आगे उसी सत् में स्थित हुए जीवको मोक्ष का उपदेश है। यथा"स आत्मा तत्त्वमसि"आदि।

यदि अनात्मा ही सत् शब्द का वाच्य होता तो उसको हेय कहना चाहिए था किन्तु ऐसा कहा नहीं गया है अतएव सत् शब्द का

वाच्य प्रधान नहीं है और उसी सत् में 'सुषुप्ति अवस्था में' लय होने को कहा है। "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" हे सौम्य ! उस समय सत् से सम्पन्न होता है और ऐसा ही वर्णन अन्य श्रुतियों में भी है "यथा अग्नेर्ज्वलतः सर्वादिशोविस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनःसर्वेप्राणायथायतनंविप्रतिष्ठन्ते"। कौशीत० ३-३॥ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ॥" तैत्तरीय २-१॥ "आत्मनः एवेदं सर्वम् ॥" छान्दो० ७-२६-१॥ "आत्मनः एषप्राणोजायते ।" प्रश्नो० ३-३ ॥ इत्यादि श्रुतियों में आत्मा के ही कारणत्व का कथन है अतएव प्रधान कारण नहीं है, आत्म शब्द का अर्थ चेतन है यह अनेक श्रुतियों में वर्णित है। वह आत्मा ब्रह्म रूप है और ब्रह्म आनन्द रूप है, उसी से सृष्टि होती है, यह प्रथम में कहा है अब उसी आनन्द रूप ब्रह्म का विचार करते हैं। ब्रह्म के दो रूप हैं (१) नाम-रूप आदि उपाधि से युक्त तथा (२) उनसे रहित, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है। "यत्रहिद्वैतमिवभवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ॥ ४-५-१५ ॥ जहाँ ब्रह्म द्वैत के समान होता है, वहाँ इतर इतर को देखता सुनता आदि है। जहां सब एक आत्मा ही होता है वहाँ कौन किसको देखे ? कौन किसको सुने ? इत्यादि, तथा छान्दोग्य में है, "यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्य न्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥ " छान्दो० ७-२४-१॥ जहां अन्य को न देखता है न सुनता है न जानता है वह भूमा है, जहां अन्य को देखता सुनता जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है जो अल्प है वह मर्त्य है इत्यादि, और भी श्रुतियां हैं जो

ब्रह्म के दो स्वरूपों का कथन करती है। अविद्यावस्था में ब्रह्म का उपास्य-उपासक आदि सब व्यवहार होता है। ब्रह्म की कई उपासनायें अभ्युदय प्राप्ति के लिये हैं कोई क्रममुक्ति के लिये हैं, कोई कर्म समृद्धि के लिये हैं। उनका गुण रूप उपाधि विशेष से भेद है, वास्तव में परमात्मा एक ही है। किन्तु उन गुण विशेषों से विशिष्ट उपास्य होता है, उसी के अनुसार फल में भी भेद हो जाता है। क्योंकि जो मनुष्य जिस प्रकार का संकल्प करके उपासना करता है उसको उसी प्रकार का फल इस लोक या परलोक में प्राप्त होता है। यद्यपि आत्मा एक ही है और सब स्थावर जङ्गम प्राणियों में गूढ़ है, तथापि चित्तरूप उपाधि की विशेष तारतम्यता से उसमें ऐश्वर्य शक्ति की तारतम्यता होती है। जहाँ जहाँ विभूति की अतिशयता है वहाँ वहाँ उपास्यरूप से विधान किया जाता है।

अब उसी ब्रह्म के स्वरूप का विचार करते हैं। वह ब्रह्म आनन्दस्वरूप है किन्तु अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश के साथ तन्मय हुआ वैसा ही प्रतीत होता है, इसका वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् में है, ब्रह्म सूत्र में भी विचार किया है कि आनन्दमय से किसका ग्रहण है। कुछ लोगों का कथन है कि आनन्दमय से जीवात्मा का ग्रहण है। क्योंकि वहां प्रकरण जीव का ही है, अन्नमय आदि के साथ जीव का ही सम्बन्ध है। उसी के पञ्चकोश हैं, वही शरीर में रहता है। इस पर वादरायण जी कहते हैं कि "आनन्द मयोऽभ्यासात्।" आनन्द मय से ब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उसी का उस उपनिषद् में कई बार अभ्यास (कथन) है। यदि कहा जाय कि यहां आनन्दमय में मयट् प्रत्यय का अर्थ विकार है तो प्राचुर्य्य अर्थ में भी मयट् होता है। अभिप्राय यह है कि आनन्द की अधिकता से आनन्दमय कहा गया है और वही सबको आनन्द देने वाला है, जो सब को आनन्द का

दाता है वह आनन्द की अधिकता वाला है, जैसे धन का दाता धनकी अधिकता वाला होता ही है और उसी उपनिषद् के मन्त्र में भी आनन्दमय का वर्णन है। यहां पर जीवात्मा का ग्रहण आनन्दमय से नहीं होसकता। क्योंकि उसमें सर्वज्ञता और सर्व शक्तिमत्ता नहीं है, बिना इसके जगत् की उत्पत्ति नहीं होसकती और श्रुति में उसीसे जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। यदि कहा जाय कि जीव ब्रह्म में भेद नहीं है तो उसी श्रुति में विज्ञानमय जीव से आनन्दमय को अन्य बतलाया है और उसमें कामना से सृष्टि उत्पत्ति का कथन किया गया है, अतएव प्रधान का ग्रहण नहीं होसकता और न जीव का ही। इस कारण से भी जीव का ग्रहण नहीं होसकता। क्योंकि उसमें जीव के मिलने का उपदेश है, अतएव आनन्दमय से ब्रह्म का ही ग्रहण है।

इसके अनन्तर ब्रह्मसूत्र में ज्योति व प्राण को भी ब्रह्मरूप से सिद्ध किया है, इस प्रकार प्रथमपाद में स्पष्ट ब्रह्म लिङ्गयुक्त वाक्यों का विचार किया है, जैसे "**सर्वाणि वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते।**" छाँन्दोग्य १-६-१।। इत्यादि में ब्रह्म का स्पष्ट लिंग आकाश कहा गया है, अस्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग युक्त उपास्य ब्रह्म विषयक वाक्यों का विचार किया है जैसे—"**मनोमयः प्राण शारीरोभारूपः ।।**" इत्यादि छान्दोग्य ३-१४-१-२ ।। में अस्पष्ट लिंग "शारीर" कहा गया है। तृतीयपाद में अस्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग प्रायः ज्ञेय ब्रह्म विषयक वाक्यों का विचार है। चतुर्थपाद में प्रधान विषयक सन्देह से युक्त अव्यक्त अज आदि पदों का विचार किया है, इस प्रकार प्रथम समन्वयाध्याय समाप्त होता है।

बादरायण ने समस्त श्रुतियों का समन्वय ब्रह्म में किया है। वह ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत

या अद्वैत है, इस विषय में भाष्यकारों में मतभेद है। उस मतभेद के अभिप्राय को अन्त में वर्णन करेंगे अब ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय का विचार करते हैं। द्वितीय अध्याय को अविरोधाध्याय कहते हैं। उसमें सभी दर्शनों के विरोध का परिहार किया है और तर्क से ब्रह्म जगत् का कारण है, यह सिद्ध किया है। अब आगे के विषय में सांख्य के विरोध का परिहार करेंगे। प्रथम अध्याय में सर्वज्ञ सर्वेश्वर को जगत् का कारण सिद्ध किया, जो जगत का कारण है वही उसका रक्षक तथा अन्त में लय भी करने वाला है, वही सबका आत्मा है। इस पर सांख्यवादी कहते हैं कि यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जायगा तो स्मृति के अनवकाश का दोष होगा क्योंकि कपिल प्रणीत सांख्य स्मृति तथा उसी का अनुसरण करने वाली आसुरि-पञ्चशिख आदि प्रणीत स्मृतियां केवल प्रधान को जगत का कारण वर्णन करती हैं। मनु आदि की स्मृतियां धर्मादि का भी वर्णन करते हुये सावकाश हैं। कपिलस्मृति निरवकाश हो जायगी, यदि प्रधान को जगत का कारण न माना जायगा अतएव वेदान्त बचनों का ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, जिससे कपिलस्मृति का विरोध न हो। यदि कहा जाय कि श्रुति के प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म जगत का कारण है यह सिद्ध हो गया तो कपिल की स्मृति का अनवकाश प्राप्त हो जाय तो क्या हानि है। श्रुति का अर्थ क्या कपिल नहीं जानते थे वे सर्वज्ञ थे? उन्होंने श्रुति के अनुसार ही अपनी स्मृति बनाई है अतएव उसी स्मृति के अनुसार ही श्रुति का अर्थ करना चाहिए। क्योंकि साधारण मनुष्यों के किये हुए अर्थ में विश्वास ही कैसे किया जा सकता है। यदि कपिल को सर्वज्ञ मानकर उनके सिद्धान्तानुसार श्रुति का अर्थ किया जायगा, तो अन्य स्मृतियों का अनवकाश होगा। क्योंकि उनमें ईश्वर को ही जगत् का कारण माना है। यदि कहा जाय कि अन्य

स्मृतियाँ धर्मादि के वर्णन में सावकाश हैं तो जगत की उत्पत्ति का प्रतिपादन जो अंश करता है वह तो निरवकाश ही होगा अतएव जैसे धर्मादि के विषय में मन्वादिकी स्मृतियाँ प्रमाण हैं वैसे ही सृष्टि के विषय में भी, क्योंकि श्रुति ही मुख्य प्रमाण है। श्रुति अविरुद्ध स्मृति प्रमाण है और श्रुति विरुद्ध नहीं। यदि कहा जाय कि कपिल सर्वज्ञ थे तो मन्वादि भी सर्वज्ञ थे, सर्वज्ञ होने से ही किसी का वाक्य प्रमाण नहीं माना जाता। क्योंकि सर्वज्ञता भी तो सापेक्ष होती है। जहां दो सर्वज्ञों की बातों में विरोध हो वहाँ पर श्रुति अनुकूल सर्वज्ञ का प्रमाण मानना चाहिए। यदि किसी को सर्वज्ञ मानकर उसकी बात में विश्वास करके कोई आचरण करता है तो उसमें अनर्थ की सम्भावना रहती है, अतएव श्रुति विरुद्ध कपिल का सिद्धान्त माननीय नहीं है। ऐसे ही योग का सिद्धान्त भी वेद विरुद्धांश अप्रमाण है। यदि कहा जाय कि तर्क के द्वारा जगत् का कारण प्रधान है यह सिद्ध होता है, क्योंकि जो कारण में गुण है वही कार्य्य में गुण होता है। ब्रह्म चेतन, शुद्ध और मुक्त है। जगत् अचेतन तथा अशुद्ध हैं, अतएव यह ब्रह्म का कार्य्य नहीं है। प्रधान त्रिगुणात्मक है, जगत भी त्रिगुणात्मक है, कार्य्य के गुण को देखकर कारण के गुण का अनुमान किया जाता है। जगत् का कारण ब्रह्म नहीं होसकता क्योंकि उसमें कोई परिणाम नहीं होता वह व्यापक है सर्वत्र पूर्ण है। पूर्ण वस्तु में परिणाम नहीं होता, अतएव प्रधान का ही परिणाम जगत् है। श्रुति का अर्थ भी वही उचित है जो युक्ति से ठीक हो, अतएव इसीके अनुसार श्रुति का अर्थ करना चाहिये, तो उपरोक्त कथन भी ठीक नहीं क्योंकि कारण से विलक्षण कार्य्य देखा जाता है। लोक में प्रसिद्ध चेतन पुरुष से नख-लोम आदि की उत्पत्ति होती है। अचेतन गोमय आदि से चेतन वृश्चिक आदि उत्पन्न होते हैं। यदि

कहा जाय की पुरुष के अचेतन शरीर से नखादि की उत्पत्ति होती है। अचेतन गोमय से वृश्चिक आदि के अचेतन शरीर ही उत्पन्न होते हैं तो वह भी शरीर से विलक्षण होते हैं। शरीर को काटने से रक्त निकलता है। नख और लोम के छेदन में रक्तस्राव नहीं होता है। यदि कहा जाय कि कारण कार्य्य की अत्यन्त, साम्यता नहीं होती है। यदि अत्यन्त समानता मानी जाय, तो कार्य्य-कारण भाव ही लुप्त हो जायगा, तो ऐसे ही जगत् का कारण हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म का भी सत्ता लक्षण स्वभाव आकाशादि में वर्तमान रहता है। जो यह कहा कि ब्रह्म व्यापक है उसमें परिणाम नहीं हो सकता तो परिणामवाद नहीं माना गया है ब्रह्म का विवर्त जगत् है। ब्रह्म में कोई विकार न होकर भी जगत की प्रतीति अज्ञान से होती है अतएव तर्क से भी ब्रह्म के कारणत्व का विरोध नहीं हो सकता है। केवल तर्क से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। एक तार्किक तर्क द्वारा एक सिद्धान्त को सिद्ध करता है दूसरा उसका खण्डन करता है तीसरा उसका भी खण्डन करता है इस तर्क की कहीं स्थिति नहीं, अतएव तर्क से उत्पन्न ज्ञान एक रूप कैसे हो सकता है। यदि कहा जाय कि जिसका तर्क उत्तम हो उसी को मान लेना चाहिए। तो उत्तमता का निर्णय कैसे हो? यदि कहा जाय कि मध्यस्थ के द्वारा, तो मध्यस्थ कौन हो? यदि कहा जाय कि जो सब शास्त्रों का ज्ञाता तथा किसी का पक्ष न लेने वाला हो तो ऐसे मध्यस्थ का ही निर्णय कैसे हो? यदि कहा जाय कि वादी-प्रतिवादी करैं, तो मध्यस्थ के विषय में यदि एक मत दोनों का न हो, तब कौन निर्णय करै? यदि कहा जाय कि सभाषद् करैं तो सभाषद् कैसे हों? यदि कहा जाय कि शास्त्रों के ज्ञाता, तो इसका निर्णय कौन करे? यदि कहा जाय कि जनता, तो जनता कैसी हो? यदि कहा जाय कि शिक्षिता हो, तो इसका भी

निर्णय कौन करै। इस प्रकार तर्क से कहीं भी स्थिति नहीं होती, यही कारण है कि आज तक तार्किकों का एक मत हुआ ही नहीं। सभी तार्किक एक साथ इकट्ठे भी नहीं हो सकते। इकट्ठे होने पर भी एक निर्णय होना भी कठिन है। मध्यस्थ भी जिसके प्रभाव से प्रभावित हो जाता है, वैसा ही निर्णय करता है। ऐसे ही जनता भी जिसके प्रभाव में होती है, वैसा ही कहती है। अतएव शास्त्र में जैसा उल्लेख हो वैसा ही मानना चाहिये। यदि कहा जाय कि शास्त्र प्रमाण के मानने वालों में भी तो मतभेद है। एक शास्त्र प्रमाणवादी कुछ कहता है तो दूसरा कुछ कहता है। यदि कहा जाय कि संप्रदाय के अनुसार जो शास्त्र का अर्थ हो उसको मानना चाहिए, तो संप्रदाय भी भिन्न २ हैं। यदि कहा जाय कि जो अनादि काल से शास्त्र का अर्थ माना जाता हो, उसको ही मानना चाहिए तो सब लोग अपने अर्थ को ऐसा ही कहते हैं। अतएव जो सरल सीधा अर्थ हो उसको मानना चाहिये। सरल-सीधे अर्थ का परिज्ञान सबको बिना कठिनाई के हो जाता है, यदि संस्कृत भाषा का ज्ञान हो अतएव संस्कृत भाषा अवश्य पढ़नी चाहिये इस प्रकार सांख्य के विरोध का परिहार किया गया, इसी प्रकार न्याय, वैशेषिक आदि के विरोध का भी परिहार हो जाता है।

यदि कहा जाय कि एक ब्रह्म ही जगत् रूप हुआ तो भोक्ता और भोग का विभाग जो लोक में देखा जा रहा है, न रहना चाहिये क्योंकि यह विभाग तभी होता है जब भोक्ता और भोग्य पृथक् हों। शास्त्र के प्रमाण से भोक्ता और भोग्य के विभाग को नष्ट भी नहीं किया जा सकता। अतएव एक ही ब्रह्म जगत् का कारण है, यह ठीक नहीं। इस पर कहते हैं कि लोक में भी कारण के एक होने पर कार्य्य में बिलक्षणता देखी जाती है, जैसे समुद्र से उत्पन्न फेन, बुद्बुद, तरङ्ग

जल रूप से एक होने पर भी एक दूसरे से पृथक् देखे जाते हैं और उनका व्यवहार भी होता है। इसी प्रकार ब्रह्म रूप कारण के एक होने पर भी जगत् का व्यवहार होता है वास्तव में कारण से भिन्न कार्य्य नहीं होता, जैसे मिट्टी से घट भिन्न नहीं है। श्रुति में भी यही दृष्टान्त दिया है। इसको इस सूत्र से सिद्ध करते हैं **"तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्यः ॥"** २-१-१४ ॥ वृहदारण्यक उपनिषद् में श्वेतकेतु से उनके पिता आरुणि उद्दालक ने प्रश्न किया कि तुमने उस आदेश को अपने गुरुओं से पूछकर जाना है ? जिस एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है, जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सब मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। मिट्टी से बने हुये सभी पदार्थों में मिट्टी तो सत्य है मिट्टी के विकार घट-शराव आदि नाम मात्र हैं। यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो मिट्टी से अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब एक मिट्टी के विकार को जान लिया तो सभी मिट्टी के विकार परमार्थ में मिट्टी ही हैं अतएव वही सत्य है। वहां पर इसी बात को पुष्ट करने के लिये दो दृष्टान्त और दिये हैं लोह तथा कार्ष्णायस का।

यहां पर विचारना यह है कि एक के विज्ञान से सर्व विज्ञान का प्रश्न है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि एक विकार को जान लिया तो सभी विकारों का ज्ञान हो जायगा। किन्तु अन्य ज्ञान की इच्छा ही निवृत्त हो जायगी। क्योंकि सब एक ही तत्त्व प्रतीत होने लगेगा। इस प्रश्न के अनन्तर श्वेतकेतु ने कहा कि भगवन्! हमारे आचार्य्य इस तत्त्व को निश्चय करके नहीं जानते थे। यदि जानते होते तो अवश्य हमको उपदेश करते। अतएव भगवन्! आप ही बतलाइये। तब उद्दालक उपदेश करना प्रारम्भ करते हैं कि **"सदेवसौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।"** हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह एक ही अद्वितीय था, इसका सीधा भाव है कि दूसरी वस्तु नहीं थी। इस श्रुति से अद्वैतवाद ही अर्थ सरलता से

निकलता है, इसके मानने में बुद्धिमानों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्त श्रुति सम्मत होते तो "एकमेव" एक ही (अद्वितीयम्) "अद्वैत" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया होता। इस बात का स्पष्टीकरण आगे और हो जायेगा, उसने इच्छा किया कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ उसके अनन्तर तेज, जल और पृथिवी की रचना की। उन्हीं से पुनः समस्त संसार की उत्पत्ति हुई। वहां दिखलाया है कि कारण से कार्य्य भिन्न नहीं, कारण सत्य है। कार्य्य–नाम रूपात्मक है उसी बात को सूत्र में भी कहा है, जब कारण सत्य है तो कार्य्य को असत्य कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। उसी प्रकरण में पुनः श्वेतकेतु को उपदेश दिया है। कि जो सत् है तथा "एक ही द्वितीय नहीं" वह तुम हो। उसको नव वार अनेक रीति से समझाया है, उस "तत्त्वमसि" महावाक्य का अन्य अर्थ हो ही नहीं सकता है। अतएव जीवात्मा तथा ब्रह्म में वास्तविक कोई भेद नहीं है। जो यह कहते हैं कि वादरायण के सिद्धान्त के समीप रामानुज का वेदान्त है। वे उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों के अभिप्राय को नहीं समझ सके हैं। वास्तव में अद्वैतवाद के अनुसार ही ब्रह्म सूत्रों का तथा उपनिषदों का अर्थ सरलता से किया जा सकता है युक्ति से भी कार्य्य और कारण में वास्तविक भेद सिद्ध नहीं होता क्योंकि देखा जाता है कि मिट्टी के होने पर ही घट उपलब्ध होता है तथा तन्तु के होने पर पट उपलब्ध होता है। घट तथा पट में प्रत्यक्ष रूप से मिट्टी तथा तन्तु देखा जाता है। इस प्रकार संसार की समस्त वस्तु में ब्रह्म सत्तारूप से उपलब्ध होता है सुख तथा प्रकाश रूप से भी उपलब्ध होता है। सभी वस्तुओं में सुख तथा प्रकाश होता है अतएव ब्रह्म से भिन्न नाम रूप असत्य हैं। इस कारण से भी "कारण कार्य्य" अनन्य है कि श्रुति "इदम्"

शब्द से निर्दिष्ट जगत् को सृष्टि के पूर्व (सदेव) सत् ही कहती है। अर्थात् यह दृश्यमान जगत् सृष्टि से पूर्व सत्रूप कारण से भिन्न नहीं था और भी अनेक युक्तियों से कार्य्य–कारण को अनन्य सिद्ध किया है विस्तार भय से यहां नहीं देते हैं।

अब प्रश्न होता है कि यदि चेतन ब्रह्म ही अपनी इच्छा से जगत् रूप होगया है तो वह स्वतन्त्र कर्ता हुआ वह स्वतन्त्र होने पर अपने हित के लिये ही सृष्ट्रि रचना करता, अनेक प्रकार के दुःख से युक्त सृष्टि न करता। कोई भी स्वतन्त्र पुरुष अपने आप ही कारागृह बना कर उसमें प्रवेश नहीं करता है। वह स्वयं निर्मल होता हुआ भी अति मलिन शरीर को आत्मरूप से ग्रहण न करता। यदि किसी प्रकार उसने ऐसा किया भी, तो वह शरीर को दुःख देने वाला जानकर अपनी इच्छा से त्याग देता और सुख देने वाला दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता और यह स्मरण करता कि इस विचित्र जगत की रचना करने वाला मैं हूँ। क्योंकि सभी लोग स्पष्टत: कार्य्य करके स्मरण करते हैं कि हमने इस कार्य्य को किया है, जैसे कोई मायावी अपने आप फैलायी हुई माया को अपने में उपसंहार कर लेता है। वैसे ही यह शरीर में रहने वाला अपनी सृष्ट्रि का उपसंहार जब चाहे तब कर ले। किन्तु अपने शरीर को भी जीव उपसंहार करने में समर्थ नहीं होता, तो संसार का उपसंहार कैसे कर सकता है। अतएव स्वतन्त्र चेतन से यह जगत उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहा जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म था उसी की इच्छा से सृष्टि हुई। किन्तु वहब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप है, वह अनादिकाल के जीवों के कर्म के अनुसार ही सृष्टि की रचना करता है। यदि कहा जाय जीव भी तो सृष्टि के ही अन्तर्गत है, वही ब्रह्म जीव हुआ है। ऐसा श्रुतियों में वर्णन है।

"तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् ।" "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।" इत्यादि ।

किया यह सब वर्णन जीव और ब्रह्म के एकत्व सिद्ध करने के लिये कहा गया है, कब से ब्रह्म जीव जगत रूप हुआ यह नहीं कहा जा सकता। अनादि अज्ञान से यह संसार रूपी प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। पारमार्थिक सत्ता में अन्य कुछ है नहीं किन्तु व्यावहारिक सत्ता में जगत् के समस्त व्यवहार को अनादि माना गया है। जीव कर्म करता है उसीके कर्मानुसार फल देने के लिये ईश्वर सृष्टि की रचना करता है, इत्यादि बातों को वादरायण ने स्वीकार किया है। किन्तु परमार्थ में एक ही ब्रह्म है, अन्य नहीं है यह मानते हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि वादरायण जगत्, जीव और ब्रह्म को एक ऐसा शरीर मानते हैं जो तीनों को मिला कर पूर्ण होता है और जो सारा शरीर मिल कर सजीव शरीर ब्रह्म ही नहीं है। किन्तु जिसमें एक अवयव के दोष उस अखण्ड ब्रह्म पर लागू नहीं होते। कैसे? इसका जो उत्तर वादरायण ने दिया है वह बिल्कुल असन्तोष जनक है तथा उसका आधार शब्द छोड़ दूसरा प्रमाण नहीं है। इस प्रकार कहने वाले वादरायण के सिद्धान्त को समझते ही नहीं। वे अपने आप ग्रंथों को अध्ययन कर पण्डित कहलाते हैं तथा भोली भाली जनता को ठगते हैं, ऐसे लोगों का विश्वास भी किसी में नहीं होता तथा उनके आचरण भी शुद्ध नहीं होते। वास्तव में वादरायण ने ऐसा कोई शरीर माना ही नहीं है कि वह जगत, जीव एवं ब्रह्म को मिल कर पूर्ण होता है। वे तो एक अद्वितीय ब्रह्म को सिद्ध करते हैं। जगत् और जीव वास्तव में है नहीं, एक ब्रह्म ही है, उसी ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए सब प्रयत्न किया गया है, यह भी कथन असत्य है कि वादरायण ने जगत् को

माया या काल्पनिक नहीं माना है, न उनके दर्शन में इसकी गंध ही मिलती है कि ब्रह्म सत्य है एवं जगत् मिथ्या है। जब बादरायण स्पष्टत: कहते हैं कि "तदनन्यत्वमारंभण शब्दादिभ्यः।" तो इसका क्या अभिप्राय है ? और श्रुति में स्पष्ट जगत् को मिथ्या कहा है, इस बात को हम आगे दिखलायेंगे। इस प्रकार द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य, योग एवं काणादि स्मृति से तथा उनके प्रयुक्तकों से वेदांत समन्वय के विरोध का परिहार किया गया है। द्वितीय पाद में सांख्यादि मतों के दोषों का प्रतिपादन किया है, उसको भी संक्षेप में दिखलाते हैं।

सांख्य दर्शनकार मानते है कि जैसे घट-शराव आदि मिट्टी के कार्य हैं क्योंकि सब में मिट्टी का अन्वय है। इसी प्रकार जगत् के सब पदार्थ सुख,दुःख तथा मोहात्मक हैं अतएव दुःख सुख मोहरूप प्रधान के कार्य्य हैं। वह प्रधान पुरुष के लिए अनेक बिचित्र कार्य्यरूप परिणाम को प्राप्त होता है वह स्वतन्त्र है, उसका कोई प्रेरक नहीं है। किन्तु यदि दृष्टांत के बल से सांख्यवादी अपने पक्ष का निरूपण करते हैं तो संसार में कोई भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलेगा कि जिससे ऐसा सिद्ध किया जा सके कि बिना चेतन के कोई भी जड़ किसी क्रिया में प्रवृत्त होता हो। जैसे गृह प्रासादादि बुद्धिमान शिल्पियों के द्वारा ही बनाये जाते हैं। अपने आप बन कर तैयार नहीं होते। ऐसे ही यह जगत् भी किसी बुद्धिमान् के द्वारा ही बनाया गया होगा। अतएव अनुमान के द्वारा प्रधान को जगत् का कारण सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु चेतन ही कारण सिद्ध हो जाता है। जड़ प्रकृति स्वतन्त्र हो भी नहीं सकती, जैसे कुलालादि मिट्टी आदि से घटादि का निर्माण करते हैं। ऐसे ही चेतन के बिना प्रकृति कार्य करने में प्रवृत्त नहीं हो सकती। यदि कहाजाय कि दूध और जल के समान स्वभाव से ही

पुरुष के पुरुस्बार्थ के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है, जैसे माता के स्तन से अचेतन दूध बच्चे की वृद्धि के लिये प्रवृत्त होता है, जल स्वभाव से ही लोकोपकार के लिये प्रवाहित होता है। तो यहां पर चेतन से अधिष्ठित ही दूध और जल की प्रवृत्ति होती है। माता के शरीर में चेतन रहता है, तभी दूध की प्रवृत्ति होती है, ऐसे ही जल के अन्दर भी चेतन है, बिना चेतन के जल प्रवाहित नहीं हो सकता। प्रसिद्ध लोक के सर्ववादिसम्मति रथादि अचेतन की प्रवृत्ति बिना चेतन के नहीं होती। ऐसे ही प्रधान की प्रवृत्ति भी बिना चेतन के नहीं हो सकती है, अतएव प्रधान कारण नहीं। सांख्य के सिद्धान्त में दोष भी हैं क्योंकि उनके मत में सत्व, रज तथा तम गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान है। उससे व्यतिरिक्त अन्य कोई उसका प्रवर्तक या निवर्तक नहीं है। पुरुष उदासीन हैं अतएव वे भी प्रवर्तक नहीं। अतएव प्रधान को किसी की अपेक्षा नहीं। वह कभी महत् आदि के आकार में परिणत हो कभी न हो, ऐसा होना अयुक्त है। ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं महा मायावी है। अतएव उसकी प्रवृत्ति–निवृत्ति में कोई विरोध नहीं।

यदि कहा जाय कि जैसे तृण–पल्लव–उदकादि बिना किसी अन्यनिमित्त की अपेक्षा किये ही क्षीरादि आकार से परिणत हो जाते हैं। ऐसे ही प्रधान भी बिना किसी अन्य निमित्त के महत् आदि आकार में परिणत हो जाता है। यदि कहा जाय कि बिना निमित्त की अपेक्षा किये तृणादि परिणत होते हैं। यह कैसे जाना गया, तो किसी भी निमित्त की उपलब्धि नहीं होती। यदि किसी निमित्त की उपलब्धि हो जाय। तो हम यथेच्छ दूध को तृणादि के द्वारा संपादन करते, किन्तु हम संपादन नहीं कर सकते। अतएव तृणादि का परिणाम स्वाभाविक ही होता है, ऐसे ही प्रधान का परिणाम भी स्वाभाविक ही होता है। किन्तु यदि तृणादि का स्वाभाविक परिणाम

होता है, ऐसा सिद्धान्त मान लिया जाय, तब तो प्रधान के स्वाभाविक परिणाम में इसका उदाहरण दिया जा सकता है। परन्तु तृणादि का स्वाभाविक परिणाम दूध आदि है, किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं। यह संसार में कहीं भी देखा नहीं जाता और अन्य निमित्त की उपलब्धि होती है। गौ आदि के द्वारा भक्षण किया हुआ तृणादि ही दूध रूप परिणाम को प्राप्त होता है। नष्ट हुआ तृणादि अथवा बैल के द्वारा भक्षण किया हुआ दुग्ध रूप परिणाम को नहीं प्राप्त होता है। यदि बिना किसी निमित्त के तृणादि दूध भाव को प्राप्त होते, तो गौ शरीर के साथ सम्बन्ध हुये बिना अन्यत्र भी दुग्धादि भाव को प्राप्त होते और मनुष्य यथेष्ठ दूध का संपादन नहीं कर सकता, इतने से ही निर्निमित्त नहीं कहा जा सकता है। कुछ कार्य मनुष्य के संपादन के योग्य होता है, कुछ दैव के संपादन के योग्य होता है। मनुष्य भी उचित उपाय से तृणादि को ग्रहण कर अधिक दुग्ध का संपादन कर सकता है। यदि अधिक दुग्ध की कामना होती है तो अधिक तृण गौ को चराकर अधिक दुग्ध प्राप्त करते हैं। अतएव तृणादि के समान प्रधान का स्वाभाविक परिणाम होता है, यह नहीं कहा जा सकता है। यदि प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यह मान भी लिया जाय तबभी दोषकी प्रसक्ति होती है। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे वह विना किसी की अपेक्षा किये परिणाम को प्राप्त होता है, वैसे ही प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं करेगा। ऐसा होने पर प्रधान पुरुष के अर्थ के लिये प्रवृत्त होता है, यह सांख्यों की प्रतिज्ञा भंग हो जायगी। यदि कहा जाय कि केवल सहायक की अपेक्षा नही करता है और प्रयोजन की अपेक्षा करता है, तो विचार करना चाहिये कि उसका प्रयोजन क्या है ? भोग या मोक्ष। यदि कहा जाय कि पुरुष भोग के लिये परिणत होता है तो सुख-दुःख की प्राप्ति एवं उनके परिहार से पुरुष

शून्य हैं, उनका भोग ही किस प्रकार कर सकता है, अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं और पुरुष की मुक्ति भी नहीं होगी। क्योंकि प्रधान सदा उसके सामने भोग उपस्थित करता रहेगा। यदि कहा जाय कि पुरुष की मुक्ति के लिये प्रधान की प्रवृत्ति है तो पुरुष प्रधान की प्रवृत्ति के पूर्व भी मुक्त ही था, उसकी मुक्ति के लिये निरर्थक प्रवृत्ति है। यदि कहा जाय भोग-मोक्ष दोनों के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है, तो प्रधान के अनन्त भोग की समाप्ति न होने से पुरुष की मुक्ति का अभाव ही होगा। यदि कहा जाय कि उत्सुकता की निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति होती है, तो अचेतन प्रधान में उत्सुकता हो नहीं सकती और निर्मल, निष्कल, पुरुष में भी उत्सुकता नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि पुरुष की दृक्शक्ति और प्रधान की सर्ग शक्ति के वैयर्थ्य भय से प्रवृत्ति होती है, तो दृक् शक्ति के अनुच्छेद के समान सर्ग शक्ति के भी अनुच्छेद होने से मुक्ति का भी अभाव हो जायगा। अतएव प्रधान की प्रवृत्ति निरर्थक है और पुरुष के लिये प्रवृत्ति होती है, यह युक्ति संगत नहीं है। यदि कहा जाय कि अन्ध और पङ्गु तथा चुम्बक और लोहे के समान प्रधान की प्रवृत्ति भी होगी, अर्थात् जैसे एक अन्धा मनुष्य और दूसरा पंगु है तो दोनों आपस में एकमत होकर अपने कार्य्य को करते हैं।

जैसे अन्धा देखता नहीं पंगु चल नहीं सकता किन्तु देखता है, पंगु अन्धे के कन्धे पर चढ़कर अन्धे को मार्ग प्रदर्शित करता है और अन्धा जहाँ पंगु ले जाता है वहां चला जाता है, ऐसे ही पुरुष पंगु है और प्रधान के नेत्र नहीं, वह पुरुष की सहायता से क्रिया में प्रवृत्त होता है। जैसे लोहा चुम्बक की ओर स्वभाव से आकर्षित होता है, वैसे ही प्रधान पुरुष की ओर आकर्षित होकर क्रिया करता है। किन्तु यह दोनों दृष्टान्त भी सांख्य सिद्धान्त के विपरीत हैं। इनसे

उनका सिद्धान्त भङ्ग होता है क्योंकि सांख्य में पुरुष को कर्त्ता नहीं माना है, वह उदासीन है। यदि पुरुष पंगु के समान प्रवर्तक होगा, तो उदासीन नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही प्रधान को स्वतन्त्र माना है, यदि प्रधान का प्रवर्तक पुरुष मान लिया जाय तो प्रधान की स्वतन्त्रता भङ्ग होती है तथा चुम्बक के समान पुरुष प्रवर्तक भी नहीं हो सकता। क्योंकि प्रधान और पुरुष की सन्निधि नित्य है तो प्रवृत्ति भी नित्य हो जायगी। प्रवृत्ति नित्य होने से मुक्ति का अभाव होगा। चुम्बक और लोहे की सन्निधि अनित्य है, इसमें परिमार्जन आदि की अपेक्षा होती है। अतएव इसका दृष्टान्त ठीक नहीं तथा प्रधान चेतन नहीं और पुरुष उदासीन है तीसरा कोईप्रवर्तक सांख्यशास्त्र में माना नहीं गया है, अतएव सम्बन्ध ही नहीं सिद्ध होगा। योग्यता को सम्बन्ध का निमित्त माना जायगा तो योग्यता का नाश न होने से मोक्ष नहीं होगा, अतएव सांख्य का सिद्धान्त ठीक नहीं है। परमात्मा स्वरूप से उदासीन है किन्तु माया के सम्बन्ध से प्रवर्तक हो सकता है। सांख्य सिद्धान्त में और भी अनेक दोष हैं, विस्तार भय से नहीं लिखते हैं।

वैशेषिक के परमाणुवाद का खण्डन

वैशेषिक मत के मानने वालों का सिद्धान्त है कि कारण द्रव्य के समवायी गुण, कार्य्य द्रव्य में समान जातीय अन्य गुण का आरम्भ करते हैं, क्योंकि शुक्ल तन्तु से शुक्लपट की उत्पत्ति देखी जाती है, उससे विपरीत देखी नहीं जाती। अतएव चेतन ब्रह्म को जगत का कारणत्व मानने पर कार्य्य जगत में भी चेतन समवेत होगा, किन्तु ऐसा देखा नही जाता। अतएव चेतन ब्रह्म कारण नहीं है, यह जो उनका सिद्धान्त है, उन्हीं की प्रक्रिया से व्यभिचरित होता है।

उनकी यह प्रक्रिया है कि परमाणु कुछ काल तक कार्य्य को बिना आरम्भ किये ही रूपादिमान पारिमाण्डल्य परिमाण स्थित रहते हैं, वे पुनः अदृष्ट आदि की सहायता से एक दूसरे के संयोग को प्राप्त होते हुए द्व्यणुकादि के क्रम से सम्पूर्ण कार्य का आरम्भ करते हैं, कारण के गुण कार्य्य में गुणान्तर का आरम्भ करते हैं। किन्तु परमाणु में जो विशेष गुण पारिमाण्डल्य है। वह कार्य्य में अन्य पारिमाण्डल्य को आरम्भ नहीं करता, जैसे दो परमाणु जब द्व्यणुक का आरम्भ करते हैं, तब परमाणु में रहने वाले विशेष गुण शुक्लादि रूप अन्य शुक्लादि का आरम्भ करते हैं। परमाणु का विशेष गुण पारिमाण्डल्य अन्य पारिमाण्डल्य का आरम्भ नहीं करता। क्योंकि द्व्यणुक को अन्य परिमाण वाला मानते है। अणुत्व और ह्रस्वत्व द्व्यणुक में रहते वाले परिमाण हैं, जिस समय दो द्व्यणुक चतुरणुक का आरम्भ करते हैं, उस समय द्व्यणुक में रहने वाले शुक्लादि गुण चतुरणुक में अन्य शुक्लादि गुण का आरम्भ करते हैं। अणुत्व–ह्रस्वत्व, अन्य अणुत्व–ह्रस्वत्व का आरम्भ नहीं करते। क्योंकि चतुरणुक में महत्व दीर्घत्व परिमाण माना गया है जिस समय बहुत से परमाणु बहुत से द्व्यणुक अथवा द्व्यणुक सहित परमाणु कार्य्य का आरम्भ करते हैं उस समय में भी उपरोक्त रीति से कार्य्य उत्पन्न होता है।

जैसे परमाणु पारिमाण्डल्य से अणु ह्रस्व द्व्यणुक उत्पन्न होता है, द्व्यणुक से महत्, दीर्घ, चतुरणुकादि उत्पन्न होते हैं, पारिमाण्डल्य और अणुत्व–ह्रस्वत्व नहीं उत्पन्न होते। ऐसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत उत्पन्न होता है, ऐसा मानने में क्या हानि है। यदि कहा जाय कि विरोधी परिणामान्तर से आक्रान्त कार्य्यद्रव्य द्व्यणुकादि हैं, अतएव कारणगत पारिमाण्डल्य आदि आरम्भक नहीं हैं। चेतन के

विरोधी गुण से जगत् आक्रान्त है नहीं, जिससे कारणगत चेतना से अन्य कार्य्यगत चेतना का आरम्भ न हो। अचेतना–चेतना का विरोधी कोई गुण नहीं है। क्योंकि अचेतना–चेतना का प्रतिषेध मात्र है, अतएव चेतना से अन्य चेतना का आरम्भ हो सकता है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता ? क्योंकि कारण में विद्यमान भी पारिमाण्डल्यादि की अनारम्भकता जिस प्रकार है वैसे ही इसकी भी इस अंश में समानता है। वास्तव में परमाणु की कारणता बनती ही नहीं क्योंकि सृष्टि के पूर्व विभाग अवस्था में स्थित परमाणुके संयोग के लिये कर्म की अपेक्षा होती है। क्योंकि कर्म वाले तन्तु आदिकों का ही संयोग देखा जाता है, कर्म भी कार्य है इसलिये उसका भी कोई निमित्त मानना पड़ेगा। यदि उसका कोई निमित्ति नहीं माना जायगा तो अणु में प्रथम कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि कोई निमित्त माना जाता है तो वह अभिघातादि या अदृष्ट होगा। किन्तु उनके असंभव होने से कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का गुण प्रयत्न, शरीर के न होने से नहीं होता। शरीर के प्रतिष्ठित होने पर ही मन और आत्मा के संयोग होने पर प्रयत्न उत्पन्न होता है। इसी कारण अभिघातादि भी निमित्त नहीं हो सकते। क्योंकि सर्गोत्तर काल में ही सब की संभावना है और आदि कर्म के निमित्त सर्गोत्तर काल में उत्पन्न होने वाले कैसे हो सकते हैं।

यदि कहा जाय कि अदृष्ट निमित्त है तो वह अदृष्ट किसमें रहता है, आत्मा में या अणु में ? दोनों में मानने पर अदृष्ट आदि कर्म का निमित्त नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है। स्वयं अचेतन चेतन से अधिष्ठित हुये बिना न स्वतन्त्र प्रवृत्त होता है न अन्य को प्रवृत्त करता है। उस समय आत्मा में भी चेतनता उत्पन्न न होने से अचेतन ही रहता है। आत्मा में अदृष्ट को मानने पर भी वह

अणु में कर्म का निमित्त नहीं होसकता क्योंकि संबन्ध का अभाव है। यदि अदृष्ट वाले पुरुष के साथ संबन्ध मान लिया जायगा तो निरन्तर सृष्टि होगी। क्योंकि अदृष्टवान् पुरुष तथा अणु का संबन्ध निरन्तर रहने से कोई अन्य नियामक नहीं है, इस प्रकार किसी नियत कर्म निमित्त के अभाव होने से अणु में आद्य कर्म नहीं होगा। कर्म के अभाव से संयोग न होगा। संयोगाभाव से द्व्यणुकादि की उत्पत्ति नहीं होगी।

यदि संयोग किसी तरह मान भी लिया जाय तो वह किस प्रकार होगा। अणु का अन्य अणु से सर्वात्मरूप से संयोग होता है या एक देश से, यदि सर्वात्मरूप से माना जायगा तो उपचय नहीं होने से अणु मात्रत्व प्रसङ्ग होगा और दृष्ट विपर्य्यय का प्रसंग होगा। क्योंकि लोक में प्रदेश वाले द्रव्य से प्रदेश वाले द्रव्य का संयोग देखा जाता है। यदि एक देश से संयोग माना जायगा तो सावयवत्व का प्रसंग होगा। यदि कहा जाय कि पारमाणु में कल्पित प्रदेश मान लिये जायेंगे, तो कल्पित वस्तु के मिथ्या होने से उसका संयोग भी मिथ्या होगा अतएव वस्तु रूप कार्य का असमवायि कारण नहीं होगा। असमवायि कारण के न होने पर द्व्यणुक आदि द्रव्य उत्पन्न नहीं होगा, जैसे आदिसर्ग में निमित्त के अभाव से संयोग की उत्पत्ति के लिये अणु में कर्म संभव नहीं, इसी प्रकार महाप्रलय में भी विभाग की उत्पत्ति के लिये अणु में कर्म संभव नहीं। क्योंकि वहां भी कोई नियत निमित्त नहीं देखा जाता है। अदृष्ट भी भोग सिद्धि के लिये है, प्रलय सिद्धि के लिये नहीं। अतएव निमित्त के अभाव से संयोग या विभाग उत्पत्ति के लिये अणु में कर्म नहीं है। संयोग विभाग के अभाव होने से उसके आधीन सर्ग प्रलय के अभाव की प्रसक्ति होगी। अतः परमाणु कारणवाद उपपन्न नहीं है, इस प्रकार और भी अनेक दोष परमाणु

कारणवाद में हैं उनको वेदान्त दर्शन के मूल तथा भाष्य में देखना चाहिये। इस प्रकार संक्षेप में परमाणुकारणवाद के दोषों को दिखलाया गया है। अब बौद्ध दर्शन के दोषों को दिखलाते हैं। यद्यपि बुद्ध ने कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं लिखा है किन्तु उनके शिष्यों ने लिखे हैं अतएव उन्हीं के आधार पर यहां दोष दिखलायेंगे, विशेष वर्णन बौद्ध दर्शन सिद्धान्त के विचार में करेंगे। यद्यपि उनमें कई मत हैं किन्तु यहां पर मुख्य तीन मतों का ही विचार करेंगे, कुछ लोग सर्वास्तित्ववादी हैं, कुछ विज्ञानास्तित्ववादी हैं और कुछ सर्वशून्यवादी हैं। उनमें सर्वास्तित्ववादी सभी वाह्य और आभ्यान्तर, भूत, भौतिक, चित्त एवं चैत्त को मानते हैं। भूत पृथिवीत्वादि हैं, और भौतिक रूपादि चक्षु आदि हैं। चार प्रकार के पृथिवी आदि के कठिन, स्निग्ध, उष्ण, चलन स्वभाव वाले परमाणु पृथिवी आदि भाव के संहत होते हैं, वैसे ही रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा संस्कार नामक पञ्च स्कन्ध हैं तथा वे भी सर्व व्यवहार के विषय भाव से संहत हुये अध्यात्म कहे जाते हैं ऐसा मानते हैं।

यह दो कारणों से जो दो प्रकार का समुदाय उनके मत में माना गया है। अणु कारण से भूत भौतिक संघात और स्कन्ध कारण से पञ्च स्कन्धी रूप, उन दोनों कारणों से समुदाय की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि समुदायी अचेतन है चित्ताभिज्वलन समुदाय सिद्धि के आधीन है। अन्य कोई चेतन, भोक्ता, प्रशासता स्थिर संहन्ता माना नहीं गया है। निरपेक्ष प्रवृत्ति के मानने पर प्रवृत्ति का उपराम नहीं होगा। आशय का भी अन्य अनन्यत्व रूप से निरूपण नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिक माना गया है। अतएव व्यापार रहित होने से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इससे समुदाय अनुपपन्न है। समुदाय की अनुपपत्ति से लोकयात्रा का लोप हो जायगा। यदि कहा जाय कि यद्यपि भोक्ता-प्रशासता या कोई अन्य

चेतन स्थिरसंहन्ता नहीं माना जाता तथापि अविद्या आदि एक दूसरे के कारणत्व होने से लोकयात्रा हो सकती है, वे अविद्या आदि इस प्रकार से हैं "अविद्या, संस्कार, विज्ञान नाम रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवन, दुःख, दुर्मनसता—इस प्रकार ये सौगत के सिद्धान्त में कहीं संक्षेप और कहीं विस्तार से कहे गये हैं, ये सभी एक दूसरे के हेतु हैं और इनका प्रत्याख्यान किसी को नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ये अविद्या आदि कलाप परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से घटीयन्त्र के समान दिन–रात निरन्तर भ्रमण किया करते हैं अतएव अर्थतः सिद्ध है कि संघात उपपन्न है" सो उपपन्न नहीं है क्योंकि उत्पत्ति मात्र निमित्त हैं। यदि सङ्घात का कोई निमित्त प्राप्त हो तो सङ्घात उपपन्न हो किन्तु कोई निमित्त प्राप्त नहीं है। क्योंकि अविद्या आदि परस्पर एक दूसरे के उत्पत्ति के निमित्त हैं, सङ्घात की उत्पत्ति का कुछ भी निमित्त सम्भव नहीं है।

यदि कहा जाय कि अविद्या आदि से सङ्घात का आक्षेप 'अर्थात्' से होता है ऐसा कहा है। तो उसका अभिप्राय क्या है ? यदि कहा जाय कि अविद्या आदि सङ्घात के बिना स्वरूप की उपलब्धि न करते हुए सङ्घात की अपेक्षा करते हैं। तो उस सङ्घात का निमित्त क्या है, यह कहना चाहिए। उस सङ्घात का निमित्त कह नहीं सकते। क्योंकि जिस वैशेषिक मत में परमाणु को नित्य तथा आश्रय का आश्रयी भोक्ता माना गया है, उस मत में संघात का कारण नहीं सिद्ध हो सकता, यह हम कह आये हैं। तो क्षणिक अणु आश्रय-आश्रयी भोक्ता से शून्य सिद्धान्त के मानने वाले सौगत के मत में संघात का निमित्त कैसे कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि अविद्या आदि ही संघात के निमित्त हैं, तो उसका ही आश्रय करके स्वरूप की प्राप्ति करते हुये उसी के निमित्त कैसे होंगे ? यदि यह माना जाय कि

संघात ही अनादि संसार में निरन्तर अनुवर्तित होते हैं तथा उनका आश्रय करने वाले अविद्यादि भी रहते हैं। तब भी संघात से संघात उत्पन्न होता हुआ नियमसे सदृश ही उत्पन्न होगा, अथवा अनियम से सदृश या विसदृश उत्पन्न होगा। यदि नियम माना जायगा, तो मनुष्य पुद्गल का देव-तिर्यक् योनि और नरक की प्राप्ति का अभाव होगा। यदि अनियम माना जायगा तो मनुष्य पुद्गल कभी क्षण से हस्ती होकर देवता होगा पुनः मनुष्य हो जायगा, यह दोनों ही सिद्धांत के विरुद्ध हैं। और भी जो भोग के लिये संघात सौगतमत में माना जाता है, वह भी स्थिर नहीं है। इस कारण भोग, भोग के लिये ही है, वह अन्य से प्रार्थनीय नहीं है, वैसे ही मोक्ष, मोक्ष के लिये ही है, अन्य मुमुक्षु के होने योग्य नहीं है। यदि अन्य से प्रार्थना की जाती है, तो भोग मोक्षकाल तक उस प्रार्थना करने वाले को स्थाई होना चाहिये। यदि स्थायित्व मानते हैं, तो क्षणिकत्व नहीं होगा, क्षणिकत्व होने पर स्थायित्व नहीं होगा। क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः अविद्यादि एक दूसरे के उत्पत्ति मात्र के निमित्त भले ही हों, किन्तु संघात की सिद्धि तो नहीं होती। वास्तव में जो क्षणिक है वह किसी का भी निमित्त नहीं हो सकता। क्योंकि क्षणभंगवादी का यह सिद्धान्त है कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व क्षण का निरोध हो जाता है, अतएव पूर्वोत्तर क्षण का कार्य्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

यदि बिना हेतु के कार्य्य की उत्पत्ति होती है, यह कहा जाय तो प्रतिज्ञा की हानि होगी। क्योंकि चार प्रकार के हेतु से चित्त-चैत्त उत्पन्न होते हैं, ऐसी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। यदि बिना हेतु के उत्पत्ति मान लेते हैं, तो बिना किसी प्रतिबन्ध से सभी सब स्थान में उत्पन्न होंगे। यदि यह कहा जाय कि जब तक उत्तर क्षण की

उत्पत्तिहोती है, तब तक पूर्व क्षण स्थित रहता है। तो कार्य्य-कारण एक साथ होंगे, तब भी प्रतिज्ञा की हानि ही होगी, क्योंकि सभी संस्कार क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा है। अन्य भी जो यह मानते हैं कि बुद्धि पूर्वक भावों का विनाश प्रतिसंख्या निरोध है, अर्थात् बुद्धि पूर्वक विज्ञान सन्तति का नाश प्रतिसंख्या निरोध है, उससे विपरीत अप्रति-संख्या निरोध है, इन दोनों का होना असंभव है क्योंकि अविच्छेद है। प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध ये दोनों सन्तान गोचर हैं या भावगोचर हैं ? सन्तानगोचर हैं तो संभव नहीं, क्योंकि सब सन्तानों में सन्तान वालों का अविच्छिन्न रूप हेतु फल भाव से सन्तान के विच्छेद का असम्भव है और भाव गोचर भी नहीं होसकते। क्योंकि भावों का निरन्वय-निरुपाख्य - विनाश सम्भव नहीं है क्योंकि सब अवस्था में प्रत्यभिज्ञानवल से अन्वयी का अविच्छेद देखा जाता है। अस्पष्ट प्रत्यभिज्ञान अवस्था में भी कहीं देखे हुये अन्वयी के अविच्छेद से अन्य में भी अनुमान होता है, अतएव परिकल्पित निरोध द्वय-अनुपपन्न है और जो यह अविद्या आदि का निरोध प्रति संख्या निरोध के अन्तर्गत कल्पित किया है, वह सम्यक् ज्ञान से या स्वयं ही होता है। यदि सम्यक् ज्ञान से होता है तो विना हेतु के विनाश के सिद्धान्त की हानि होगी। यदि स्वयं होता है तो मार्ग का उपदेश निरर्थक होगा, अतएव दोनों प्रकार से दोष होने से यह सिद्धान्त ठीक नहीं। इन्हीं युक्तियों से आकाश की निरुपाख्यता का भी निराकरण हो जाता है और जो सब को क्षणिक माना जाता है, उसमें सब का ज्ञाता भी क्षणिक है। किन्तु वह सम्भव नहीं ? क्योंकि ज्ञान की स्मृति होती है। अन्य के ज्ञान की स्मृति अन्य को नहीं होती। इसका सभी लोग अनुभव करते हैं कि कल जो हमने देखा था वही आज भी देख रहे हैं, अतएव वह स्मरण करने वाला क्षणिक नहीं है। इस कारण भी सुगत का सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि वे स्थिर अनुयायी

कारण नहीं मानते। अतएव अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, ऐसा प्राप्त होता है। किन्तु अभाव से भाव की उत्पत्ति कहीं देखी नहीं गई है। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाय तो विशेष कारण के मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अभाव तो सर्वत्र विद्यमान रहता है। किन्तु सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो, तो बिना किसी प्रकार प्रयत्न किये उदासीनों के कार्य्य भी सिद्ध होजाय। बिना कुलाल और मिट्टी के घट बन जाँय अथवा कुलाल को मिट्टी के बिना घट प्राप्त हो जाय एवं तन्तुवाय को बिना तन्तुओं के वस्त्र मिल जाय, इस प्रकार अनेकों प्रकार का दोष है।

क्षणिकवाह्यार्थवादी के पक्ष में दोष दिखलाया अब विज्ञानवादी के पक्ष में दोष दिखलाते हैं, विज्ञानवादी का मत है कि वाह्य कुछ नहीं है। किन्तु सब बुद्धि रूप से अन्तः स्थित है, उसी से सब प्रमाण—प्रमेय आदि व्यवहार होता है। वाह्यार्थ मानने पर भी यदि बुद्धि में आरूढ़ नहीं है तो व्यवहार नहीं होता, अतएव वाह्यार्थ मानने की आवश्यकता नहीं किन्तु वाह्यार्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि उसकी उपलब्धि होती है, यह घट है यह पट है इत्यादि रूप बाह्यपदार्थ सदा उपलब्ध होते हैं। जो उपलब्ध हो रहा है, उसी का अभाव नहीं कहा जा सकता है, जैसे कोई मनुष्य भोजन करता हुआ भोजन से साध्य तृप्ति का स्वयं अनुभव करने पर भी कहे कि मैं भोजन नहीं कर रहा हूँ, मैं तृप्त नहीं हो रहा हूँ, इसी प्रकार किसी वाह्य अर्थ को मैं नहीं उपलब्धकर रहा हूँ, इस प्रकार के कथन करने वालों का वचन कैसे माना जा सकता है। यदि कहा जाय कि ऐसा नहीं है मैं कुछ उपलब्ध नहीं कर रहा हूँ। किन्तु उपलब्धि से अतिरिक्त कुछ उपलब्ध नहीं कर रहा हूँ, अपितु उपलब्धि रूप से सब को उपलब्ध कर रहा हूँ, ऐसा कथन ठीक

नहीं है, क्योंकि संसार में किसी को ऐसा अनुभव नहीं होता किन्तु वाह्य घट कुड्य आदि रूप से सब को अनुभव होता है। यदि कहा जाय कि स्वप्न के समान वाह्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं, तो नहीं। क्योंकि स्वप्न तथा जाग्रत् में वैधर्म्य है। स्वप्न के पदार्थ का जाग्रत् में बाध हो जाता है। जाग्रत् के पदार्थ का बाध नहीं होता और जाग्रत् पदार्थ के संस्कार से ही स्वप्न के पदार्थ प्रतीत होते हैं और स्वप्न के समान जाग्रत् नहीं है। स्वप्न के पदार्थ क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं, जाग्रत् के स्थिर रहते हैं। अतएव स्वप्न तथा जाग्रत् की समानता नहीं। यदि कहा जाय कि बिना वाह्यार्थ के भी वासना की विचित्रता से ज्ञान की विचित्रता होती है, तो बिना वाह्यार्थ के वासना भी किसकी होगी। यदि कहा जाय कि अनादि काल से ऐसाही होता आया है, तो यह अन्ध परम्परा के समान ही होगा, इससे व्यवहार का लोप हो जायगा और कोई मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। वासना संस्कार विशेष को कहते हैं। वह संस्कार बिना आश्रय के रहता नहीं, ऐसा लोक में देखा जाता है। क्षणिकवादी के मत में वासना का आश्रय उपलब्ध नहीं है। यदि आलय विज्ञान को वासना का आश्रय माना जाय तो, क्षणिक होने से उसका रूप अनवस्थित है, अतएव वासना का अधिकरण नहीं हो सकता। जब तक त्रिकाल से सम्बन्धित एक अवयवी अथवा सब का प्रकाशक कूटस्थ न स्वीकार किया जायगा, तब तक संसार के किसी व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि आलय विज्ञान को स्थिर माना जायगा तो क्षणिक विज्ञानवाद की हानि होगी। इस प्रकार क्षणिक विज्ञानवाद का दोष वर्णन किया। जब क्षणिक विज्ञानवाद में दोष है तो शून्यवाद में तो उपरोक्त समस्त दोष तथा अन्य भी दोष हैं, अतएव हमने उसकी उपेक्षा कर दी है। यदि विचार किया जाय तो किसी प्रकार से भी सुगत का सिद्धान्त उत्तम सिद्ध नहीं होता।

अब जैन दर्शन के दोष का विचार करते हैं। जैन दर्शन में सात पदार्थ माने गये हैं, जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष। अतएव संक्षेप में दो ही पदार्थ हैं जीव और अजीव। इन्हीं के मध्य में अन्य पांच का भी अन्तर्भाव हो जाता है। सभी में सप्तभंगी न्याय को प्रयुक्त करते हैं। वह इस प्रकार से है, "१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्ति नास्ति, ४ स्यादवक्तव्यः, ५ स्यादस्तिचावक्तव्यश्च, ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च और ७ स्यादस्तिनास्तिचावक्तव्यश्च।" इसका अर्थ यह है किसीभी पदार्थ किसी तरह से हैं, किसी तरह से नहीं हैं, किसी तरह ही हैं और नहीं है। किसी तरह अवक्तव्य है, किसी तरह से है, अवक्तव्य है, किसी तरह नहीं है। अवक्तव्य है, किसी तरह है नहीं है और अवक्तव्य है।

इसी प्रकार एकत्व नित्यत्वादि में भी सप्तभंगी न्याय को जोड़ते हैं, यह सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी भाव असम्भव है। जैसे शीत और उष्ण एक स्थान में नहीं रह सकते, ऐसे ही अस्तित्व–नास्तित्वादि भी एक साथ नहीं रह सकते और जो ये सात पदार्थ निश्चय किये हैं वह भी क्या इसी प्रकार के हैं। यदि इसी प्रकार के हैं तो अनिश्चयात्मक ज्ञान से कल्याण नहीं होता तथा वह अप्रामाणिक भी होता है। जैनमत में आत्मा को शरीर परिमाण वाला मानते हैं, शरीर परिमाण माने जाने से आत्मा नाशवान हो जायगा। क्योंकि वह जीव मनुष्य के शरीर में मनुष्य परिमाण वाला तथा हस्ति के शरीर में हस्ति परिमाण और चींटी के शरीर में चींटी के परिमाण होने से घटने बढ़ने वाला है तथा एक ही शरीर में वाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था में परिवर्तनशील भी है। यदि कहा जाय कि जीव के अनन्त अवयव हैं उन्हीं का संकोच-विकाश होता है तो उन समस्त अवयवों का समान देशत्व होता है

या नहीं। यदि प्रतिघात होता है तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देश में समान नहीं हो सकते। यदि प्रतिघात नहीं होता तो एक अवयव का देश उपपन्न होगा, सभी अवयव प्रथम हो नहीं सकते तो अणुत्व मात्र रह जायगा और शरीर से परिच्छिन्न जीव अनन्त हो भी नहीं सकता। यदि कहा जाय कि पर्य्याय से कभी कोई अवयव किसी शरीर में जाते हैं और कोई किसी में, तो इससे भी जीव विकारी हो जायगा एवं विकारी होने से अनित्य होगा और मोक्षावस्था में जीव के अन्त्य परिमाण को जैन लोग नित्य मानते हैं। जैसे अन्त्य परिमाण को नित्य माना वैसे ही आद्य-मध्य को भी नित्य मानना चाहिये, क्योंकि विशेषता है नहीं। ऐसा मानने पर एक ही शरीर की परिमाणता होगी, उपचय और अपचय नहीं होगा अथवा अन्त्य जीव परिमाण का अवस्थितत्व होने से पूर्व अवस्थाओं का भी अवस्थित परिमाण ही जीव होगा। अतः अविशेष से सर्वदा ही अणु या महान् जीव को मानना चाहिए, शरीर परिमाण वाला नहीं। अतएव सौगत के समान् जैनमत भी असङ्गत है, इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। इसके अनन्तर केवल अधिष्ठाता रूप ईश्वर कारणवाद का प्रतिषेध किया गया है, उसको संक्षेप में कहते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर का प्रधान और पुरुष के अधिष्ठातृत्व रूप से जगत् कारणत्व है। यह कथन युक्ति सङ्गत नहीं है, क्योंकि सरलता से सिद्ध नहीं होता। कैसे सरलता से सिद्ध नहीं होता? तो उत्तर यह है कि संसार में कोई प्राणी दुःखी है, कोई सुखी है, कोई धनी है, कोई निर्धन है, ईश्वर इनकी रचना करने वाला यदि माना जायगा, तो राग-द्वेष वाला सिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि वह प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि करता है, तो ईश्वर की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी तथा अन्योऽन्याश्रय दोष भी होगा। क्योंकि ईश्वर और कर्म की सिद्धि एक दूसरे के बिना सिद्ध

नहीं हो सकती। यदि सृष्टि को अनादि माना जाय तो उसमें भी दोष हैं। क्योंकि जितनी प्रवृत्तियाँ हैं वे दोष युक्त ही होती हैं, चाहे वह स्वार्थ हों, चाहे परार्थ। स्वार्थ से प्रयुक्त ही सभी जन परार्थ में प्रवृत्त होते हैं अतएव यह प्रवृत्ति उचित नहीं है। यदि ईश्वर भी स्वार्थ से युक्त होगा तो उसमें अनीश्वरत्व दोष होगा, वह ईश्वर विशेष पुरुष है और पुरुष योग शास्त्र में उदासीन माना गया है। प्रधान तथा पुरुष के सम्बन्ध के बिना ईश्वर शासक नहीं हो सकता। संयोग लक्षण सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि प्रधान पुरुष ईश्वर का सर्वगतत्व और निरवयवत्व है। समवाय लक्षण संबन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि आश्रय–आश्रयी भाव का निरूपण नहीं है और अन्य कोई सम्बन्ध की भी कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि उसका कोई आधार नहीं और ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता भी नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रत्यक्ष, रूपादि से हीन प्रधान है। यदि कहा जाय कि जैसे इन्द्रियां रूपादि हीन अप्रत्यक्ष हैं, इनका अधिष्ठाता पुरुष है। वैसे ही प्रधान का अधिष्ठाता ईश्वर भी हो सकता है। यह भी उपपन्न नहीं, क्योंकि पुरुष को तो भोगादि की प्राप्ति होने से इन्द्रियों का अधिष्ठाता कह सकते हैं। ईश्वर में दुःख–सुखादि भोग देखा नहीं जाता, अतएव ईश्वर अधिष्ठाता नहीं। यदि इन्द्रियों के समान ही प्रधान का अधिष्ठाता ईश्वर को माना जायगा, तो ईश्वर भी सुखादि का भोगने वाला हो जायगा, तो उसमें और पुरुष में कोई विलक्षणता नहीं रहेगी।

प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर यह तीन रूप से संख्या परिमाण परिच्छिन्न हुआ, स्वरूप परिमाण भी तद्गत ईश्वर से परिच्छिन्न होगा जो परिच्छिन्न होता है, उसका नाश भी होता है और सब के नाश होने पर शून्यवाद आ जायगा। यदि कहा जाय कि प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर की इयत्ता ईश्वर से परिच्छिन्न नहीं होती तो ईश्वर

की सर्वज्ञता नहीं रहेगी, इस प्रकार इस पक्ष में तो अनेक दोष हैं। यदि कहा जाय कि ईश्वर से ही सब उत्पन्न होता है, यह पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर विकारी हो जायगा और विकारी अनित्य होता है, इस लिये ईश्वर भी अनित्य हो जायगा। इसप्रकार द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में सांख्यादि मतों में दोष दिखलाया है और अपने मत को पुष्ट किया है। तृतीय पाद में महाभूत की सृष्टि का जो श्रुतियों में परस्पर विरोध है उसका परिहार किया है तथाजीव विषयक विरोध का परिहार किया है, जीव को चेतन तथा उत्पत्ति आदि से रहित माना है तथा व्यापक माना है। किन्तु शरीरादि उपाधि के संबन्ध से उसकी उत्पत्ति होती है तथा अणु भी बुद्धि आदि के सम्बन्ध से प्रतीत होता है वास्तव में अणु नहीं है।

कुछ लोगों का कथन है कि सिद्धान्त रूप से बादरायण जीव को अणु मानते हैं। किन्तु यह कथन भ्रान्तिमूलक है यदि जीव अणु होगा तो वह ब्रह्म से अभिन्न कैसे होगा। जीव और ब्रह्म का अभेद अनेक श्रुतियों से सिद्ध है, अर्थात् श्रुतियों में जीवों कोअणु भी कहा है और महान् भी कहा है। यदि कहा जाय कि जीव, ईश्वर का शरीर है, तो यह भी कथन ठीक नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से कह सकते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से शरीर और शारीरभाव संबन्ध सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वही परमात्मा ब्रह्म जीव रूप से प्रवेश करता है। "तत सृट्वातदेवानुप्राविशत", इत्यादि, श्रुति में प्रतिपादित है, अतएव विवेक करने पर जीवात्मा अणु नहीं है किन्तु जब तक विवेक नहीं होता तब तक बुद्धिरूप उपाधि के सम्पर्क से अणु कह सकते हैं। वही जीव कर्त्ता है, क्योंकि उसी जीव के लिये शास्त्र लौकिक--वैदिक कृत्य में कर्त्तव्य का कथन करता है। "यथा विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते ऽपिच" जीव यज्ञ का विस्तार करता है तथा कर्म का भी विस्तार करता है। वह जीव कर्म करने में

स्वतन्त्र है। किन्तु शरीर, देश, कलादि सहकारी साधन की अपेक्षा होती है आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है क्योंकि यदि स्वाभाविक कर्तृत्व आत्मा का मान लिया जाय, तो मोक्ष नहीं सिद्ध होगा। अतएव मन आदि उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व है। वह जीव व्यावहारिक अवस्था में ईश्वर के आधीन भी है एवं ईश्वरके द्वारा ही उसको स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। क्योंकि वह ईश्वर ही कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है और वह जीव ईश्वर का ही अंश है, अंश की भांति है। वास्तविक अशांशिभाव नहीं बनता, उपाधि के द्वारा ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार तृतीयपाद में महाभूतों की सृष्टि आदि तथा जीव विषयक परस्पर श्रुतियों के विरोध का परिहार किया है और चतुर्थपाद में इन्द्रियादि विषयक श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है। यहाँ विस्तार भय से उनका कथन नहीं कर रहे हैं क्योंकि इतने ही में विस्तार हो गया है। अवतृतीय अध्याय के प्रथमपाद में साधन का कथन करते हैं तथा प्रसङ्ग से अन्य वातों का भी कथन करेंगे। जीव, कर्म तथा उपासना के अनुसार सूक्ष्म शरीर के द्वारा परलोक में जाता है तथा वहां पर कर्म के क्षीण होने पर पुनः इस लोक में आता है। कर्म तथा उपासना से प्राप्त होने वाले वे लोक अनित्य हैं, अतएव उनसे विरक्त होना चाहिए। क्योंकि जब तक संसार के किसी पदार्थ में राग रहता है, तब तक परमात्म विचार की ओर प्रवृत्ति नहीं होती है। अतएव परलोक की गति नाशवान है, यह दिखलाया गया है। यज्ञादि कर्म से तथा उपासना से स्वर्गादि लोक की प्राप्ति होती है, स्वर्गादि लोकों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसके अनन्तर द्वितीय पाद में जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका विवेचन किया है, प्रथम जीव की स्वप्नावस्था का विचार किया है। जीव को जो स्वप्न में पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं, वे वास्तविक हैं अथवा असत्य हैं

इसका विचार किया है। कुछ लोगों का कथन है कि स्वप्न में भी जाग्रत् के समान ही सृष्टि की रचना होती है। क्योंकि ऐसी श्रुति है "अथरथान्रथ योगान्पथः सृजते।" उस सृष्टि की रचना करने वाला जीव है। अनेक श्रुतियाँ जीव को स्वप्नावस्था में अनेक कामनाओं का निर्माण करने वाला बतलाती हैं अतएव श्रुति प्रामाण्य से जीव स्वप्न में सत्य वस्तु को ही रचता है, अतएव वह सत्य है, इस पर सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि नहीं वह माया मात्र है। अर्थात् स्वप्नावस्था में जाग्रत् के समान परमार्थ धर्म से सम्पूर्ण पदार्थों की अभिव्यक्ति नहीं होती है क्योंकि वहां पर उचित देश कालादि नहीं है। किन्तु सभी की कल्पना वहीं पर होती है अतएव वह कल्पित माया मात्र है।

यदि कहा जाय कि स्वप्न शुभ–अशुभ का सूचक है, अतएव सत्य है सो ऐसा नहीं है क्योंकि सभी स्वप्न सत्य शुभाशुभ के सूचक नहीं होते हैं, कोई कोई ही होते हैं। किन्तु शुभाशुभ के सूचक होने से सत्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जिन श्रुतियों में उनको शुभाशुभ का सूचक कहा है और उन्हीं में उनको सत्य नहीं माना गया है। अतएव श्रुति प्रमाण से स्वप्न असत्य ही है। "यदि कहा जाय कि जीव ईश्वर का ही अंश है। जैसे ईश्वर अपने संकल्प से जगत् की रचना करता है और जगत् सत्य कहा जाता है, वैसे ही जीव भी अपने संकल्प से स्वप्न की रचना करता है अतः स्वप्न भी सत्य है?"

यह सत्य है कि जीव ईश्वर का अंश है किन्तु वह ईश्वर के समान शक्ति सम्पन्न नहीं है क्योंकि उसकी शक्ति अविद्या से तिरोहित रहती है और किसी ध्याता को कोई शक्ति कभी प्रादुर्भूत होतो है तो भी वह सम्पूर्ण नहीं, अतएव स्वप्न की सृष्टि सत्य नहीं है। यदि कहा जाय कि परमात्मा के अंश होने पर भी जीव की शक्ति तिरोहित क्यों होती है? तो देह के साथ सम्बन्ध होने से ही होती है।

क्योंकि अविद्या के कारण जीव देहादि के साथ अहंता-ममता सम्बन्ध कर लेता है और वह बँध जाता है। जब परमात्मा की उपासना करता है और उसकी कृपा से ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और अपने आपको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप जानकर बन्ध रहित हो जाता है।

जैसे जीव की स्वप्नावस्था है, वैसे ही सुषुप्ति अवस्था भी है। सुषुप्ति अवस्था में वह सत परमात्मा के साथ सम्पन्न होता है किन्तु उस अवस्था में भी अज्ञान रहता है अतएव मुक्त नहीं होता है। यदि मुक्त होजाय तो पुनः सुषुप्ति से उत्थान न हो, किन्तु वह सुषुप्ति से उठकर पुनः प्रथम किये हुए कर्मों का स्मरण करता है अतएव तीनों अवस्थाओं में एक जीव रहता है। क्योंकि यह स्मृति बनी रहती है कि मैं स्वप्न देख रहा था, मैं सोगया था और वही मैं अब जाग रहा हूँ। अतएव ईश्वर इन अवस्थाओं से भिन्न है। मूर्च्छा अवस्था भी आधी सुषुप्ति है। क्योंकि जीव की प्रसिद्ध अवस्था तीन ही हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। चतुर्थ अवस्था शरीर से पृथक होना है वह प्रसिद्ध नहीं है। मूर्च्छा इन किसी में अन्तर्भूत होती नहीं क्योंकि जाग्रत और स्वप्नावस्था में इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है, सुषुप्ति में किसी भी विषय का ग्रहण नहीं होता। किन्तु सुषुप्ति से जगाया जा सकता है और मूर्च्छा से किसी भी प्रकार जगाया नहीं जा सकता, अपने आप उससे उठता है। सुषुप्त पुरुष का मुख प्रसन्न रहता है, मूर्छित का भयानक मुख मण्डल हो जाता है अतएव यह इन किसी अवस्थाओं के अन्तर्भूत नहीं है और इनसे भिन्न नहीं है, अर्ध सुषुप्ति ही इसको कह सकते हैं। सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं होता क्योंकि पुनः सुषुप्ति से जाग्रत् अवस्था में आता है। यदि ब्रह्म से अभेद होजाय तो मुक्त होजाय और पुनः उत्थान न हो।

जब ज्ञान की प्राप्ति होती है, तभी ब्रह्म के साथ अभेद होता है, क्योंकि जब तक अज्ञान है तब तक संसार का सब व्यवहार होता है। ज्ञान होने पर भी ज्ञानी सभी व्यवहार यथायोग्य करता है, परमार्थ में जीव और ईश्वर में कोई भेद नहीं एवं न संसार की ही सत्ता है। जैसे जीव की चार अवस्थायें हैं, ऐसे ही ईश्वर की भी हैं। समष्टि और व्यष्टि का भेद है, जीव व्यष्टि का अभिमानी है और ईश्वर समष्टि का अभिमानी है। तुरीय में दोनों का अभिमान नहीं रहता अतएव दोनों एक ही शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाते हैं। माण्डूक्योपनिषद् में इसका विचार किया गया है। इस प्रकार तृतीय अध्याय के द्वितीयपाद में जीव और ईश्वर के स्वरूप का विचार किया गया है। तृतीय अध्याय के तृतीयपाद में नाना शाखा–पठित पुनरुक्त पदों का निर्गुण ब्रह्म में उपसंहार किया है प्रसङ्ग से सगुण विद्या में शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार और अनुपसंहार का निरूपण किया गया है। वेदान्त दर्शन के तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद में निर्गुण ब्रह्म विद्या का वहिरङ्ग साधन आश्रमधर्म, यज्ञ, दानादि तथा अन्तरङ्ग साधन शम–दम–मिदिध्यासन आदि का निरूपण किया है। प्रथमतः औपनिषद् आत्मज्ञान को स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ का साधन सिद्ध किया है। "आत्मा कर्ता होने के कारण कर्म का शेष है" इस जैमिनि के मत का खण्डन किया है। पुनः कर्म को अन्तःकरण की शुद्धि का साधन सिद्ध किया है। क्योंकि बिना कर्म किए अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता है, बिना अन्तःकरण की शुद्धि के विवेक वैराग्यादि उत्पन्न नहीं होते और बिना विवेकादि के ब्रह्मज्ञान नहीं होता, यह प्रारम्भ में कह आए हैं। अतएव जब तक विवेकादि की उत्पत्ति न हो जाय तब तक वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये।

आधुनिक लोगों का जो यह कथन है कि प्रथम मनुष्यों में कर्म करने की प्रवृत्ति हुई। धीरे २ जब बुद्धि में विकाश होता गया तब

उपासना में प्रवृत्ति हुई, पश्चात् ज्ञान में प्रवृत्ति हुई। इन बातों का निराकरण वेदान्त सूत्रों के अध्ययन से हो जाता है, यथा "सर्वाऽपेक्षा यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।" ३-४-२६॥ "शमदमादि उपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।" ३-४-२७॥ इनका भाव यह है कि आत्मविद्या की प्राप्ति के लिये सभी वर्णाश्रम धर्मों की अपेक्षा होती है। क्योंकि श्रुति में विधान है "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिशन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन ॥" बृ० ४-४-२२॥ उस इस ब्रह्म को ब्राह्मण यज्ञ से, दान से, तप से, अनशन और वेदानुवचन से जानने की इच्छा करते हैं। जिसकी जिस कार्य्य में योग्यता होती है, उस की उसी कार्य्य में अपेक्षा होती है। जैसे अश्व की हल खींचने में योग्यता नहीं है, अतएव हल में अश्व की अपेक्षा नहीं। किन्तु रथ में अश्व की अपेक्षा होती है, ऐसे ही वर्णाश्रम कर्म की आत्म विद्या की फल सिद्धि में अपेक्षा नहीं है। किन्तु आत्मविद्या की उत्पत्ति में अपेक्षा होती है। यज्ञादि के द्वारा तथा शम-दमादि से युक्त होकर ब्रह्म के जानने की इच्छा करे। क्योंकि दोनों का विधान है। जिस वर्ण और आश्रम के लिये जिस धर्म का विधान है उसको वह अवश्य करना चाहिए।

कुछ लोगों का कथन है कि ब्रह्मज्ञान होने पर सब का अन्न तथा सभी कुछ भक्षण करना चाहिए। क्योंकि ज्ञानी के सब ब्रह्म ही देख पड़ता है। उसको किसीप्रकार का विवेक नहीं रहता, इसका भी समाधान किया है "सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।" ३-४-२८॥ यदि प्राण निकल रहा हो तो उसकी रक्षा करने के लिये जो कुछ जहाँ कहीं से प्राप्त हो जाय, उससे प्राण की रक्षा करनी चाहिए। ऐसा ही श्रुति में देखा गया है तथा स्मृति और इतिहास में

भी ऐसा ही वर्णन है। इसको उन्हीं में देखना चाहिए, उनका उद्धरण नहीं कर रहे हैं क्योंकि विस्तार हो जायगा। आगे चलकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी के पतन का विचार करके निर्णय यह किया गया है कि उर्ध्वरेतसों का पतन चाहे उपपातक या महापातक माना जाय, किन्तु शिष्टों द्वारा वहिष्कार करना चाहिए। पुनः ज्ञानी अपने आप को प्रकट नहीं करता है इसको सिद्ध किया है। पुनः मुक्ति रूप फल का विचार किया है। यदि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है तो इसी शरीर में ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। यदि किसी प्रकार प्रतिबन्ध है तो अन्य शरीर में ब्रह्म साक्षात्कार होता है। श्रुतियों में मुक्तिरूपी फल एक ही है, इसप्रकार तृतीय अध्याय में साधन का वर्णन किया गया, अब चतुर्थ अध्याय में फल का वर्णन करते हैं। उसमें सगुण–निर्गुण विद्या का फल निरूपण किया गया है। प्रथमपाद में श्रवणादि की आवृत्ति के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का वर्णन है। उपासना की आवृत्ति से सगुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है जो उत्तम अधिकारी हैं उनको तो एक बार श्रवण से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होजाता है। जो अन्य अधिकारी हैं उनको श्रवण मनन, और निदिध्यासन बार बार करना चाहिये, जब तक दृढ़ निश्चय न हो जाय तब तक आवृत्ति करते रहना चाहिये। पुनः इस बात का विचार किया है कि वह शास्त्रोक्त ब्रह्म या आत्मा अपने आपको ही समझना चाहिए या अपने से अन्य को ? इसपर सिद्धान्त स्थापित किया है कि वह अपना ही स्वरूप है। क्योंकि श्रुतियों में कहा गया है "त्वं वा अहमस्मि भगवोदेवते ऽहं वै त्वमसि भगवो देवते अहं ब्रह्मास्मि एष त आत्मा सर्वान्तरः, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।" इत्यादि बृहदारण्योपनिषद् में बार बार आत्मा और ब्रह्म को अभेद रूप से सिद्ध किया गया है, अतएव वादरायण कहते हैं कि "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।"

४-१-३ ॥ आत्मा यह जानते है और ग्रहण कराते हैं। अन्य उपासनायें प्रतीक रूप से हैं, उनको आत्म रूप से ग्रहण नहीं करना चाहिये, उपासना या ध्यान बैठ कर ही सम्भव है। क्योंकि उसमें अचल-स्थिर रहना चाहिये। जिस देश काल में मन स्थिर हो वहीं पर उपासना करनी चाहिये, उसका कोई विशेष नियम नहीं है। जिस समय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, उस समय प्रथम किये हुए पुण्य-पाप का विनाश होता है और पश्चात् किए कर्म में लिप्त नहीं होता। प्रारब्ध कर्म का भोगने से नाश हो जाता है, इस प्रकार ज्ञानी सर्व कर्म बन्धनों से मुक्त पुनः जन्म को ग्रहण नहीं करता। चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद में म्रियमाण की उत्क्रांति के प्रकार का वर्णन किया है। तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म के उपासक को उत्तर मार्ग के द्वारा ब्रह्म लोक की प्राप्ति का वर्णन है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म ज्ञानी को कैवल्य प्राप्ति का तथा सगुण ब्रह्म ज्ञानी को ब्रह्म लोक में स्थित होने का वर्णन है। बादरायण के मत में जिसको ब्रह्म के शुद्ध रूप का साक्षात्कार हो गया उसको किसी अन्य लोक में नही जाना होता है। जो उपासना करने वाले हैं तथा निष्काम कर्म का अनुष्ठान करते हैं। यदि किसी प्रतिबन्धवश उन्हें इस शरीरमें ज्ञान नहीं हुआ तो वे ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहां पर उनको ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तथा वहां पर ही मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि श्रुतियों का यह सिद्धांत है और श्रुति सिद्धांत को प्रतिपादन करने के लिए यहां वेदान्त सूत्रों की रचना बादरयण ने की है। यथा "संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्" ४-४-१ ॥ इसी अभिप्राय की छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम अध्याय के सप्तम खण्ड में आख्यायिका है। एक समय प्रजापति (ब्रह्मा) ने देवताओं और असुरों की सभा में उपदेश दिया "य आत्मा, अपहत पाप्माविजरोविमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासःसत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः-स विजिज्ञासितव्यः

इत्यादि" जो आत्मा पाप से रहित है तथा भूख, प्यास, जरामरण से रहित है सत्य काम और सत्य संपल्प है उसको ढूढ़ना चाहिए, जानने की इच्छा करनी चाहिए। देवता तथा असुरों ने इस बात को सुना और विचार करके पुनः अपना एक एक प्रतिनिधि ब्रह्मा जी के पास उस आत्मा को जानने के लिए भेजा, देवताओं के प्रतिनिधि इन्द्र और असुरों के विरोचन हुए, उन्हीं को उपदेश करते हुए अन्त में प्रजापति ने कहा कि **"परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभि निष्पद्यते"** परंज्योति को प्राप्तकर अपने रूप से निष्पन्न होता है, इसी श्रुति का विचार प्रस्तुत सूत्र में किया गया है। यहां पर संशय हुआ है कि क्या उपभोग के स्थान देव लोकादिकों की भांति मोक्ष में भी किसी विशेषता की उत्पत्ति होती है या केवल आत्मा ही रहता है। प्रथम क्या प्राप्त हुआ कि स्थानान्तरमें आगन्तुक किसी विशेष रूप से अभिनिष्पन्न होता है। क्योंकि मोक्ष भी फलत्वरूप से प्रसिद्ध है और अभिनिष्पन्न शब्द उत्पत्ति का पर्य्याय है। यदि कहा जाय कि स्वरूप मात्र से अभिनिष्पन्न होता है तो पूर्वावस्थाओं में भी स्वरूप को बिना त्यागे ही प्रकाशित होता है, अतएव किसी विशेष रूप से अभिनिष्पन्न होता है। इस पर कहते हैं कि नहीं केवल आत्मरूप से ही आविर्भूत होता है, किसी अन्य रूप से नहीं। क्योंकि यहां पर स्व शब्द है। यदि किसी अन्य रूप से उत्पत्ति मानेंगे तो स्व विशेषण निरर्थक जायगा। अतएव आत्मा अपने स्वरूप से आविर्भूत होता है और सब बन्धनों से वह मुक्त है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। वह आत्मा ही है क्योंकि आत्मज्ञान का ही प्रकरण है, उसमें तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता। क्योंकि अनेक श्रुतियों में आत्मा और ब्रह्म के अभेद का वर्णन देखा गया है। इसके अनन्तर अन्य बातों का विचार भी किया गया है। किन्तु उनका वर्णन विस्तार भय से हम नहीं करते हैं।

जो सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं वे लोग ब्रह्म लोक में जाकर ब्रह्मा के समान ऐश्वर्य्य प्राप्त करते हैं। किन्तु सृष्टि आदि नहीं कर सकते और अन्त में ब्रह्मा के साथ ही मुक्त होजाते हैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है "अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात् ॥" ४-४-२२॥ इस सूत्र से मुक्त की उत्पत्ति का निषेध किया है। क्योंकि अनेक श्रुतियों के प्रमाण से सिद्ध है कि मुक्त की पुनरावृत्ति नहीं होती यथा "तेषां न पुनरावृत्तिः ।" वृह०६-२-१५॥ इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते ।" छा० ४-१५-६ ॥ "न च पुनरावर्तते॥" इत्यादि छा० ८-१५-१ ॥ अतएव जो लोग मुक्ति से पुनारावृत्ति को मानते हैं, उनका सिद्धान्त श्रुति विरुद्ध है। प्रायः सभी दर्शनकार मुक्ति के अनन्तर पुनः जन्म नहीं मानते हैं और इसकी सिद्धि युक्ति से भी की गयी है। कुछ लोग वादरायण पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने शून्द्रों के साथ अन्याय किया है। अब उसका विचार करेंगे वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में विचार किया है कि ब्रह्म विद्या में किसका अधिकार है "शब्दादेवप्रमितः" १--३-- २४ ॥ इस सूत्र में "अङ्गुष्ठमात्रःपुरुषोमध्यआत्मनितिठति ।" (अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष आत्मा के मध्य में स्थित है) इस श्रुति में आये अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष का विचार करके ईश्वर सिद्ध किया है, पुरुष को अङ्गुष्ठ मात्र कहने का अभिप्राय बतलाया कि हृदय देश अंगुष्ठ परिमाण का है, उसी में रहने से पुरुष को भी अंगुष्ठमात्र कहा गया है। तब यह संदेह हुआ कि संसार में बहुत से जीव हैं, उनमें कुछ तो दृष्टिगोचर भी नहीं होते और सभी के हृदय है उनमें परमात्मा भी है। क्योंकि परमात्मा सर्व भूतों के हृदय में रहता है। अतएव सबका हृदय अंगुष्ठमात्र नहीं है यद्यपि कहा जा सकता कि उन उन प्राणियों के अंगुष्ठमात्र हृदय उनका होगा। किन्तु कुछ प्राणियों के अंगुष्ठ ही नहीं होता ? उनके हृदय को किस परिमाण का कहेंगे, इस

पर वादरायण कहते हैं कि "हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्" १—३—२५ ॥ ब्रह्म विद्या में मनुष्य का अधिकार होने से मनुष्य के अंगुष्ठमात्र पुरुष है। क्योंकि मनुष्य का हृदय अंगुष्ठमात्र है, इस पर प्रश्न हुआ क्या मनुष्य को ही अधिकार है? अन्य को नहीं। तब वादरायण जी कहते "तदुपर्यपि वादरायणः संभवात्।" १-३-२६ संभव होने से मनुष्यों से ऊपर देवताओं को भी ब्रह्म विद्या की प्राप्ति में अधिकार है इसके अनन्तर देवताओं को विग्रहवान् भी सिद्ध किया है। क्योंकि बिना विग्रह के विचार में प्रवृत्ति नहीं होती। इन्द्रादि देवताओं का ब्रह्म विद्या के लिये प्रजापति के समीप निवास करने का वर्णन भी उपनिषदों में है, अतएव देवता भी ब्रह्म विद्या के अधिकारी हैं। अब प्रश्न होता है कि क्या सभी मनुष्यों का ब्रह्म विद्या में अधिकार है कि किसी विशेष मनुष्य का ही? वेदान्त दर्शन के प्रारम्भ में कह आये हैं कि साधन चतुष्टय सम्पन्न मनुष्य ही ब्रह्म के विचार का अधिकारी है। किन्तु साधन चतुष्टय होने पर भी क्या सभी श्रेणी के मनुष्य ब्रह्म का विचार श्रुतियों के द्वारा कर सकते हैं? नहीं, क्योंकि श्रुतियों के अध्ययन का अधिकार जिसको है, वही श्रुतियों द्वारा ब्रह्म का विचार कर सकता है। तो श्रुतियों के अध्ययन का अधिकार किसको है? जिसका उपनयन संस्कार होता है। उपनयन संस्कार किसका होता है? ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य का। ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य किनको कहते हैं? जो ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य माता–पिता से उत्पन्न हुए हों। इन ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्यों की उत्पत्ति कब हुई? सृष्टि के प्रारम्भ में ही। सृष्टि कब प्रारम्भ हुई? वास्तव में सृष्टि अनादि है। किन्तु प्रलय के अनन्तर पुनः सृष्टि होती है, जब जब सृष्टि होती है, तब तब ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य,

शूद्र, चार वर्ण उत्पन्न होते हैं, इनको कौन उत्पन्न करता है? परमात्मा, परमात्मा कौन है? उसका वर्णन प्रथम कर आए हैं।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार की विषमता परमात्मा क्यों करता है? एक ही प्रकार की श्रेणी मनुष्यों की बनाता तो एक प्रकार के मनुष्यों की श्रेणी से संसार का व्यवहार नहीं चल सकता। तथा सृष्टि एक सी बन भी नहीं सकती क्योंकि, प्राणियों के कर्म विभिन्न हैं। वह कर्मों का प्रवाह भी अनादिकाल से है, अतएव पशु-पक्षी आदि में भी विभिन्नता है जो ईश्वर को नहीं मानते उनके सिद्धान्त में भी एक सी सृष्टि नहीं है। अतएव सभी मनुष्यों में बल, बुद्धि समान नहीं होती। माता-पिता के स्वभाव का प्रभाव बालक पर पड़ता है। हमारे यहां शास्त्रों में सन्तान उत्पन्न करने की विधि बतलायी गई है, यदि उस विधि से सन्तान उत्पन्न की जाय तो ब्राह्मण के ब्राह्मण, क्षत्रिय के क्षत्रिय, वैश्य के वैश्य और शूद्र के शूद्र सन्तान उत्पन्न हो सकती है। यदि कहा जाय कि सभी मनुष्यों के लक्षण एक से होते हैं तो ब्राह्मण क्षत्रिय आदि की पहिचान कैसे हो? तो सबके लक्षण एक से नहीं होते हैं क्योंकि देश-काल जाति के भेद से मनुष्यों की आकृति-रक्त-मज्जा-मांस और हड्डी तक में भेद होता है, कुछ स्थूल भेद और कुछ सूक्ष्म भेद होता है सभी भेदों का ज्ञान सबको नहीं होता, जो व्यक्ति विशेष बुद्धियुक्त होते हैं वे इन भेदों को जानते हैं। अतएव ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के भेद से मनुष्यों के चार भेद होते हैं। किन्तु वर्तमान समय में तो अनन्त भेद हो गये हैं और भी होंगे। जब तक संसार है तब तक भेद दूर नहीं हो सकता, अतएव ब्रह्म विद्या का अधिकार सब मनुष्यों को नहीं है।

यह अपशूद्राधिकरण में सिद्ध किया गया है। पूर्व मीमांसा में भी सबको धर्म विचार का तथा वेदाध्ययन का अधिकार नहीं दिया है।

इस विषयमें अनेक श्रुतियों का प्रमाण है, उन श्रुति सूत्रों को पढ़कर आजकल लोग ऋषियों पर आरोप लगाते हैं कि "शूद्रों के साथ अन्याय किया गया है।" वास्तव में ऋषि अन्याय नहीं करते हैं, वे मनुष्य का कल्याण चाहते हैं, जैसे कोई रोगी वैद्य के समीप जाता है, तो सद्वैद्य रोगी की परीक्षा करके तब उसको औषधि देता है। सब को एक ही औषधि से लाभ नहीं हो सकता। किन्तु जो औषधि को बेचता है वह रोगी की परीक्षा नहीं करता उसको तो पैसा चाहिये, इसलिए पैसा मिलने पर औषधि देता है। चाहे उससे रोगी को लाभ हो या हानि हो। ऐसे ही जो ज्ञान को वेचते हैं वे नहीं देखते कि किसको इससे लाभ होगा और किसको हानि, वे पैसे के लिये सबको ब्रह्मविद्या का उपदेश करते फिरते हैं। ब्रह्मविद्या ही क्या? संसार में जितनी भी विद्यायें हैं, उन सभी में यही सिद्धान्त लागू होता है। जो मनुष्य जिसका अधिकारी है उसी के अध्ययन से उसको लाभ होगा और वह अन्य को भी लाभ पहुँचा सकता है। शूद्रों को भी पुराणेतिहास द्वारा धर्म का ज्ञान हो जाने पर भगवत्प्राप्ति हो सकती है और उसे उनको सुनने का विधान भी है। भगवत्प्राप्ति होजाने पर वेदाधिकार की अपेक्षा ही नहीं रहती है। क्योंकि वेद में जिस तत्व का वर्णन किया है उसके द्वारा भगवान् का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है और वही ज्ञान यदि विना वेदों के प्राप्त हो जाता है तो फिर ऋषियों पर उक्त आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। श्रुति के द्वारा ब्रह्मविद्या श्रवणादि का अधिकार यज्ञोपवीती को ही दिया गया है। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी सविधि संस्कार रहित हैं तो उनको भी वेदाधिकार नहीं है। वेदाधिकार ही क्यों शुद्ध ब्राह्मण-ब्राह्मणी द्वारा उत्पन्न बालक अनुपनीती होने पर, नित्य कर्म भी करने का अधिकारी नहीं और शूद्रादिकों के संस्कार का कहीं विधान नहीं है। इस कारण पूर्वाचार्यों ने उनके साथ कोई अन्याय नहीं

किया है। अतएव जिस प्रकार अनादिकाल से शूद्रों के पूर्वज अधिकारानुसार अपना कल्याण सम्पादन करते रहे हैं, उसी प्रकार अब और आगे भी कल्याण प्राप्त कर सकते हैं इसमें किसी प्रकार का पक्षपात या अन्याय नहीं है।

वेदान्त दर्शन सिद्धान्त का संक्षेप में हमने वर्णन किया, इसका वास्तविक सिद्धान्त अद्वैतवाद ही है। किन्तु इस पर आचार्यों के विभिन्न प्रकार के भाष्य हैं, उनसे मनुष्य की बुद्धि में भ्रम पड़ सकता है। किन्तु जिनको संस्कृत भाषा का परिज्ञान है तथा किसी मत बिशेष में प्रथम से ही अभिनिवेश नहीं है, तो उनको श्रुति तथा सूत्रों के मूल अध्ययन से कहीं भी अन्य मत की झलक नहीं मिलेगी। किसी भी श्रुतिमें शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि शब्द नहीं आते। किन्तु अद्वैत शब्द कई स्थानों में आता है, उन्हीं श्रुतियों के विचार के लिये ब्रह्म सूत्र की रचना की गई, तो इसका सिद्धान्त अद्वैत्व से भिन्न कैसे हो सकता है ? अब हम संक्षेप में ही अन्य भाष्यकारों के मत दिखलाते हैं।

॥ शङ्कराचार्य्य का सिद्धान्त ॥

शङ्कराचार्य्य का भाष्य वेदान्त दर्शन पर है तथा उपनिषदों और गीता पर भी किया है, उन सभी में उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त को ही सिद्ध किया है। यद्यपि उपनिषदों का सीधा-सरल अर्थ अद्वैत परक ही है तथा उन्होंने उसको अनेक युक्तियों से भी सिद्ध किया है। वेदान्त दर्शन के सूत्रों का भाष्य प्रारंभ करते ही उन्होंने प्रथम अध्यास का कथन किया है। क्योंकि बिना इसके युक्ति से अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता अतएव अद्वैतवाद के मौलिक सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये अध्यास को दिखलाते हैं।

अद्वैत वादियों का कथन है कि ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्व प्रकाशक तथा स्वयं प्रकाश स्वरूप है, उसी ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। उस स्वयं प्रकाश शुद्ध ब्रह्म से जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता ? क्योंकि यदि उस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्वीकार की जायगी, तो वह परिणामी होगा परिणाम सावयव पदार्थ में होता है। यदि ब्रह्म को सावयव माना जायेगा तो वह अनित्य होगा। क्योंकि सावयव पदार्थ नित्य नहीं होता है, अतएव उस ब्रह्म का परिणाम जगत् नहीं किन्तु माया का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त है, विवर्त कहते हैं वस्तु स्वरूप में विकार न होकर अन्यथा प्रतीत होने को। उस अन्यथा प्रतीतिका कारण माया है, इस विषयमें कई मत हैं। कोई माया, अज्ञान, अविद्या, प्रकृति और तम को एक ही मानते हैं, कुछ इसमें भेद मानते हैं, इसके सूक्ष्म भेद को वेदान्त ग्रन्थों में ही देखना चाहिए। वह माया ब्रह्मके आश्रय रह कर अनेक प्रकार के संसार रूप परिणाम को प्राप्त होती है, यदि कहा जाय कि वह माया किसी का परिणाम है या नहीं ? सो यदि माया को किसी अन्य का परिणाम माना जायगा तो वह अन्य ब्रह्म है, या ब्रह्म से भिन्न है। यदि ब्रह्म को मानोगे तो पूर्वोक्त दोष होगा और अन्य को मानोगे तो अद्वैत नहीं सिद्ध होगा तथा वह अन्य भी किसी अन्य का परिणाम मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा। अतएव वह माया अनादि कल्पित है, उस माया का कल्पक अन्य नहीं। किन्तु अपनी कल्पना में स्वयं हेतु है।" यदि माया को कल्पित न मानेंगे तो उसकी निवृत्ति नहीं होगी। अतएव माया उस शुद्ध ब्रह्म में अनादि काल से कल्पित है, ब्रह्म द्रष्टा प्रकाशक और अन्य दृश्य प्रकाश्य है। द्रष्टा और दृश्य के धर्म विवेक न होने से एक दूसरे में प्रतीत होते हैं उसीको अब दिखलाते हैं।

युष्मद्-अस्मत्प्रत्यय के गोचर विषय, विषयी, तम और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वालों का एक दूसरे के भाव की प्राप्ति सिद्ध

न होने पर उनके धर्म की तो अच्छी प्रकार से एक दूसरे भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। अस्मत् प्रत्यय गोचर विषयी चिदात्मा में युष्मत् प्रत्यय गोचर विषय का तथा उनके धर्मों का अध्यास होता है। उससे विपरीत विषयी और उसके धर्मों का अध्यास होता है, यह कथन मिथ्या है। तब भी एक दूसरे में एक दूसरे के स्वरूप का तथा उनके धर्मों का अविवेक से अध्यास करके अत्यन्त विविक्त धर्म–धर्मी का सत्य और असत्य को एक करके यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह मिथ्या ज्ञान निमित्तक स्वाभाविक व्यवहार होता है। अध्यास कहते हैं स्मृति रूप पर में पूर्व दृष्ट की प्रतीति को। इस अध्यास के विषय में दार्शनिकों में मतभेद है, उसको हम उपसंहार में दिखलायेंगे। किन्तु सब के मत में अन्य का अन्य धर्म से प्रतीत होना माना गया है। लोक में अनुभव भी होता है, शुक्तिका रजत के समान प्रतीत होती है और रस्सी सर्प के आकार की प्रतीत होती है। यदि कहा जाय कि लोक में ऐसा होता है। किन्तु अन्तरात्मा में विषय और उसके धर्म का अध्यास कैसे हो सकता है? क्योंकि आत्मा विषय नहीं है, लोक में सामने स्थित एक विषय में अन्य विषय का अध्यास होता है। आत्मा किसी का विषय नहीं है, ऐसा सिद्धान्त है। क्योंकि यदि आत्मा को विषय माना जायगा, तो आत्मा जड़ सिद्ध होगा। पुनः उस आत्मा के ज्ञान के लिये अन्य किसी को विषयी मानना पड़ेगा, उसके लिये पुनः किसी अन्य को इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि किसी को स्थिर स्वयं प्रकाश विषयी माना जायगा तो वही आत्मा होगा। क्योंकि आत्मा से अन्य विषयी नहीं हो सकता, वास्तव में आत्मा अविषय नहीं है। क्योंकि अस्मत् प्रत्यय का विषय है और आत्मा अपरोक्ष भी है। क्योंकि अन्तरात्मा रूप से प्रसिद्ध है। यह भी कोई नियम नहीं कि सामने स्थित विषय में ही अध्यास होता है क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाश में भी

तल मलिनता आदि का अध्यास होता है। ऐसा सब को विदित है, इसी अध्यास को पण्डित लोग अविद्या मानते हैं। विवेक से उस अविद्या की निवृत्ति होती है। जब अविद्या निवृत्त होगई तब जिसमें जिसका अध्यास है, उसके गुण-दोष से वह अणु मात्र भी लिप्त नहीं होता। जब तक अविद्या है तब तक संसार के समस्त व्यवहार होते रहते हैं। अविद्या के निवृत्त होने पर जीवन्मुक्ति की अवस्था में भी व्यवहार होता है, वह व्यवहार शास्त्रीय मर्य्यादाओं के अनुसार ही होता है। इन सब बातों की पुष्टि शङ्कराचार्यजी के प्रस्थानत्रय पर किये हुए भाष्य के अवलोकन से होती है, उन्होंने श्रुतियों की अधिक खींचातानी नहीं की है, कुछ खींचातानी तो भाष्यकार करते ही है। किन्तु अद्वैत सिद्धान्त ही श्रुति सम्मत है तथा उसी श्रुति का विचार करने वाला वेदान्तदर्शन भी अद्वैत ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है।

जो लोग शङ्कराचार्य्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं, वे उनके भाष्यों को समझते नहीं। बुद्ध के तथा शङ्कराचार्य्य के सिद्धान्त में बहुत ही भेद है, बुद्ध के मूल उपदेशों में आत्मतत्व का कहीं कोई स्पष्ट वर्णन नहीं है, वे वेद को प्रमाण नहीं मानते थे अपितु अपने वचनों को ही प्रमाण मानते थे। उनके मत में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है और उपासना भी उनके मत में विचित्र ढङ्ग की है। बुद्ध ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की है। उनके समस्त उपदेश मौखिक हुए हैं, पश्चात् उनके शिष्यों ने लिपिबद्ध किया है। किन्तु उन उपदेशों का परस्पर सम्बन्ध नहीं, उनके टीकाकारों ने कई प्रकार का अर्थ लगाया है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में भी मतभेद है, उनका वर्णन बौद्ध दर्शनसिद्धान्त में करेंगे। अतएव शङ्कराचार्य्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना असत्य है। उनका न तो दार्शनिक सिद्धान्त बौद्धों के अनुसार है न व्यावहारिक ही

शङ्कराचार्य्य जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं, अतएव व्यवहार काल में जहाँ जैसा व्यवहार उचित है वहां वैसा ही मान लेते हैं। अतएव व्यवहार में किसी प्रकार का विरोध नहीं। ज्ञान होने के पूर्व तथा पश्चात् भी ज्ञानी का व्यवहार उचित ही होता है, इसीलिये ज्ञान होने के अनन्तर सन्यास आश्रम का ग्रहण करना शङ्कराचार्य्य के मत में आवश्यक है।

यदि किसी प्रवल प्रारब्ध के वश सन्यासाश्रम में न जा सकै, तो गृहस्थ आश्रम में रहकर समस्त धर्मों का प्रतिपालन ज्ञानी को करना चाहिए। मोक्षावस्था में केवल ब्रह्म ही रहता है, अन्य कोई तत्त्व नहीं। इस सिद्धान्त को प्रायः सभी दर्शनकार मानते हैं कि मोक्ष में केवल (एक) रहता है। अतएव उसी अवस्था को सत्य-सिद्ध करने का प्रयत्न शङ्कराचार्य्य ने किया है। वह सिद्धान्त श्रुति तथा युक्ति से विरुद्ध नहीं और स्वाभाविक भी है। अतएव शङ्कराचार्य्य के सिद्धान्त को मानने वाले अधिक विद्वान् हुए हैं, अभी हैं और आगे भी होंगे। आधुनिक काल के विचारक प्रायः इसी सिद्धान्त की ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

॥ रामानुज दर्शन सिद्धान्त ॥

रामानुजाचार्य्य चिद्, अचिद्, ईश्वर (भोक्तृ-भोग्य-नियामक) रूप भेद से व्यवस्थित तीन पदार्थ मानते हैं। भोक्ता चिद् जीव है, भोग्य अचिद् जगत् और नियामक सब का ईश्वर है। क्योंकि रामानुज के मत में चिद् और अचिद् ब्रह्म के विशेषण हैं, इनसे विशिष्ट ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। इनका कथन है कि जीव और जगत् ईश्वर के शरीर हैं। इनमें रहने वाला ईश्वर ही शरीरी है, उनका यह भी कथन है कि चिद् शब्दवाच्य जीव परमात्मा से भिन्न है और नित्य है एवं अचिद् पदवाच्य कारण-कार्य्य रूप

जगत् विकारात्मक है। चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। अतएव जगत् भी चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही है, इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन श्रुति-स्मृति आदि में है, यही वेदान्त दर्शन में भी सिद्ध किया गया है। रामानुज ने वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है, इस सूत्र में अथ आनन्तर्य्य अर्थ में है, अतः शब्द वृत्त के हेतुभाव में है। जिसने साङ्ग सशिरस्क वेद का अध्ययन किया है उसको ही धर्म और ब्रह्म के विचार का अधिकार है। प्रथम पूर्व मीमांसा द्वारा जब कार्य का विचार किया जाता है तब कर्म का फल, अल्प और अस्थिर है, यह ज्ञान होता है। अनन्तर अनन्त और स्थिर फल है, जिसकोँ ऐसे ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है स्वभाव से निरस्तनिखिलदोष, अनवधिक, अतिशय, असंख्येय कल्याण गुणगण युक्त पुरुषोत्तम क्योंकि सर्वत्र वृहत्त्व गुण योगसे ब्रह्म शब्द निष्पन्न है। स्वरूप से गुण से जिसमें अनवधिक अतिशय है, वही ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ और वही सर्वेश्वर है। जिज्ञासा का अर्थ है इष्यमाणज्ञान, इसीका इसमें विधान किया गया है। किन्तु रामानुज ब्रह्म को सगुण ही मानते हैं और उसी में सर्व श्रुतियों का समन्वय करते हैं। शङ्कराचार्य ने व्यवहार में ब्रह्म को सगुण माना है, परमार्थ में ब्रह्म निर्गुण ही है। अतएव श्रुति का समन्वय निर्गुण में ही किया है। रामानुज के मत में जीव, ईश्वर और जड़ प्रकृति परमार्थ में सत् हैं। परस्पर भिन्न होते हुए भी सम्बन्धित हैं अतएव इनके मत में परमात्मा सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद के सहित है और भेद होने पर भी शरीर विशिष्ट के एक होने से विशिष्टाद्वैतवाद है। इनके मत में परिणामवाद स्वीकृत है तथा सत्ख्याति का समर्थन किया है, इनके मत में जीवन्मुक्ति भी नहीं स्वीकृत है अर्थात् मुक्ति में भी जीव ब्रह्म का भेद ही रहता है। याथातथ्य

से परमात्मा स्वरूपावबोधपूर्वक उसका कैंकर्य ही मोक्ष है, इन्हीं सब बातों को ब्रह्मसूत्र के भाष्य में सिद्ध किया है, विस्तार भय से नहीं लिख रहे हैं।

॥ माध्व दर्शन ॥

माध्व दर्शन को पूर्णप्रज्ञदर्शन भी कहते हैं। माध्व के मत में द्वैतवाद माना गया है, द्वैतवाद का अर्थ है भेद और वह भेद पाँच प्रकार का है, "१ जीव और ईश्वर का भेद, २ जड़ और ईश्वर का भेद, ३ जीव तथा जड़ का भेद, ४ जीवों का परस्पर भेद, ५ जड़ का परस्पर भेद।" यह पाँच भेद सत्य हैं तथा अनादि हैं, यदि सादि हों तो नाश को प्राप्त हो जाँय। किन्तु यह कभी भी नाश नहीं होते तथा वह भेद असत्य भी नहीं होते। क्योंकि यह भ्रान्ति से कल्पित नहीं हैं जो भ्रान्ति से कल्पित होता है उसकी निवृत्ति अवश्य होती है क्योंकि इसकी निवृत्ति होती नहीं है, अतएव यह भेदप्रपञ्च सत्य है और अनादि भी है। जीव परमात्मा से भिन्न है तथा परतन्त्र है और अणु परिमाण वाला है। वह परमात्मा की सेवा करने से उसकी कृपा से मुक्त होता है। इस सिद्धान्तकी सिद्धि श्रुति-स्मृति आदि से होती है तथा प्रत्यक्ष अनुमान भी प्रमाण है। वेदान्त दर्शन में भी इसी सिद्धान्त को सिद्ध किया गया है, ऐसा इनका मत है अर्थात् इसी द्वैतवाद को इन्होंने सिद्ध किया है, यह इनके मत का संक्षेप है।

॥ निम्बार्क दर्शन ॥

निम्बार्काचार्य के मत में द्वैताद्वैत माना गया है। वे कहते हैं कि द्वैत-अद्वैत को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां मिलती हैं, अतएव द्वैत भी सत्य तथा अद्वैत भी सत्य है। उस द्वैताद्वैत को सिद्ध करने के लिए ही श्रुति सूत्र आदि पर उन्होंने भाष्य लिखा है। इनके

मत में भी ईश्वर की उपासना करना चाहिए ऐसा विधान है। इनके मत में सदा भेदाभेद बना रहता है। उन्होंने अपने भाष्यों में इसी द्वैताद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि की है, ब्रह्मसूत्र पर इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए भाष्य लिखा गया है।

॥ वल्लभाचार्य्य दर्शन ॥

वल्लभाचार्य्य शुद्धाद्वैतवादी हैं, उन्होंने भी इस सिद्धान्त की सिद्धि के लिए अपने भाष्य, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों पर किये हैं। वल्लभाचार्य्य के मत में एक ब्रह्मतत्व है। वह निर्गुण नहीं सगुण है, उसी ब्रह्म के अंश जीव आदि हैं। भगवान् अपनी शक्ति से सबको उत्पन्न करते हैं। उनके मत में संसार मिथ्या नहीं है, जीव का स्वरूप अणु है और मुक्ति में जीव ब्रह्म के साथ रहकर उनकी लीलाओं का आनन्द लेता है। इसी प्रकार ब्रह्म सूत्र पर अन्य भाष्य भी उपलब्ध हैं, जिसका जो मत है उसी की पुष्टि अपने भाष्यों द्वारा वह करता है। यदि सभी भाष्यों के सिद्धान्तों का उद्धरण करके उनकी समालोचना करें तो ग्रन्थ का विस्तार हो जायगा। वास्तव में ब्रह्म सूत्र तथा श्रुतियों का तात्पर्य्य अद्वैत ब्रह्म के प्रतिपादन में ही है, जैसा कि हमने प्रथम दिखलाया है और विशेष कर उपसंहार में दिखलायेंगे। इस प्रकार न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा (वेदान्त) दर्शनों का सिद्धान्त निरूपण संक्षेप में किया। इन्हीं ६ दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। क्योंकि ये सभी किसी न किसी रूप से वेद को प्रमाण मानते हैं तथा वेद प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्म को ही मानव कल्याण का कारण बतलाते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इनमें परस्पर विशेष सम्बन्ध है, बिना इन षट दर्शनों के अध्ययन किये लौकिक-पारलौकिक किसी भी बात का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है।

यदि कोई न्याय दर्शन का अध्ययन किये बिना ही प्रमाण आदि के लक्षणों को जानना चाहे तो नहीं जान सकता। क्योंकि अन्य किसी दर्शन के मूल में प्रमाणादिकों का लक्षण नहीं किया है; भाष्यकार या टीकाकार अथवा उसके आधार पर अन्य ग्रन्थकर्त्ता कुछ लक्षण करते हैं। किन्तु न्याय दर्शन में पूर्ण न्याय का वर्णन है, अतएव न्याय दर्शन को अवश्य पढ़ना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में पदार्थों के सामान्य और विशेष लक्षणों का प्रतिपादन किया है, अर्थात् द्रव्यादि का लक्षण वैशेषिक दर्शन में स्पष्ट रूप से किया है अन्य किसी दर्शन में नहीं। अतएव द्रव्यादि के लक्षण जानने के लिए वैशेषिक दर्शन का अध्ययन करना परमावश्यक है। अन्य दर्शन के मूल में द्रव्यादि का लक्षण नहीं हैं। सांख्य दर्शन में प्रकृति–पुरुष का सूक्ष्म विवेचन किया है तथा अन्य तत्वों का और सत्व–रज–तमगुणों का विवेचन है, अन्य किसी दर्शन में नहीं। अतएव प्रकृति–पुरुष आदि सूक्ष्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सांख्य दर्शनका अध्ययन आवश्यक है। योग दर्शन में समाधि का तथा समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियों का और उनके सूक्ष्म भेदों का बर्णन है, जो अन्य किसी दर्शन में नहीं। योगाभ्यास की आवश्यकता सभी दर्शनकार मानते हैं। किन्तु उसका उपाय किसी ने नहीं बतलाया है।

अतएव योग के सूक्ष्म भेद को जानने के लिये योगदर्शन की आवश्यकता है। पूर्व मीमांसा में धर्म का लक्षण तथा यज्ञादि धर्म को प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों की उपपत्ति को अच्छी प्रकार से वर्णन किया है। यद्यपि उसमें व्यावहारिक धर्मों का वर्णन नहीं है। किन्तु उनके भी जानने की प्रणाली का उसमें विवेचन किया है और श्रुति के अर्थ निर्णय की रीति भी उसीमें है। बिना पूर्व मीमांसा का अध्ययन किये श्रुति वाक्यों की संगति लगाने की रीति का परिज्ञान नहीं हो सकता है, अतएव श्रुति के तात्पर्य्य निर्णय करने के लिये पूर्व मीमांसा का अध्ययन आवश्यक है।

पूर्व मीमांसा को जैमिनि दर्शन भी कहते हैं। ब्रह्म का विचार उत्तर मीमांसा (वेदान्तदर्शन) में विस्तार से किया है और उपनिषदों की संगति भी लगायी है। किन्तु इसके भाष्यकारों में मतभेद है। वह भी आपात दृष्टि से है, यदि विचार किया जाय तो अद्वैत, द्वैत, विशिष्टा द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत में से किसी भी सिद्धान्त में दृढ़ता हो जाय तो मनुष्य का कल्याण होजाता है और समस्त संदेहों की निवृत्ति भी हो जाती है। क्योंकि सभी के मत में ब्रह्म का दर्शन सर्व श्रेय का साधन माना है। जब ब्रह्म का साक्षात्कार होगया तो कोई विरोध नहीं, वास्तव में सभीवाद परमात्मा के ही रूप हैं। किन्तु इन सिद्धान्तों की दृढ़ता तभी होती है, जब मनुष्य वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान करता है। अतएव सभी आचार्य्य महानुभाव वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करते हैं। ब्रह्म के किसी भी स्वरूप का ज्ञान बिना वेदान्त दर्शन के अध्ययन किये नहीं होसकता। अतएव उसका अध्ययन करना चाहिए।

॥ इति वेदान्त दर्शन सिद्धान्त ॥

॥ नकुलीश पाशुपत दर्शन ॥

ईश्वरवादी दर्शनों में कुछ अन्य दर्शन भी हैं जिनकी इस समय प्रसिद्धि नहीं है, तब भी उनके सिद्धान्त संक्षेप में लिखते हैं। नकुलीश पाशुपत दर्शन में शिव को पशुपति माना है, और अन्य जीवों को पशु कहा है। यथा :—

"ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्य्यन्ता पशवः परिकीर्तिताः ॥
तेषां हि नायको यस्माच्छिवः पशुपतिः स्मृतः ॥"

ब्रह्मा आदि स्तम्ब पर्य्यन्त जीव पशु कहे गये हैं, उनके नायक शिवजी हैं अतएव शिव पशुपति हैं। जीवों के पाशनिरासकत्व रूप से कार्य्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त रूप पांच तत्वों

का प्रतिपादन पशुपति ने किया है। इस जगतीतल में रहने वाले समस्त चेतन–अचेतन पदार्थ कार्य्य शब्द से कहे गये हैं और कारण शब्द से ईश्वर कहा गया है। वह ईश्वर स्वतन्त्र है जप और ध्यानादि योग शब्द से कहे गये हैं। तीन वार स्नान, भस्म स्नान आदि व्रत, विधि शब्द से कहे गये हैं। दुःख निरास पूर्वक ईश्वर भाव की प्राप्ति, दुखान्त शब्द से कहा गया है।

जीव में पाँच हेतुओं से पशुत्व आता है। मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति, हेतु और च्युति, यह पांच हेतु हैं एवं साधक की शुद्धि के उपाय भी पाँच हैं 'वासचर्य्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति तथा प्रपत्ति।' जिनके द्वारा अर्थानुसंधान पूर्वक ज्ञान और तप की वृद्धि होती है। वे इस प्रकार से कहे गये हैं कि 'गुरुजन, गुहा देश, श्मशान और रुद्र' व्यक्त, अव्यक्त, जप, दान और निष्ठा यह पाँच अवस्थायें हैं, मिथ्या, ज्ञानादि की विशुद्धि के पाँच प्रकार हैं जैसे 'अज्ञान, अधर्म और सङ्ग करने वाले की, च्युति एवं पशुत्व की हानि है।' दीक्षाकारी पाँच हैं 'द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु।' बल भी पाँच हैं 'गुरुभक्ति, प्रसाद, द्वन्द्व जय, धर्म और अप्रमाद' इस मत में ईश्वर को कर्मादि-निरपेक्ष कारण माना गया है, वह स्वेच्छाचारी है। यदि कहा जाय कि इस विचित्र जगत् का ईश्वर निरपेक्ष कारण है तो कर्म निष्फल होगा और सब कार्य्य एक समय में ही उत्पन्न होंगे यह दो दोष हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि व्यधिकरण हैं। यदि निरपेक्ष ईश्वर में कारणत्व हो तो कर्म में वैफल्य क्यों आया, क्या प्रयोजनाभाव है? किसका प्रयोजनाभाव, कर्म वैफल्य में कारण है? कर्मी का या ईश्वर का? प्रथम ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वरेच्छा से अनुगृहीत कर्मीका कर्म सफल होता है। यदि ईश्वर से अनुगृहीत नहीं तो कदाचित कर्म की निष्फलता भी है। किन्तु इतने से ही कर्म में अप्रवृत्ति नहीं होती, जैसे किसान खेती करता है, कभी वह

सफल होता है कभी नहीं भी होता है। किन्तु वह खेती में सदा प्रवृत्त होता है तथा पशु रूपी जीवों की प्रवृत्ति तो ईश्वर के आधीन है अतएव अवश्य कर्मों में प्रवृत्त होगा। ईश्वर को किसी प्रकार की कामना नहीं अतएव उसके प्रति कर्म विफल हो तो उसकी कोई हानि नहीं। क्योंकि उसको कर्म की अपेक्षा ही नहीं है। एक समय सर्व कार्य्यों की उत्पत्ति रूप दोष भी नहीं आता। क्योंकि ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति से उसकी इच्छानुसार कार्य्य होता है, ऐसा पाशुपतों का मत है।

॥ शैव दर्शन ॥

शैव दर्शन भी इसीसे मिलता जुलता है, किन्तु उसमें ईश्वर को निरपेक्ष कारण नहीं माना है। शैव दर्शन में भी शिवतत्व साक्षात्कार से जीव की मुक्ति होती है। अतएव इसका विस्तार नहीं करते। वास्तव में पाशुपति और शैवदर्शन के साधन और मोक्ष में कोई विशेष भेद नहीं है।

॥ प्रत्यभिज्ञा दर्शन ॥

यह दर्शन भी शैव मत से सम्बन्धित है। मोक्ष की प्राप्ति में प्रत्यभिज्ञा ही मुख्य साधन है, यह इस दर्शन का सिद्धान्त है 'ईश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है, वह जगत् की रचना में किसी भी कर्मादि की अपेक्षा नहीं करता किन्तु स्वेच्छा से ही सब का निर्माण करता है, जीव परस्पर भिन्न होते हुए भी परमेश्वर से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि जीव और ईश्वर के चैतन्य स्वभाव में कोई विशेषता नहीं है और परमेश्वर में जीव का तादात्म्य स्वानुभव सिद्ध है। अतएव जीवों को उस ईश्वर की तादात्म्यता प्राप्ति के लिये प्रत्यभिज्ञा का ही आश्रय लेना चाहिए।' प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है कि मैं ईश्वर ही हूँ उससे भिन्न नहीं, इस प्रकार के साक्षात्कार से अभ्युदयरूप मोक्ष प्राप्त होता है। उसके लिये प्राणायामादि, कायशोषणादि, जप तथा परिचर्य्यादि

की अपेक्षा नहीं है। यद्यपि ईश्वर के समान ही जीवात्मा भी चैतन्य रूप से ही प्रकाशित होता है, तो भी अंश रूप से ही प्रकाशित होता है। परिपूर्ण चैतन्य रूप से प्रकाशन के लिये प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता है, पूर्णात्मा का लाभ ही मोक्ष है। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सिद्धान्त है।

॥ इति ॥

॥ रसेश्वर दर्शन ॥

पारद आदि रूप जो रस है, उस रूप वाला ईश्वर रसेश्वर है उस रसेश्वर के सेवन से शरीर दृढ़ होता है, दृढ़ शरीर ही मुक्ति का हेतु है, इनके मत में भी जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं है। किन्तु ईश्वर स्वरूप ही है। पारद रस के सेवन से शरीर स्थिर होता है तभी जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है, बिना शरीर की दृढ़ता के जीवन्मुक्ति नहीं प्राप्त होती है। अतएव रसादि सेवन द्वारा शरीर की दृढ़ता सम्पादन करके परमात्मा के अभेद ज्ञान से जीवन्मुक्ति सुख का लाभ लेना चाहिए, यह रसेश्वर दर्शन का सिद्धान्त है। इस प्रकार ईश्वरवादी तथा आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों को संक्षेप में निरूपण किया आगे अनीश्वरवादी नास्तिक दर्शनों का वर्णन करेंगे।

॥ चार्वाक दर्शन सिद्धान्त ॥

नास्तिक अनीश्वरवादियों में बृहस्पति का शिष्य चार्वाक मुख्य माना गया है। कुछ लोगों का कथन है कि चार्वाक किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, किन्तु जो खाना–पीना आदि संसार के भोगों को ही सब कुछ समझता है वह चार्वाक कहा जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि नहीं ऐसा नाम भी हो सकता है। कुछ भी हो चार्वाक के मत में ईश्वर तथा परलोक आदि नहीं माना गया है "उनके मत में ईश्वर, आत्मा, परलोक तथा उनके साधन मिथ्या हैं। इस संसार

के भोगों को भोगना चाहिए तथा उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, उनका यह श्लोक प्रसिद्ध है :—

"यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"।

जीवन पर्य्यन्त सुख से जीवे मृत्यु से कोई बच नहीं सकता, शरीर के भस्म होने पर पुनः आना कैसे हो सकता है? कुछ लोग इसी श्लोक को पाठ भेद से पढ़ते हैं यथा "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।" ऋण करके घृत का पान करे। अभिप्राय यह है कि खावै, पीवै और मौज उड़ावै, धर्म और ईश्वर कुछ नहीं है। इसी चार्वाक मत को लोकायत भी कहते हैं इसके मत में पृथिवी, जल, अग्नि और वायु चार तत्व हैं। यही चार भूत जब देहाकार परिणाम को प्राप्त होते हैं, तब इन्हीं से चैतन्यता उत्पन्न होती है। जैसे महुआ–गुड़ अन्न आदि मिलाने पर मद्य उत्पन्न होता है और कत्था–चूना–पान मिलाने पर लाली उत्पन्न होती है, तैसे ही इसके नष्ट होने पर चैतन्य का भी नाश हो जाता है। चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है, देह के अतिरिक्त आत्मा के होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसके मत में एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। स्त्री आदि के आलिङ्गन से जन्य सुख ही पुरुषार्थ है, यदि कहा जाय कि दुःख से मिश्र होने से यह पुरुषार्थ नहीं है? सो नहीं, क्योंकि अवर्जनीय रूप से प्रायः दुःख के परिहार से सुखमात्र भोक्तव्य है। जैसे मत्स्यार्थी सशल्क और सकण्टक मत्स्यों को ग्रहण करता है। किन्तु जितना ग्रहण करने योग्य होता है उतना ग्रहण करके शेषका परित्याग कर देता है। अतएव दुःख के भय से अनुकूल वेदनीय सुख का परित्याग करना उचित नहीं। मृग के भय से किसान शालि का रोपण बन्द नहीं करता, भिक्षुकों के भय से कोई भोजन बनाना त्यागता नहीं।, यदि कोई कायर दुःख के भय से दृष्ट सुख का परित्याग करता है, तो वह पशु के समान मूर्ख है

अतएव इस दृष्ट सुख को प्राप्त करना चाहिए। अग्निहोत्र आदि के करने से स्वर्ग लोक की प्राप्ति होगी और वहाँ पर इस लोक से अधिक सुख है इत्यादि कथन धूर्तों का है, अपनी जीविका निर्वाह करने के लिए इन सब बातों की कल्पना है। स्वर्गादि लोक नहीं है, इस लोक में विषय भोगना ही स्वर्ग है तथा कण्टकादि से जन्य दुःख ही नरक है। लोक सिद्ध राजा ही ईश्वर है तथा देह का नाश ही मोक्ष है। इत्यादि सिद्धान्त को युक्तियों से सिद्ध करते हैं।"

चार्वाक दर्शन पूर्ण रूप से वर्तमान समय में नहीं मिलता है। केवल अन्य दर्शनों में पूर्व पक्ष के रूप में आता है तथा सर्वदर्शन संग्रह के आरम्भ में ही इस मत का उल्लेख किया गया है। चार्वाक के समान ही और भी कई दार्शनिक हो गए हैं। जिनका वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में आता है, जैसे अजितकेश, कम्बल, मक्खलिगोशाल, पूर्ण काश्यप और प्रक्रुद्ध कात्यायन इनके मत इस प्रकार हैं, "अजितकेश कम्बल दान, यज्ञ, हवन को बेकार मानता था सुकृत-दुष्कृत का कोई फल नहीं मानता था। माता-पिता नहीं सत्यारूढ़ कोई श्रमण नहीं। मनुष्य चार भूतों का बना है वह यहीं नष्ट हो जाता है। मरने के अनन्तर कुछ नहीं होता है। दान-पुण्य करने का उपदेश मूर्ख लोग किया करते हैं, आस्तिकवाद झूठा है। मक्खलिगोशाल के मत में प्राणियों के क्लेश का कोई कारण नहीं। बिना कारण के ही प्राणी क्लेश को प्राप्त करते हैं, और प्राणियों की विशुद्धि का भी कोई हेतु नहीं, बिना कारण के ही विशुद्धि होती है। बल नहीं, वीर्य नहीं, पुरुष की दृढ़ता नहीं, पुरुष का पराक्रम नहीं। सभी प्राणी नियति के वश में होकर सुख-दुःखादि का अनुभव करते हैं। अभिप्राय यह है कि सभी अपने आप नियति के अनुसार होता है। पूर्ण काश्यप ने अच्छे-बुरे कर्मों को निष्फल बतलाया है।

वह कहता था कि कर्म करते कराते, छेदन करते कराते, पकते पकवाते, शोक करते, चलते चलाते, प्राणहरते, चोरीकरते, परस्त्रीगमन करते, और झूठ बोलने मेंभी पाप नहीं होता है, चाहे सब प्राणियों को कोई मार डाले तोभी उसको पाप नहीं होगा और चाहे यज्ञ-दान आदि करे तो उसको पुण्य भी नहीं होगा। किन्तु परलोक या इस लोक में कर्मों का फल नहीं मिलता इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। प्रक्रुद्ध-कात्यायन सब वस्तुओं को अचल मानता था तथा नित्य मानता था। अतएव कोई कर्म किसी वस्तु की स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता, अतएव कर्म करना निष्फल है। उस मत में कोई मूल तत्व माना गया है, जिसको कोई स्पर्श नहीं कर सकता है।" अभिप्राय यह है कि ये सभी चार्वाक के ही अन्तर्गत आजाते हैं। चार्वाक के पश्चात् बौद्ध दर्शन का वर्णन करते हैं।

॥ बौद्ध दर्शन सिद्धान्त ॥

बुद्ध ने किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया, उनके समस्त उपदेश मौखिक होते थे, उसको उनके शिष्य कण्ठ करते थे। बुद्ध के निर्वाण होने के अनन्तर उनकी शिक्षाओं को पुस्तक रूप में संगृहीत किया गया है, वह सब पाली भाषा में ही हैं। उस संगृहीत ग्रन्थ को पिटक कहते हैं, वह तीन प्रकार के हैं। अतएव उनको त्रिपिटक भी कहते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं "सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक और विनय पिटक।" सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। सुत्त का अर्थ सूत्र किया जाता है, इन सूत्रों की रक्षा करने वालों को ही सौत्रान्तिक (सुत्ततंत्तिक) कहा जाता है सुत्तपिटक पांच निकायों में बाँटा गया है। उनका नाम इस प्रकार है "खुद्द निकाय, दीग्घ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय और अंगुत्तर निकाय।"

बुद्धके दार्शनिक सिद्धान्त प्रायः सुत्तपिटक में ही हैं। अभि धम्म पिटक में मनोविज्ञान तथा व्यावहारिक धर्म सम्बन्धी उपदेश हैं। विनय पिटक में भिक्षु-भिक्षुणियों के धर्म का वर्णन है। हमको तो केवल दार्शनिक सिद्धान्तों को विचारना है।

बुद्ध के मूल उपदेशों में ही दर्शन सम्बन्धी शिक्षायें हैं, उनका अर्थ अनेक प्रकार से लगाया जाता है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत सुत्तनिपात है। सुत्तनिपात को अति प्राचीन माना गया है, उसमें पद्य द्वारा शिक्षा दी गई है। बुद्ध ने अधिकतर आचरण शुद्धि पर बल दिया है। संसार का त्याग कर सब प्राणियों के साथ राग-द्वेष को त्याग कर मन को समाहित करने का विशेष उपदेश किया है। योग के अभ्यास के लिए एकान्त निवास और परिग्रह के त्याग का भी उपदेश दिया है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार आदि के त्यागने की शिक्षा स्थान स्थान पर दी है। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म को नहीं माना है तथा वेद-शास्त्र का प्रमाण भी नहीं माना है, अपने अनुभव पर अधिक बल दिया है। ब्राह्मण और शूद्र कर्म से होते हैं जन्म से नहीं होते, यह उनका सिद्धान्त है, किन्तु स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को बुद्ध मानते हैं। तृष्णा के त्याग से मुक्ति होती है यह भी मानते हैं। सुत्तनिपात में आचरण सुधारने के लिए अनेक उपदेश हैं उसके द्वयानुपस्सना नामक ३८ वें सुत्तमें बहुत ही सुन्दर दार्शनिक विचार हैं, एक समय बुद्ध ने श्रावस्ती में भिक्षुओं से कहा कि ये जो आर्य्य उत्तम संबोधि की ओर लेजाने वाले कल्याण कारक धर्म हैं, इन कल्याण कारक धर्मों के सुनने से क्या लाभ है? यदि ऐसा कोई प्रश्न करै तो तुम लोगों को बताना चाहिए कि दो धर्मों के यथार्थ ज्ञान का लाभ होता है। ये कौन दो धर्म हैं? दुःख और दुःख का हेतु, यह एक अनुपश्यना (विचारणीयबात) है। दुःख, निरोध और

दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग, यह दूसरी अनुपश्यना है। इन दोनों बातों पर मनन करने वाला अप्रमत्त प्रयत्नशील तत्पर भिक्षु दो फलों में से एक की कामना कर सकता है। इसी जन्म में पूर्ण ज्ञान या वासनाओं के शेष रहने पर अनागमित्व (मुक्ति के मार्ग में पाँचवीं तथा छठवीं अवस्थायें) यही दो बातें हैं। इसके अनन्तर बुद्ध ने कहा कि जो दुःख और दुःख के हेतु, सर्वथा दुःख के अशेष निरोध और दुःख निरोध के मार्ग नहीं जानते, मानसिक विमुक्ति से रहित, प्रज्ञा विमुक्ति से रहित, दुःख के अन्त करने में असमर्थ हैं, वे जन्म और जराको प्राप्त होते हैं। जो दुःखादि को जानते हैं तथा मानसिक और प्रज्ञा विमुक्ति से युक्त हैं, वे जरा-मरण को नहीं प्राप्त होते हैं।

पुनः बुद्ध ने कहा कि यदि कोई प्रश्न करें कि क्या कोई दूसरा क्रम भी है जिससे द्वयता की अनुपश्यना की जा सकती है? तब कहना चाहिये कि है, वह कौनसी है? जो कुछ दुःख है वह सब वासनाओं के कारण होता है, यह एक अनुपश्यना है। वासनाओं की निःशेष निवृत्ति और निरोध से दुःख की उत्पत्ति नहीं होती, यह दूसरी अनुपश्यना है। संसार में जो अनेक प्रकार के दुःख हैं, वे वासनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं, जो अज्ञ वासनाओं को उत्पन्न करता है, वह बारम्बार दुःख को प्राप्त करता है। अतएव दुःख की उत्पत्ति और हेतु को देखते हुए लोगों को चाहिए कि वासनाओं को उत्पन्न न करें। यदि कोई पूछे कि क्या कोई दूसरा क्रम भी है? तो बतलाना चाहिए कि जो दुःख होता है वह अविद्या के कारण होता है, यह एक अनुपश्यना है। अविद्या की निःशेष निवृत्ति से-निरोध से-दुःख उत्पन्न नहीं होता, यह दूसरी अनुपश्यना है। अविद्या के कारण ही लोग बार बार जन्म-मृत्यु रूप संसार में आते हैं और एक गति से दूसरी गति को प्राप्त करते हैं, यह अविद्या महामोह है

जिसके आश्रित होकर लोग संसार में आते हैं। जो लोग विद्यासे युक्त हैं, वे लोग पुनजन्म को प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार संस्कार विज्ञान, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, आसक्ति, तृष्णा युक्त प्रयत्न, आहार, चञ्चलता, लिप्तरहना (लिप्सा) रूप और अरूप, अनात्म में आत्मबुद्धि, निर्वाण की सत्यता, लौकिक सुख को त्यागकर निर्वाण रूप सुख को प्राप्त करना आदि का वर्णन किया है और अन्त में सब के निरोध को ही सुख कथन किया है। इस द्वयानुपश्यना सुत्त के विचार करने से पता लगता है कि बुद्ध संसार की ओर से चित्त के निरोध पर अधिक बल देते थे और निरोध के अनन्तर ही निर्वाण हो जाता है। किन्तु वह निर्वाण सत्य है। उनका कथन था कि भव राग के वशीभूत भवस्रोत में पड़े और काम के आधीन लोगों के लिए यह धर्म समझना कठिन है, जो आर्य्य है वही उस संवोधिपद के योग्य है, उनके बिना कौन उसपद को समझ सकता है। वे जिस पद को प्राप्त कर शान्त हो जाते हैं, इस सूक्त के वर्णन को प्रतीत्यसमुत्पादवाद का अनुलोम और प्रतिलोम क्रम कहा जाता है।

"प्रतीत्य समुत्पाद" बौद्धमत की एक दार्शनिक परिभाषा है, इसीसे संसार की क्षणभंगुरता सिद्ध होती है। इसका विचार इस प्रकार है कि संसार का कोई भी कार्य्य बिना कारण के नहीं होता और कारण भी कार्य्य को उत्पन्न अवश्य करता है। संसार में जितनी भी घटनायें होती हैं,उनका कोई न कोई कारण अवश्य होता है तथा एक घटना से दूसरी घटना उत्पन्न हुआ करती हैं, यह भी संसार का नियम है, इसी को प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। संसार में दुःख की उत्पत्ति का कारण क्या है ? इसका जब बिचार करते हैं तो अविद्या ही सब का मूल कारण है। अविद्या से संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण और

दुःखादि क्रम से उत्पन्न होते हैं। अब विचार यह करना है कि अविद्या का आश्रय कौन है ? क्योंकि अविद्या बिना आश्रय के रह नहीं सकती है। किन्तु बौद्ध धर्म में इस विषय में मतभेद है। कुछ लोगों का कथन है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं एक क्षणिक पदार्थ अन्य क्षणिक पदार्थ को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है, अर्थात् कोई भी स्थिर पदार्थ नहीं है। यहाँ तक कि आत्मा भी नित्य नहीं है, किन्तु बुद्ध के मत में पुनर्जन्मादि का सिद्धान्त माना गया है और एक आत्मा के संस्कार दूसरे आत्मा में चले जाते हैं, उसी से पुनर्जन्म होता है। बुद्ध के मत में आत्मा का अभाव नहीं माना गया है, वास्तव में बुद्ध दार्शनिक विवाद में नहीं पड़ते थे। उन्होंने सुत्त निपात के ४३ सुत्त(सूत्र)में कहा है कि इस संसारमें जो अपनी दृष्टि को उत्तम मान लेता है, वह उस अपनी दृष्टि की प्रशंसा करता है और अन्य की निन्दा करता, अर्थात् अन्य की दृष्टि को नीच कहता है, ऐसा व्यक्ति विवाद से परे नहीं। जो अपनी दृष्टि को ही सत्य मान कर अन्य को नीच देखता है, उसको कुशल लोग ग्रन्थि कहते हैं। अतएव भिक्षु का कर्त्तव्य है कि वह दृष्टि-श्रुति-विचारशीलव्रत आदि के चक्कर में न पड़े। संसार में इनके विषय में किसी मत की कल्पना न करे। अपने को अन्य के समान या श्रेष्ठ या नीच न समझे। जो अहंकार का परित्याग करके तृष्णा रहित होगया है, वह ज्ञान के चक्कर में भी नहीं पड़ता। वह किसी दल का साथ नहीं देता है तथा वह किसी दृष्टि में नहीं पड़ता। जिसको लोक-परलोक में पुनर्जन्म की तृष्णा नहीं रहती, वह किसी धार्मिक बात में दृढ़ आग्रह से आसक्त नहीं होता इत्यादि उपदेशों से प्रतीत होता है कि उनका आग्रह किसी विशेष मत में नहीं था। ऐसे ही चूलवियूह-सुत्त ५० में भी कहा है कि किसी प्रकार का विवाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो किसी धारणा पर स्थित हो उसकी तुलना करता है, वह संसार

में विवाद करता है। जो सभी धारणाओं का परित्याग करता है वह विवाद रूपी कलह नहीं करता। इसी प्रकार ५१ महावियूह सुत्त में भी कहा है। किन्तु बुद्ध के अनुयायी तथा अन्य सभी दार्शनिक प्रायः बुद्ध को अनात्मवादी बतलाते हैं। वर्तमान समय में भी जो पुस्तकें या अनुवाद बौद्ध ग्रन्थ के निकल रहे हैं, उसमें ऐसा ही भाव व्यक्त किया जाता है।

कुछ लोगों का कथन है कि बुद्ध अनिश्चयवादी थे। यह व्याख्या आधुनिक, कुछ लोगों की हैं, इस विषय में कुछ लोग कहते हैं कि बुद्ध आत्म विषयक प्रश्न अपने शिष्यों को नहीं करने देते थे। यदि कोई प्रश्न करता था तो वे मौन होजाते थे। उस मौन के ही अनेक अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि बुद्ध आत्मा में विश्वास नहीं करते थे। कुछ का कथन है कि उनको आत्मा का बोध ही नहीं था। कुछ का कथन है कि उनको निश्चय नहीं था, अर्थात् सन्देह था। कुछ लोग कहते हैं कि बुद्ध आत्मा को मानते थे, इसलिये उनका मत भावात्मक है, क्योंकि बुद्ध ने अनेक स्थल में अपने को अनात्मवादी कहने से इनकार किया है। अतएव बुद्ध आत्मा और ईश्वर दोनों की सत्ता स्वीकार करते थे, कुछ लोगों का यही मत है। बौद्ध मत पर लिखी हुई अंग्रेजी में उनकी पुस्तकों को देखना चाहिए। कुछ लोगों का कथन है कि यदि वास्तव में बुद्ध आत्मा और ईश्वर को मानते थे तो उनके सिद्धान्त के विषय में प्राचीन लेखकों में भ्रम क्यों हुआ? बुद्ध के सिद्धान्त का खण्डन करने वाले तथा उनके अनुयायी दार्शनिक भी उनको आत्मा या ईश्वरवादी नहीं मानते है, अतएव उनका सिद्धान्त निश्चयात्मक नहीं था। उन्होंने वाह्य साधनों पर ही अधिक बल दिया है। आत्मा और ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कहा है, किन्तु यह भी कथन ठीक नहीं। क्योंकि यदि बुद्ध आत्मा तथा ईश्वर की सत्ता

को मानते होते तो उनके खण्डन करने वाले यदि असत्य कल्पना करके खण्डन करते तो इस प्रकार से माना भी जा सकता है। क्योंकि खण्डन करने वाले कहीं कहीं छल से भी काम लेते हैं। किन्तु उनके समस्त अनुयायी दार्शनिक उनके सिद्धान्त में आत्मा और ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि आत्मा को मानते थे तब भी स्थिर आत्मा को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है और ईश्वर के विषय में तो कहीं कुछ भी नहीं कहा है। यदि ईश्वर को मानते होते तो उसके ध्यान आदि का उपदेश करते किन्तु उन्होंने कहीं भी ईश्वर के ध्यान आदि का उपदेश नहीं किया है। अतएव बुद्ध ईश्वर को मानते थे यह नहीं कहा जा सकता है। यदि बुद्ध आत्मा या ईश्वर को मानते होते तो उनके समकालीन तथा उन्हीं के शिष्य, नागसेन मिलिन्द प्रश्न की रचना करने वाले अनात्मवाद को क्यों सिद्ध करते? नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्ति रक्षित, ज्ञान श्रीमित्र, और रत्न श्रीभद्र आदि सभी ने बुद्ध के सिद्धान्त को अनात्मवादी ही माना है। बुद्ध के विरोधी अक्षपाद, वादरायण, वात्स्यायन, उद्योत कर, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन, शंकराचार्य्य, रामानुजाचार्य्य, निम्बार्काचार्य्य आदि ने भी बुद्ध को अनीश्वर तथा अनात्मवादी ही माना है वर्तमान समय में भी बुद्धमतानुयायी अपने आपको अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी ही मानते हैं। बुद्ध वेदादि का प्रमाण नहीं मानते वे अपने अनुभव पर ही अधिक बल देते हैं। अन्य किसी के वचन को भी सर्वथा प्रमाण नहीं मानते। यद्यपि उन्होंने प्रमाणों के विषय में कुछ विचार नहीं किया है तथापि उनके उपदेशों में कहीं भी अन्य प्रमाण की झलक नहीं मिलती। इसी कारण उनके अनुयायी दार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं।

बुद्ध ने मुक्ति को माना है तथा उसका नाम निर्वाण रक्खा है। निर्वाण का प्रसिद्ध अर्थ है बुझजाना, अर्थात् संसार का जो अनादि प्रवाह चला आरहा है उसका समाप्त हो जाना। कुछ लोग निर्वाण का अर्थ भावात्मक करते हैं किन्तु जब बुद्ध के मत में कोई नित्य आत्मा नहीं तो निर्वाण भावात्मक कैसे हो सकता है। किन्तु उस निर्वाण को नित्य माना है, अर्थात् जिसको निर्वाण की प्राप्ति हो-गई है उसका पुनर्जन्म होता है नहीं, उस निर्वाण की प्राप्ति का साधन सत्य श्रद्धा, सत्यसकल्प, सत्यवाणी, सत्यजीवन, सत्य प्रयत्न, सत्य विचार और सत्य ध्यान है। यह सब अपने आप करने से प्राप्त होता है, किसी के आशीर्वाद से नहीं। अब बुद्ध के अनुयायियों के मतभेदों को दिखलाते हैं, कालान्तर में बौद्धमत में अनेक मतभेद होगये, सभी लोग अपने अपने मत के अनुसार ही बुद्ध वचनों का अर्थ लगाने लगे। हम को तो दार्शनिक ही मतभेद दिखलाना है, उनके चार मत संसार में प्रसिद्ध हैं। उनका नाम इस प्रकार है, "सौत्रान्तिक, बैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक", सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक में अधिक भेद नहीं है, इन दोनों को सर्वास्तित्ववादी कहा जाता है, ये प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण को मानते हैं। वैभाषिक के मत में समस्त विश्व परस्पर निरपेक्ष अनन्त स्वलक्षण का समुदाय है और वह स्वलक्षण अपने ही समान है, उसका वर्णन भी उसीके समान है दो लक्षण का एक सा वर्णन नहीं हो सकता। इनके मत में परमाणु के बने हुए स्वलक्षण हैं। इनके मत में पृथिवी, जल, तेज वायु ये चार तत्व हैं। इनके मत में परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता तथा द्वयणुक त्र्यणुकादि भी नहीं मानते हैं, संसार के सब पदार्थ भूत या भौतिक है, अथवा चित्त चैत्त है। इनके मत में आत्मा को नहीं स्वीकार किया गया है बाह्य पदार्थों का संस्कार चित्त में पड़ता है। उसी से उनका विज्ञान होता है, ये सब प्रत्यक्ष

प्रमाण से माने जाते हैं और सभी पदार्थ क्षणिक हैं। सौत्रान्तिक वाह्य पदार्थ को अनुमेय और क्षणिक मानते हैं।

योगाचार के सिद्धान्त को मानने वालों का मत है कि वाह्य में कोई पदार्थ नहीं सब विज्ञान ही विज्ञान है, विज्ञान ही वाह्याभ्यन्तर रूप से प्रतीत होता है। सौत्रान्तिक तो वाह्य पदार्थों को अनुमेय बतलाते हैं क्योंकि जो मानसिक आकृति या विज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, उसके लिए वाह्य कारण अवश्य होना चाहिए। यदि वाह्य कारण नहीं माना जायगा तो किसका विज्ञान होगा, बिना वाह्य वस्तु के मन पर संस्कार कैसे पड़ सकता है। अतएव मन में अनेक पदार्थों के संस्कार के कारण जो अनेक वस्तुओं का विज्ञान है उसको देख कर ही वाह्य पदार्थों का अनुमान किया जाता है, उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष तो विज्ञान का ही होता है। विज्ञान-वादी योगाचार वाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि जब वाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता तो उनकी सत्ता स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है? एक विज्ञान के कारण दूसरे विज्ञान हो सकते हैं, एक क्षणिक विज्ञान अन्य क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न कर नष्ट हो जाता है, इन विज्ञानों का प्रवाह चलता रहता है। यदि सब कुछ विज्ञान मात्र ही है तो वाह्य पदार्थ क्यों प्रतीत होते हैं? विज्ञान तो द्रष्टा के भीतर होते हैं वह विज्ञान सन्तति ही द्रष्टा या आत्मा है। तो सब पदार्थ मुझमें हैं या मैं ही सब कुछ हूँ ऐसा अनुभव होना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं। यह पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और वाह्य हैं ऐसा अनुभव होता है। इस पर विज्ञान वादी कहते हैं कि जैसे स्वप्न में अनेक पदार्थ प्रतीत होते हैं किन्तु वे द्रष्टा से भिन्न नहीं हैं। स्वप्न में वाहर या भीतर सभी कुछ कल्पित है, ऐसे यह जगत भी विज्ञान मात्र है। विज्ञान से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है इसी को आत्मख्याति कहते हैं। ख्याति का वर्णन आगे

दर्शन सिद्धान्त के अन्त में करेंगे। इन विज्ञान वादियों में भी मतभेद है किन्तु उनका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे जो इन बातों को विस्तार से देखना चाहें उनको मूल ग्रन्थों में देखना चाहिए। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक के सिद्धान्तों को जानने के लिए संगभद्र, वसुबन्धु का अभिधर्मकोश देखना चाहिए। योगाचार के विज्ञानवाद को समझने के लिए। असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्म, कीर्ति तथा शान्त रक्षित के ग्रन्थों को देखना चाहिये।

लङ्कावतार नामक सूत्र में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है। अब माध्यमिक के शून्यवाद का सिद्धान्त कुछ दिखलाते हैं, वैभाषिक के सिद्धान्त में वाह्य और आभ्यन्तर के सभी पदार्थ हैं और क्षणिक हैं। सौत्रान्तिक वाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय मानते हैं। योगाचार विज्ञानवादी वाह्य पदार्थ न स्वीकार करके सबको आभ्यन्तर और क्षणिक मानते हैं। शून्यवादी माध्यमिक का कथन है कि न वाह्य न आभ्यन्तर पदार्थ हैं किन्तु सब शून्य है। इस शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन हैं, इनके बनाये ग्रन्थों का नाम है "१ मध्यम कारिका, २ युक्ति षष्ठिका, ३ प्रमाण विध्वंसन, ४ उपाय-कौशल्य, ५ विग्रह व्यावर्तनी।" शून्यता का अर्थ नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद किया है। अभिप्राय यह है कि विश्व और उसकी समस्त जड़-चेतन वस्तुयें शून्य हैं, कोई भी स्थिर अचल तत्व नहीं है, सभी शून्य है। यदि कहा जाय कि शून्यवाद ठीक नहीं है क्योंकि जो युक्तियाँ शब्दों के द्वारा शून्यवाद को सिद्ध करने के लिये दी जाती हैं वह भी शून्य हैं। जब युक्तियाँ ही शून्य हैं तो शून्य युक्तियों से शून्य की सिद्धि कैसे होगी तथा शून्य को सिद्ध करने वाला व्यक्ति भी शून्य है तो शून्य को सिद्ध करने वाले के अभाव से भी शून्य सिद्ध नहीं होता? यदि युक्ति तथा युक्ति देने वाले को शून्य न माना जाय तो सब शून्य है, यह प्रतिज्ञा भङ्ग होती है।

अतएव सभी भाव वास्तविक हैं। यह अच्छा है, यह बुरा है, इसको सभी लोग स्वीकार करते हैं, जो है नहीं उसका नाम भी नहीं है। अतएव वास्तविकता का प्रतिषेध युक्ति से सिद्ध नहीं होता और प्रतिषेध्य को भी नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि सभी भावों की शून्यता है। क्योंकि विश्व की अवास्तविकता का स्वीकार करना शून्यता के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, अतएव प्रतिज्ञा के विरुद्ध नहीं है।

जिन प्रमाणों से भावों की वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है, उन्हीं प्रमाणों को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्य प्रमाण से भी उनकी सिद्धि नहीं हो सकती, उनको सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाणों की अपेक्षा होगी इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। स्वयं अपने आप प्रमाणों की सिद्धि भी नहीं हो सकती ? यदि प्रमाण स्वयं सिद्ध हैं तो प्रमेय भी स्वयं सिद्ध है। प्रमेय से भी प्रमाण की सिद्धि नहीं होसकती क्योंकि जो प्रमेय है वह प्रमाण को कैसे सिद्धकर सकता है ? जब प्रमाण–प्रमेय सिद्ध नहीं तो प्रमाता भी सिद्ध नहीं। अतएव भावों की शून्यता सत्य है, यह अच्छे–बुरे भेद के विरुद्ध भी नहीं है। क्योंकि अच्छा बुरा भी प्रतीत्य समुत्पाद से है। यदि उनको अचल—सत्य माना जाय तो उनकी निवृत्ति नहीं होगी। ऐसे ही शून्यता होने पर नाम नहीं होगा, यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि नाम भी असत्य ही है और सत् का ही नाम होता है असत् का नहीं। ऐसा कोई नियम नहीं है, जैसे प्रतिषेध नहीं सिद्ध किया जा सकता है, ऐसे ही अप्रतिषेध भी नहीं सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि उसके लिये भी प्रमाणों की आवश्यकता होगी प्रमाण की सिद्धि हो नहीं सकती, अतएव सब शून्य है। इस प्रकार अनेक युक्तियों से शून्य को सिद्ध किया है, इसी को असत्ख्याति भी कहते हैं। विस्तार से देखने के लिये मूल ग्रन्थों का ही अध्ययन करना चाहिए।

इस प्रकार बौद्धमत में चार प्रकार का भेद होगया अब भी इसी मत के अनुयायी बौद्ध हैं। कुछ लोगों का कथन है कि बुद्ध के वास्तविक सिद्धान्त को न समझ कर ही इन दार्शनिकों में मतभेद हुआ है, तो प्रश्न होता है कि न समझने का हेतु क्या था ? यदि कहा जाय कि इनकी बुद्धि ठीक नहीं थी, तो यह कैसे कहा जा सकता है। वास्तव में बुद्ध का उपदेश ही मतभेद का कारण हुआ है, उन्होंने कोई निश्चित उपदेश दिया नहीं, उनके बचनों के अभिप्राय को अनेक प्रकार से लगाया गया है। यह सब बुद्धिमानों की बुद्धि का वैभव है, वे जो चाहें सिद्ध कर सकते हैं। उपसंहार में हम सब का तात्पर्य लिखेंगे, इसके आगे जैन दर्शन का वर्णन करेंगे ॥ इत्ति ॥

॥ जैन दर्शन सिद्धान्त ॥

जैन लोग अपने मत को ऋषभदेव के द्वारा चलाया हुआ मानते हैं, उनके अनन्तर और भी कई तीर्थङ्कर हुए हैं। महावीर ने इस मत का विशेष प्रचार किया है। महाबीर को बचपन में वर्धमान नाम से कहा जाता था। जैनमत में भी व्यावहारिक धर्म में कुछ मतभेद हैं किन्तु हमको तो दर्शन सिद्धान्त का वर्णन करना है, इसलिये व्यावहारिक धर्म के मतभेदों का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। जैनियों में प्रथम किसी ग्रन्थ का लेख नहीं था। उनके तीर्थङ्करों के उपदेश मौखिक हुआ करते थे, महाबीर ने भी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। उनके उपदेश सुनकर ही कण्ठ किये जाते थे। बहुत दिनों के अनन्तर उन उपदेशों को लेख वद्ध किया गया है। जैनों के बहुत से ग्रन्थ हैं, किन्तु दर्शन शास्त्र सन्बन्धी प्रथम ग्रन्थ उमास्वाति का बनाया हुआ तत्वाधिगम सूत्र है, इसको श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों मानते हैं। अकलंक का राजवार्तिक, स्वामी विद्यानन्द का श्लोकवार्तिक और समन्तभद्र रचित आप्त मीमांसा नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। जैन दर्शन में दो से लेकर नव तक तत्वों का भेद है। यथा—

"दोतत्व–जीव और अजीव। पाँचतत्व–जीव, अजीव, आकाश, धर्म, पुद्गल। साततत्व–जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जर, तथा मोक्ष। नवतत्व–जीव, अजीव, आस्रव, बँध, संवर, निर्जर, मोक्ष, पुण्य और अपुण्य।" और पाँच अस्तिकाय भी मानते हैं '१ जीव, २ आकाश, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ औरपुद्गल।'

जीव का स्वरूप जैनमत में विचित्र माना गया है। उनके मत में जीव का कोई परिमाण नहीं। जैसा शरीर होता है वैसा ही जीव घटता–बढ़ता रहता है, चींटी के शरीर में चींटी के बराबर और हाथी के शरीर में हाथी के समान हो जाता है, अर्थात् जीव संकोच और विकाश शील है। तब भी जीव को नित्य माना गया है। जीव का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु चैतन्यादि गुणों से उसका अनुमान होता है, वह जीव अनन्त है और उसका मुख्य गुण चैतन्य है। मुक्तावस्था में जीव के अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन अभिव्यक्त होते हैं उसकी शक्ति भी अनन्त होती है और उसी मुक्त जीव को ईश्वर कहते हैं। जैनमत में जीव की वहुत सी श्रेणियाँ हैं। कुछ एकेन्द्रिय वाले हैं कुछ दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले हैं। पृथिवी–जल–वायु और खनिज पदार्थ धातुओं में भी जीव हैं। त्याग–तप आदि से जिनके कर्म का आवरण नष्ट होगया है, वे मुक्त जीव कहे जाते हैं। चैतन्य से अतिरिक्त को अजीव कहते हैं, उनके चार भेद हैं 'धर्म, अधर्म, पुद्गल और आकाश।' कुछ लोग काल को भी इसमें जोड़ते हैं, उससे पाँच हो जाते हैं। आकाश को छोड़कर अन्य को अस्तिकाय कहते हैं "अस्तिकाय", शब्द जैनियों का पारिभाषिक है। सावयव और सत् पदार्थ को अस्तिकाय कहते हैं। आकाश निरवयव पदार्थ होने से सत् है किन्तु उसको अस्तिकाय नहीं कहते हैं।

आकाश–अवकाश को देने वाला है, वह सर्वत्र व्यापक है। धर्म–अधर्म शब्द से जैन लोग पुण्य–पाप का ग्रहण नहीं करते हैं

क्रिन्तु जो सब प्रकार की गति और उन्नति का हेतु है वह धर्म है। तथा वह सर्वत्र व्यापक है, जो सब वस्तुओं की स्थिति का कारण है वह अधर्म है। पुद्गल भौतिक तत्व का नाम है। पुद्गल में स्पर्श-रस-वर्ण तीन गुण होते हैं, इसके दो भेद हैं। अणु पुद्गल और स्कंध पुद्गल। जिसका कोई विभाग न होसके जो सबसे सूक्ष्म है वह अणु पुद्गल है और अनेक परमाणुओं के संघात को स्कंध पुद्गल कहते हैं। जीव और कर्म परमाणुओं की गति को आस्रव कहते हैं। जीव और कर्म के संयोग को बन्ध कहते हैं तथा आस्रव के प्रवाह को रोक देने को संवर कहते हैं, धीरे धीरे कर्म परमाणुओं के जीव से छूटने को निर्जर कहते हैं। कर्म पुद्गल से छूटने का नाम मोक्ष है, जिससे जीव का स्वाभाविक प्रकाशमय स्वरूप ढक जाता है उसको पाप कहते हैं। जीव को मुक्ति की ओर ले जाने वाले कर्म पुण्य कहे जाते हैं। आस्रव भव का हेतु है, संवर मोक्ष का कारण है, यह महावीर की मुख्य शिक्षा है। अन्य इसीके विस्तार हैं। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र मुक्ति के मार्ग हैं। जैनमत में ज्ञान कहते हैं स्याद्वाद या अनेकान्तवाद को सत्य रूप से निश्चय करना। तीर्थङ्करों के बचनों में विश्वास को श्रद्धा कहते है, सदाचार या शील को चरित्र कहते हैं। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह ये चरित्र हैं, इनका पूर्ण रीति से पालन गृहस्थ नहीं कर सकता तब भी उसको यथाशक्ति पालन करना चाहिए। किन्तु संन्यासी को पूर्ण रीति से पालन करने का नियम है। जैनमत में ईश्वर को नहीं स्वीकार किया गया है, उनके मत में यह सृष्टि किसी की भी बनाई नहीं है। अनादि काल से ऐसे ही चली आती है; अतएव उसकी रचनाके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है।

जैनदर्शन का मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त स्याद्वाद है। स्याद्वाद के समझने के लिये सप्तभङ्गी न्याय है, यथा—"१ स्यादस्ति (शायद है),

२ स्यान्नास्ति (शायद नहीं है), ३ स्यादस्ति नास्ति च (शायद है या नहीं है), ४ स्यादवक्तव्यः (शायद अवक्तव्य है) ५ स्यादस्ति चावक्तव्यः (शायद है और अवक्तव्य है), ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यः (शायद नहीं है और अवक्तव्य है), ७ स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यः (शायद है, नहीं है और अवक्तव्य है)।" इन्हीं न्यायों से संसार के समस्त पदार्थों को सिद्ध करते हैं। इन सबका विस्तार जैनदर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में ही देखना चाहिए। इस प्रकार आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का सिद्धान्त संक्षेप में वर्णन किया है। इसके अनन्तर पाणिनीय दर्शन का वर्णन करेंगे। क्योंकि संसार में सब से प्राचीन भाषा संस्कृत है। उसके व्याकरण की रचना करने वाले मुख्य ऋषि पाणिनि हैं। अतएव उनके दर्शन सिद्धान्त को जानना आवश्यक है। ॥ इति ॥

॥ पाणिनि दर्शन ॥

प्रकृति प्रत्यय का विभाग व्याकरण शास्त्र में प्रतिपादित है। बिना व्याकरण शास्त्र के अध्ययन किये शब्द के तत्व का बोध नहीं होता। संसार में नाना प्रकार के शब्द हैं और उनके अर्थ भी नाना प्रकार के हैं। किन्तु शब्द का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका विचार करना चाहिये। व्याकरण शास्त्र में शब्द को स्फोट रूप माना है, वह शब्द निरवयव नित्य ब्रह्म ही है। जैसा कि कहा है—

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वंतदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥" वाक्यपदी १-१

अनादि निधन ब्रह्मअक्षर शब्द तत्व है वह अर्थ भाव से विवर्त होता है, जिससे जगत् की प्रक्रिया है। यदि कहा जाय कि स्फोट स्वरूप शब्द नित्य नहीं है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। तो इसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, जैसे 'गो' यह एक पद है और नाना वर्ण से अतिरिक्त एक पद की

अवगति का प्रत्यक्ष सब को है। बिना बाधक के, पद के अनुभव को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। पदार्थ की प्रतीति के अन्यथा अनुपपत्ति से भी स्फोट मानना चाहिए। यदि कहा जाय कि अर्थ की प्रतीति वर्णों से ही होती हैं। तो नहीं कह सकते क्योंकि यदि वर्ण मिलकर अर्थ को बतलाते हैं तो क्षणिक वर्णों का मिलना ही नही हो सकता है। यदि कहा जाय कि वर्ण नित्य हैं, तो उत्पन्न होने से वर्णों की नित्यता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि संसार में जो उत्पन्न होता है वह अनित्य ही होता है तथा प्रत्येक वर्ण भी अर्थ का प्रत्यायक नहीं होसकता। क्योंकि यह असम्भव है, अतएव वर्णों का वाचकत्व अनुपपन्न होने से जिसके बल से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, वह स्फोट है। वर्ण से अतिरिक्त वर्ण से अभिव्यङ्ग्य अर्थ का प्रत्यायक नित्य शब्द स्फोट है, ऐसा शब्द तत्वको जानने वाले कहते हैं। जैसा कि पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है—

"अथ गौरित्यत्र कःशब्दोयेनोच्चरितेनसास्ना।
लाङ्गूलककुदखुर विषाणानां संप्रत्ययो भवति स शब्दः॥"

पा० महा० पृ० १ प० ६॥ अर्थात् गोपदार्थ में प्रतीयमान मांसपिण्ड, नील, पीत, स्पन्दन और सामान्यादि के मध्य में कौन सा शब्द है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं कि जिसके उच्चारण से सास्ना, लाङ्गूल, खुर, ककुद और विषाणादि सभी का बोध होता है वह 'गो' शब्द है, वह निरवयव नित्य स्फोटरूप है। उसीसे अर्थ की प्रतीति होती है। वास्तव में परमार्थ संवित् सत्ता लक्षण जाति ही सब शब्दों का अर्थ है। यदि कहा जाय कि सत्ता ही सब शब्दों का अर्थ है तो सब शब्दों की पर्यायता होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जैसे नील, लोहित, पीत आदि उपरञ्जक द्रव्य के भेद से स्फटिकमणि अनेक प्रकार की प्रतीत होती है तथा सम्बन्धि के भेद से सत्ता की भी उसी २ रूप से प्रतीति होती है। गोसत्तादि रूप

गोत्वादि भेद निबन्धन व्यवहार वैलक्षण्य उपपन्न होता है, जैसा कि कहा है।

"स्फटिकं विमलं द्रव्यं यथा युक्तं पृथक् पृथक्, नील लोहितं पीताद्यैस्त द्वर्णमुपलभ्यते। सम्बन्धि भेदात्सत्त्वैव भिद्यमाना गवादिषु, जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिता। तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते। सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः॥" अर्थात् जैसे स्फटिक निर्मल द्रव्य है। नील, लोहित और पीतादि से पृथक् पृथक् युक्त हुआ उन्हीं २ के वर्ण का प्रतीत होता है। वैसे सम्बन्धी के भेद से सत्ता ही भिन्नता को प्राप्त होती हुई जाति कही जाती है, उसीमें सब शब्द व्यवस्थित हैं। उसको प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ कहते हैं। वह नित्य है, महान् आत्मा है, तथा उसीको त्वतल आदि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि गो-अश्वादि में सत्ता ही जाति है। गोत्वादि अपर सामान्य परमार्थ से महासामान्य भिन्न नहीं है। गोत्वादि उपाधि के कारण भिन्न प्रतीत होती है और प्रातिपदिकार्थ सत्ता है ऐसा प्रसिद्ध है, भाववचन धातु है इस पक्ष में सत्ता ही धात्वर्थ है। क्योंकि भाव सत्ता ही है, क्रिया वचन धातु है इस पक्ष में भी "जातिमन्ये क्रियामाहुरनेक व्यक्ति वर्तनीम्।" अनेक व्यक्तियों में रहने वाली जाति को ही अन्य लोग क्रिया कहते हैं इस क्रिया के समुद्देश में क्रिया का जाति रूपत्व प्रतिपादन करने से धात्वर्थ सत्ता होती ही है, 'तस्यभावः त्वतलौ॥" पा० सू० ५-१-११९॥ इस पाणिनि सूत्र से भावार्थ में त्व और तल प्रत्यय के विधान होने से सत्ता वाचित्व युक्त है, वह सत्ता उदय-अस्त से रहित होने से नित्य है। देश-काल-वस्तु परिच्छेद से रहित होने से महान् आत्मा कही जाती है, द्रव्यपदार्थ-वादियों के न्याय में भी संवित् लक्षण तत्व ही सब शब्दों का अर्थ है, यह सम्बन्ध समुद्देश में समर्थन किया है। यथा—

"सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरव धार्य्यते ।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते ।
अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा ।
गृहीतं गृह शब्देन शुद्धमेवाभिधीयते ॥"

तदाकार असत्य से सत्य वस्तु का निश्चय होता है, असत्य उपाधि शब्द से सत्य कहा जाता है। अध्रुवकाकादि निमित्त से देवदत्त का गृह, गृहीत होता है। अतएव सत्य द्रव्य (जाति एवं द्रव्य) मानने पर भी सब शब्दों का अर्थ परब्रह्म ही है यह सिद्ध हुआ। जैसा कि कहा है:—

"तस्माच्छक्ति विभागेन सत्यःसर्वः सदात्मकः ।
एकोऽर्थ शब्दवाच्यत्वे वहुरूपः प्रकाशते ॥"

अतः तिस कारण सत्य सर्व सदात्मक एक अर्थ शक्ति विभाग से शब्दवाच्यत्व होने पर बहुत रूप होता हुआ प्रकाशित होता है। सत्य स्वरूप को भी हरि ने सम्बन्ध समुद्देश में कहा है—

"यत्र द्रष्टा दृश्यं च दर्शनं चा विकल्पितम् ।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्त वेदिनः ॥"

जिसमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन कल्पित नहीं है, उसी अर्थ का सत्यत्व वेदान्त के जानने वाले कहते हैं। द्रव्य समुदेश्य में भी कहा है कि—

"विकारो पगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डलं यथा ।
विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम् ॥"

विकार के युक्त होने पर जैसे सुवर्ण कुण्डल रूप हो जाता है, जिसमें विकार का अपगम (दूर) हो गया है उसको परा प्रकृति कहते हैं। अभ्युपगत अद्वितीयत्व के निर्वाह के लिये वाच्य-वाचक का अविभाग दिखलाया है,

"वाच्या सा सर्वं शब्दानां शब्दाच्च न पृथक्ततः ।
अपृथक्त्वेऽपिसंबन्धस्तयो र्जीवात्मनोरिव ॥"

वह परा प्रकृति सब शब्दों का वाच्य है, इस कारण शब्द से पृथक् नहीं है। अपृथक् होने पर भी जीव और आत्मा के समान वाच्य-वाचक का सम्बन्ध है, अभिप्राय यह है कि अविद्या के द्वारा अनेक उपाधि से अनेक प्रकार का प्रतीत होने वाला ब्रह्म ही उन उन शब्दों का अर्थ है, जितना भी वाच्य-वाचक रूप प्रपञ्च है, वह सब ब्रह्म में कल्पित है। अतएव शब्द और अर्थ में कोई भेद नहीं सभी ब्रह्मरूप है, यह पाणिनि का मत है। संक्षेप में इसको दिखलाया है, विस्तार से देखने के लिये व्याकरण शास्त्र के ग्रन्थों को देखना चाहिये।

इस प्रकार हमने न्यायदर्शनसिद्धान्त से प्रारम्भ करके पाणिनि दर्शन सिद्धान्त तक संक्षेप में भारतीय दर्शनों के सिद्धान्त का वर्णन किया है। दर्शनकार अपने विचार को निर्भयता के साथ प्रकट करते हैं, उन्होंने जो साक्षात्कार किया है उसी को सिद्ध करते हैं। वास्तव में जो दर्शनकारों का वाद है वह भी परमात्मा का ही रूप है, जैसा कि गीता में लिखा है कि "वादःप्रवदतामहम् । १०३२।" श्रीमद्भागवत में कहा है "त्रिकल्पः ख्याति वादिनाम ।" ख्यातिवादियों का विकल्प मैं हूँ। अतएव जो कुछ पूर्वपक्ष या उत्तर पक्ष रूप में कहा-सुना जाता है वह सब ही एक तत्व है, कुछ भी भेद नहीं उस निर्विकल्प ब्रह्मतत्व में अनेकों प्रकार की कल्पनायें होती हैं। जिसके मन में जो सिद्धान्त रूढ़ हो गया, उसको वही प्रतीत होता है और उसी के अनुसार उसको फल मिलता है। किस दर्शन का सिद्धान्त सत्य है और किसका असत्य है? यह निर्णय करना कठिन है। क्योंकि सभी अपने अपने पक्ष को अनेक युक्तियों से पुष्ट करते हैं। यदि कहा जाय कि जिसकी युक्ति उत्तम हो उसको ही सत्य मानना

चाहिये। किन्तु युक्ति की उत्तमता को ही कौन निर्णय करे ? यदि कहा जाय मध्यस्थ, तो मध्यस्थ किसको बनाया जाय ? यदि कहा जाय कि उसे जो किसी का पक्ष न लेता हो, तो आज तक ऐसा कोई मनुष्य हुआ ही नहीं कि जिसका कोई पक्ष न हो, क्योंकि किसी न किसी सिद्धान्त का अभिनिवेश मनुष्य की बुद्धि में होता ही है। जिसकी बुद्धि में जिस सिद्धान्त का अभिनिवेश होता है, उसी को वह उत्तम मानता है। अतएव आज तक संसार में एक सिद्धांन्त की स्थापना नहीं हुई। जो कोई एक सिद्धान्त की स्थापना के लिये प्रयत्न करता है, उसका भी तो सिद्धान्त एक सिद्धान्त ही है। कुछ लोग कहा करते हैं कि हम सब दर्शनों का समन्वय करते हैं। किन्तु समन्वय भी तो एक सिद्धान्त ही है। कोई मनुष्य सबका समन्वय अद्वैत में करता है,कोई द्वैत में, कोई विशिष्टा द्वैत में, कोई द्वैताद्वैत में, कोई शुद्धाद्वैत में, इस प्रकार अपने अपने सिद्धान्तानुसार ही समन्वय करने वाले भी दर्शनों का समन्वय करते हैं। अतएव जो जिस प्रकार मानता है उसको उसी में दृढ़ होना चाहिये, तभी शान्ति की प्राप्ति होगी। इसके अनन्तर संसार के अन्य दार्शनिकों का भी सिद्धान्त संक्षेप में लिखेंगे और अन्त में सबका उपसंहार करेगें। ॥ इति ॥

॥ अन्यदेशीय दर्शन सिद्धान्त ॥

जैसे भारतवर्ष में अनेक दार्शनिक हो गये हैं, वैसे ही अन्य देशों में भी हुए हैं, उनके देशों की भाषाओं में उनके दर्शन के सिद्धान्त वर्णित हैं। वर्तमान समय में भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्त वर्णन किए जा रहे हैं, उनका हम संक्षेप में वर्णन करते हैं। विस्तार से तो उन्हीं के ग्रंथों में देखना चाहिए। हमको उनकी भाषा का ज्ञान नहीं है, अतएव उनका मुख्य सिद्धान्त क्या था ? यह हम निश्चित रूप से कह नहीं सकते, तथापि उनका ग्रन्थानुवाद जो हिन्दीं भाषा में हमको समुपलब्ध है, उसी के अनुसार हम लिखेंगे।

अन्य देशों में भी दर्शन शास्त्र विशेषकर यूनान में ही प्रथम प्रादुर्भाव हुआ ऐसा बताया जाता है, अतएव हम वहाँ के ही दर्शन क्रम से लिखते हैं। युनिक दार्शनिक तत्वजिज्ञासु कहे जाते हैं, उनमें 'थेल' नामक दार्शनिकका सिद्धान्त है कि पानीही प्रथमतत्व है, 'अनिक्सिमन्दर' भूतों से उनके मूलतत्व को सूक्ष्म मानता है। उसने उस सूक्ष्म का नाम अनिश्चत और अन्त रक्खा था। इन्हीं से वायु, पानी और मिट्टी की उत्पत्ति मानी है अर्थात् इन्हीं को मूल तत्व कहा है। अनक्सिमन भी पानी को ही मूल तत्व मानता था। इनके पश्चात् 'पोथागोरस' हुआ यह आकृति को ही मूल तत्व मानता था, 'पीथागोरस' गणित का ज्ञाता था। अतएव वह आकृति के प्रकट करने का हेतु संख्या को मानता था, उसका सिद्धान्त संख्या ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'क्सेनोफेन' का सिद्धान्त है कि एक महान् ईश्वर है वह मनुष्य से भी विलक्षण है, उसके मत में सब एक में और एक ईश्वर में है। ईश्वर जगत् है; वह शुद्ध आत्मा नहीं किन्तु प्राण युक्त प्रकृति वही है। इसका सिद्धान्त अद्वैतवाद से मिलता है। 'परमेनिद्' तो पूर्ण अद्वैतवादी था, उसका सिद्धान्त है कि न सत् से असत् होता है और न असत् से सत् होता है। जगत् एक अविनाशी सत्य वस्तु अद्वैततत्व है संसार की गति और परिवर्तन भ्रम रूप है अतएव एक स्थिर है। 'हेराक्लितु' परिवर्तनवादी था, उसके मत में कोई पदार्थ स्थिर नहीं। यह पदार्थों की स्थिरता स्वाभाविक है और सब के मूल में एक तत्व अग्नि है, उसीसे सब की उत्पत्ति और प्रलय होता है। 'अनक्सागोरस' मूल में अनेक कारण को मानता था और उसीसे जगत् उत्पन्न हुआ, यह उसका सिद्धान्त था। 'एम्पेदोकल' ने अग्नि, वायु, जल और पृथिवी इन चार तत्वों को जगत् का मूल कारण माना है, इन्हीं चार तत्वों के योग से विश्व उत्पन्न होता है और इनके वियोग से नष्ट होजाता है, यही उसका मुख्य सिद्धान्त है।

'देमोक्रितु' (डिमोक्राइटस्) का सिद्धान्त परमाणुवाद है इसके मत में मूल तत्वों का परिवर्तन नहीं होता है। वह मूल तत्व अनेक और अलग २ हैं। उनके बीच में जो स्थान खाली है, वह आकाश है। वह मूल तत्व अछेद्य और अभेद्य है, उस मूल तत्व को "अतोमोन्" नाम से कहा है। लोगों का कथन है, "अतोमोन्" शब्द से ही अंग्रेजी भाषा का 'एटम' शब्द निकला है, यह परमाणु अति सूक्ष्म तत्व है, इसका विभाग नहीं होता। इस परमाणु के भी आकार नहीं, सभी परमाणुओं का आकार एक सा नहीं किन्तु भिन्न २ हैं और इनसे बने पिण्ड भी भिन्न २ हैं। इनके मत में आत्मा की सत्ता है किन्तु आत्मा भी परमाणु का संघात है। वह आत्मा प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है और श्वासों के द्वारा उसकी क्षीणता अन्य परमाणुओं से पूर्ण होती रहती है। आत्मा के निर्माण कर्ता परमाणु सूक्ष्म और गोल हैं, अन्य परमाणुओं का आकार भिन्न है। 'दिमोक्रितु' के मत में वाह्य पदार्थ विश्वास के योग्य नहीं है केवल भ्रम रूप हैं व्यवहार के लिये कल्पित हैं, इस प्रकार यह परमाणुवाद का सिद्धान्त है। किसी किसी का मत है कि वैशेषिक का परमाणुवाद इन्हीं से लिया गया है। किन्तु यह कथन यथार्थ नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि यह केवल अनुमान के आधार पर कहा जाता है और अनुमान विपरीत भी होसकता है, अर्थात् वैशेषिक के ही परमाणुवाद को देमोक्रितु ने लिया है। इसका गुरु 'ल्युकिपस्' परमाणुवादी था और उसीके सिद्धान्त को इसने विस्तार किया है।

यूनान में 'सुक्रात' नामक दार्शनिक भी हुआ है किन्तु उसका कोई लिखित ग्रन्थ नहीं मिलता, वह मौखिक उपदेश करता था। उसके शिष्यों ने भी उसका कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, तब भी कुछ लोग उसके आचरण से भिन्न भिन्न प्रकार का अनुमान लगाते हैं। वह यथार्थवादी था और ज्ञान को सब से उत्तम मानता था, उसका कथन था कि

"यदि साधन ठीक ठीक किया जाय तो सत्य ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।" 'अफलातूँ' का दार्शनिक सिद्धान्त समन्वय का था, उसने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के सिद्धान्तों का समन्वय किया है, वह सुक्रात के इस सिद्धांत को मानता था कि "ठीक प्रयत्न करने पर यथार्थ ज्ञान संभव है, पदार्थों को परिवर्तन शील भी मानता था, तथा परमाणुवादियों की तरह मूल तत्त्व को अनेक भी मानता था और यह परिवर्तनशील जगत् वास्तव में सत्य नहीं है।" इसप्रकार अफलातूँ के मत में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने वाले ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं, वास्तविक ज्ञान बुद्धि से होता है। इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, वह वास्तविक नहीं। वह दो प्रकार के चिन्तन से ज्ञान की प्राप्ति मानता है। सामान्य तथा विशेष द्वारा विज्ञान के वर्गीकरण करने से यथार्थ ज्ञान होता है, वह कुछ पदार्थों को स्वतः सिद्ध भी मानता था। वह पदार्थ ये हैं "संख्या, भाव,अभाव,सादृश्य, भेद,एकता और अनेकता।" उसके मत में विज्ञान और वास्तविक के सामञ्जस्य को ज्ञान कहते हैं। क्योंकि वास्तविकता निर्विषय नहीं होती, उसका कोई विषय होता है, वह विषय एक रस विज्ञान है। उसके मत में सत्य भाव स्थिर अपरिवर्तनशील अनादि है, अतएव वास्तविक ज्ञान के लिए इसी स्थिर अपरिवर्तनशील तत्व को साक्षात्कार करना चाहिये। इसका सामान्य-विशेष सिद्धान्त वैशेषिक के सिद्धान्त से मिलता है। सामान्य नित्य है और विशेष बदलता रहता है।

'अफलातूँ' के मत में विज्ञान कई हैं, वह सब मिलकर एक शरीर बनाते हैं और सब विज्ञानों के स्थान नियत हैं। उसके मत में सर्व श्रेष्ठ विज्ञान ईश्वर का है और उसी से समस्त विज्ञान प्रादुर्भूत होते हैं, ईश्वर विज्ञान से पर अन्य कोई विज्ञान नहीं। अफलातूँ के मत में संसार में दो तत्व हैं विज्ञान और भौतिक तत्त्व। किन्तु विज्ञान वास्तविक तत्व है, सभी वस्तुयें विज्ञान के सहारे रहती हैं,

विज्ञान ही सब तत्त्वों का नियन्त्रण करता है एवं अन्य तत्व स्वतन्त्र नहीं हैं। विज्ञान ही सबका कारण है,अन्यतत्व सहायक हैं। अफलातूँ ईश्वर को मानने वाला है उसके सिद्धान्त में ईश्वर ही सब जगत् का निर्माण विज्ञान के द्वारा करता है उसके मत में भौतिक तत्व नूतन नहीं बनते वे प्रथम से ही हैं। उनमें जो शक्ति होती है उसी के अनुसार ईश्वर संसार की रचना करता है।

'अरस्तू' के मत में विज्ञान तथा भौतिक जगत् पृथक २ नहीं हैं,वे दोनों एक साथ ही रहते हैं। उन दोनों को अलग नहीं कर सकते हैं, दोनों का ज्ञान तो हो सकता है। जैसे किसी पत्थर की मूर्ति में पत्थर तो भौतिक तत्व है और उसमें जो आकृति बनाई गई है वह विज्ञान है। अरस्तू के मत में जाति का परिवर्तन नहीं होता, जैसे वृक्ष पशु नहीं बन सकता, पशु वृक्ष नहीं बन सकता और पशु आदि मनुष्य नहीं बन सकते, इत्यादि जातियाँ अपनी सीमा के अन्दर ही उन्नति कर सकती हैं। अरस्तू ईश्वर को मानता था, किन्तु ईश्वर को कर्ता नहीं मानता था, उस ईश्वर की सत्ता मात्र से भौतिक तत्वों में विकाश होता है। अतएव वह अचल होकर भी सबका चालक है। अचल रूप से भी सबके संचालन में ईश्वर का प्रेम है, ऐसा उसका सिद्धान्त है। वह चार प्रकार का कारण मानता है "उपादान, मूल स्वरूप या विज्ञान, निमित्त कारण और अन्तिम या प्रयोजन कारण।" किन्तु वह सभी वस्तुओं की उत्पत्ति में चारों कारणों की आवश्यकता नहीं मानता। अरस्तू के सिद्धान्त में ज्ञान की प्राप्ति के लिये इन्द्रियाँ मुख्य साधन हैं, उन इन्द्रियों के द्वारा देखी हुई घटनाओं से बुद्धि सत्य ज्ञान का निर्णय करती है और किन कारणों से घटनाएँ होती हैं उसको भी जानना ज्ञान है। जिससे मूल कारण का विचार हो उसको वह प्रथम दर्शन मानता था। अरस्तू को पाश्चात्य देशों में प्रथम तार्किक माना गया है, अतएव तर्क शास्त्र का वही आदि आचार्य्य है।

उसका कथन है कि तर्क वह उपाय बतलाता है जिससे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती हैं। अरस्तू के मत में दश या आठ प्रमेय हैं १ वह क्या है, २ किनसे बना है, ३ कितना बड़ा है, ४ सम्बन्ध क्या है, ५ वह कहाँ है, ६ कब होता है, ७ किस तरह है, ८ किस तरह है, ९ वह क्या करता है, १० क्या परिणाम है? इत्यादि। "अर्थात् १ द्रव्य, २ गुण, ३ परिणाम, ४ सम्बन्ध, ५ दिशा, ६ काल, ७ आसन, ८ स्थिति, ९ कर्म, और १० निष्क्रियता।" कुछ लोगों का कथन है कि वैशेषिक दर्शन पर यूनानी दार्शनिकों का प्रभाव पड़ा है। किन्तु यह कथन कुछ लोगों के मत में ठीक नहीं। क्योंकि यह निश्चय नहीं कि प्रथम कौन हुआ। अरस्तू के मत में विशेष ही वास्तविक द्रव्य है। किन्तु वह परिवर्तनशील है, वह परिवर्तन विना आधार के होता नहीं। अतएव जिस आधार से वस्तुओं में परिवर्तन होता है और वही परिवर्तन रहित तत्व सब का मूल है। भूत और विज्ञान के मिलने से परिवर्तन होता है और गति भी होती है। उस गति के चार भेद हैं, "१ द्रव्य सम्बन्धी", उत्पादन और विनाश, २ "परिमाण सम्बन्धी गति," संयोग विभाग के द्वारा पिंड के परिमाण में परिवर्तन, ३ "गुण सम्बन्धी गति," एक वस्तु का दूसरे वस्तु में परिवर्तन जैसे दूध का दधि तथा ४ "देश सम्बन्धी गति। एक देश से अन्य देश में गमन करना। इस प्रकार अरस्तू के दार्शनिक सिद्धान्त का संक्षेप है। 'एपीकुरीय' भौतिक वादी था। उसके मत में परमाणुओं के संयोग से संसार बनता है और वियोग से नाश होता है, अतएव इस संसार के ही भोग के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसी जीवन में आनन्द प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए, इसी लिए नियमादि का भी पालन करना चाहिए। इसका मत चार्वाक से मिलता-जुलता है, इसके मत में प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'स्तोइक'

ब्रह्मवाद को मानते थे। इनके मत में ब्रह्म और जगत् अभिन्न है, ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं। इसमत का प्रचारक 'जेनो' था वह तर्क का विशेष पक्ष लेता था उसके मत में दर्शन एक खेत है, जिसकी रक्षा के लिए तर्क रूपी काँटे की बाड़ है, भौतिक शास्त्र खेत की मिट्टी और आचारशास्त्र फल है। इसके मत में निष्क्रिय तत्व नहीं, सभी सक्रिय तत्व हैं। ईश्वर भी सक्रिय है, वास्तव में ईश्वर से कुछ भिन्न नहीं है।

यूनान में 'पिर हो' नामक दार्शनिक संदेहवादी था, उसके मत में किसी भी तत्व को निश्चय रूप से नहीं सिद्ध किया जा सकता है। यूनानी दार्शनिकों में 'अफलातूँ' के दार्शनिक सिद्धान्त को कुछ नवीन ढङ्ग से उपस्थित करने वाले अन्त में 'फिलोयूदियों' ने अलंकारिक वर्णन का रूप दिया और 'प्लोतिनु' ने उसको और भी विस्तृत किया। 'अफलातूँ' के नवीन दार्शनिक का सिद्धान्त यह था कि "सभी वस्तुएँ एक अज्ञेय परम तत्व अनादि विज्ञान से उत्पन्न हुई हैं। सभी वस्तुयें परम तत्व में कल्पित हैं, इसी कल्पित तत्व की कल्पना से परम तत्व का परिचय होता है, उस परम तत्व का साक्षात्कार इन्द्रियादिकों से नहीं होता है। उसी परम तत्व से जगत् की रचना करने वाला ईश्वर उत्पन्न होता है, वह ईश्वर ध्यान के द्वारा विश्वात्मा तथा असंख्य जीवों को उत्पन्न करता रहता है। जिनका कर्तव्य समाप्त हो जाता है, उनको लौटाता रहता है।" इस यूनानी दर्शन से प्रभावित होकर ईसाई सन्त 'अगस्तिन' ने भी दार्शनिक ढङ्ग से ईसाई धर्म का मण्डन किया है, उनका मत था कि ईश्वर असत् से संसार नहीं बनाता है तथा यह सृष्टि निरन्तर करता रहता है। यदि ऐसा न हो तो संसार छिन्न-भिन्न हो जाय। सृष्टि ईश्वर के ही सहारे पर है, ईश्वर सृष्टि को बनाता हुआ देश-काल सभी को बनाता है। यह सृष्टि

सदा रहती नहीं है तथा परिवर्तनशील हैं अतएव नाशवान है। ईश्वर सर्वशक्ति संपन्न है। क्योंकि उसने अपनी शक्ति से सब तत्वों को उत्पन्न किया है। इस प्रकार संक्षेप में यूनानी दर्शन के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। अब थोड़ा सा इस्लाम के दर्शन सिद्धान्त का वर्णन करते हैं। इस्लामी सिद्धान्त का वर्णन कुरान में है, उसका मुख्य सिद्धांत है कि "ईश्वर एक है, साकार सा है, वह सातवें आसमान पर रहता है, वह संसार को अभाव से बनाता है और उसने कुन (हो) कह दिया, संसार बन गया। प्राणियों में अग्नि से उत्पन्न हुए देवता (फ़रिश्ते) तथा मनुष्य सबसे श्रेष्ठ हैं। उन्हीं देवताओं में कुछ ईश्वर के विरोधी होगये और उनका मार्ग ठीक नहीं रहा, अतएव उनको शैतान (राक्षस) कहते हैं, वे मनुष्यों को भी कुमार्ग पर लेजाने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य संसार में एक ही वार जन्म लेता है। कुरान में जिसका विधान है वह पुण्य है, जिसका निषेध है, वह पाप है। पुण्य का फल स्वर्ग है, पाप का फल नरक है। जो स्वर्ग में गया वह अनन्त काल तक स्वर्ग में ही रहता है और जो नरक में गया वह नरक में ही पड़ा रहता है। ईश्वर पुनः नवीन जीवों को उत्पन्न करता है। दया, सत्य, चोरी न करना आदि साधारण धर्म तथा नमाज—रोजा—ज़कात् (दान) और हज (कावा का दर्शन) ये चार मुख्य धर्म हैं। अनेक देवताओं की मूर्ति तथा उनका पूजन, मद्य पीना—सूअर का माँस खाना आदि अधर्म हैं। इस्लामिक दार्शनिकों ने प्रायः 'अरस्तू' का ही अनुसरण किया है। इस्लाम के दर्शन सिद्धान्त में 'फिका' ने कर्मों का भेद इस प्रकार का किया है।

१ "नित्य कर्म या अवश्य करने योग्य कर्म, जिसके न करने से पाप होता है, जैसे नमाज। २ नैमित्तिक कर्म, जो धर्म के अनुसार

विहित हैं और जिसके करने पर पुण्य होता है। किन्तु न करने पर पाप नहीं होता है। ३ अनुमोदित कर्म, जिसके लिये धर्म बल नहीं देता। ४ असम्मत कर्म, जिसके करने की धर्म सम्मति नहीं देता। किन्तु करने पर कर्त्ता को दण्ड योग्य नहीं मानता। ५ निषिद्ध कर्म, जिस कर्म का धर्म निषेध करता है और करने पर अवश्य दण्डनीय ठहराता है।"

'फिका' के चार आचार्य्य प्रसिद्ध है। "१ इमाम अबू हनीफ़ा, २–इमाम मालिक, ३ इमाम साफ़ई, ४ इमाम अहमद।" फ़कीहा लोग कुरान को स्वतः प्रमाण मानते हैं। उपरोक्त चारों आचार्य्यों में कुछ मतभेद भी है। जैसे इमाम मालिकने धर्म निर्णय में हदीस (पैगम्बर के बचन) पर बल दिया है। इमाम साफ़ई ने सुन्नत (सदाचार) पर बल दिया है। इमाम अहमद ने ईश्वर को साकार माना है। हनीफ़ तथा शाफ़ई के मत में अनुमान (क़यास) पर अधिक बल दिया है। कुरान सुन्नत क़यास के अतिरिक्त इज्माश्र (बहुमत) को प्रमाण माना गया है। उत्तर की अपेक्षा पूर्व प्रमाण को बलवान माना गया है। अभि-प्राय यह कि बहुमत से अनुमान बलवान है, अनुमान से सदाचार (सुन्नत), सदाचार से भी कुरान बलवान है। इस्लाम में भी बहुत से मत भेद हैं। 'यथा हलूल' का सिद्धान्त है कि "जीव (रूह) ईश्वर (अल्लाह) में समा जाता है। सिया तथा सुन्नियों का मत भेद तो प्रसिद्ध ही है। 'अबू यूनस' ईरानी जीव को कार्य करने में स्वतन्त्र मानता था। यदि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र न हो तो उसको दण्ड नहीं मिलना चाहिए, जीव को दण्ड मिलता है अतएव वह स्वतंत्र है इसके विपरीत बनीउमैया कर्म करने में जीव परतन्त्र हैं, इस सिद्धान्त को इस्लाम सम्मत बतलाता था। 'जहमबिन्सफ़वान' ईश्वर को निर्गुण और निर्विशेष मानता था, उसका कहना था कि यदि ईश्वर में गुण मान लिये जाँयगे तो अन्य वस्तुओं को भी मानना

पड़ेगा तो ईश्वराद्वैत की सिद्धि नहीं होगी। अतएव ईश्वर कर्त्ता–ज्ञाता–श्रोता–सृष्टिकर्त्ता आदि से रहित है। इस्लाम में कुछ ऐसे भी मत हुए जो कुरान के अर्थ दो प्रकार का करने लगे एक बाहरी अर्थ और एक भीतरी, इस सिद्धान्त के मानने वाले जिद्दीक कहलाने लगे। मोतजला सम्प्रदाय वालों का मत 'अवूयूनुस' से मिलता है, उनका कथन है कि जीव स्वतन्त्र है, ईश्वर भलाइयों का स्रोत है। अतएव किसी को नरकादि का दण्ड नहीं देता तथा ईश्वर गुण रहित है, ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता सीमित है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो क्या अन्याय भी कर सकता है? यदि अन्याय कर सकता है, तो ईश्वर दयालु नहीं। यदि नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान, नहीं, इसमें कुछ लोगों का यह भी मत था कि सर्वशक्तिमान होने पर भी अन्याय नहीं करता। अन्य कहते थे कि यदि अन्याय नहीं करता तो अन्याय की शक्ति नहीं है, अतएव सर्वशक्तिमान् नहीं मानना चाहिए। इन लोगों के मत में ईश्वरी चमत्कार असत्य हैं, जो कुछ होता है वह पदार्थों के स्वाभाविक गुण से ही होता है। इनके मत में जगत् सादि है तथा कुरान भी सादि है। मोतजली लोग कुरान की व्याख्या स्वतन्त्र रूप से करते थे, इनके आचार्य्यों का नाम यह है, 'अल्लाफ़अबुलहुजैल अलअल्लाफ़' यह सबसे बड़े विद्वान् माने गये हैं। 'नज्जाम-अल्लाफ़' का शिष्य हुआ है। 'नज्जाम' का शिष्य 'जहीज' हुआ। इसके बाद 'मुअम्मर' और 'अबूहाशिमवस्री' नामक विद्वान् हुए, इनमें कुछ मतभेद है किन्तु वह नाममात्र का मतभेद है। इसके बाद इनका विरोधी 'करामी' सम्प्रदाय चला, जिसका चलाने वाला 'मुहम्मदबिनकराम' था इसने ईश्वर को साकार सिद्ध किया है। इसके अनन्तर 'अशअरी' संप्रदाय चला इस संप्रदाय का प्रवर्तक 'अबुलहसनअशअर' था। इस मत में कार्य्य-कारणभाव को नहीं

माना जाता, उसके मत में सबको उत्पन्न करने वाला ईश्वर है। उसके लिये किसी अन्य कार्य-कारण की आवश्यकता नहीं है। वह कुरान को ईश्वर की वाणी मानता था और उसी को सर्वोपरि प्रमाण माना है। ईश्वर सब नियम से रहित है। ईश्वर की जो इच्छा हो वह करै, इसमें कोई नियम नहीं है, उस ईश्वर का ज्ञान कुरान के द्वारा ही हो सकता है, उसके ज्ञान के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। इसके मत में देश-काल आदि की गति में किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। पैगम्बर का कोई लक्षण नहीं जिसको चाहे उसको ईश्वर पैगम्बर बना के भेजदे, उसके लिये किसी भी प्रकार की योग्यता की आवश्यकता नहीं किन्तु पैगम्बर में कुछ चमत्कार अवश्य होना चाहिए, नहीं तो कोई भी कह सकता है कि मैं ईश्वर का भेजा हुआ हूँ। पूर्वी इस्लाम के कुछ दार्शनिकों के सिद्धान्त भी देते हैं 'अजीजुद्दीन राजी' ईरान का निवासी था, इसके मत में शरीर के अन्दर जीव की प्रधानता है। क्योंकि जीव के अस्वस्थ होने पर शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है। अतएव जीव कों स्वस्थ करना चाहिए। इसके मत में भलाई से बुराई संसार में अधिक है। यह रसायन शास्त्र में विश्वास करता था।

राजी के मत में पाँच तत्व नित्य हैं "१ कर्त्ता-(पुरुष या ईश्वर), २ विश्व जीव, ३ मूल भौतिक तत्व, ४ परमार्थ दिशा और ५ परमार्थ काल" यह पाँचो तत्व नित्य तथा सदा एक साथ रहने वाले हैं। इसके मत में जगत् नित्य है क्योंकि ईश्वर नित्य, तो जगत् भी नित्य है, अर्थात् सदा ईश्वर जगत् को बनाता रहता है। इस्लाम में एक और संघ स्थापित हुआ जिसका नाम 'अखवानुस्सफा' था जिसका अर्थ है पवित्र संघ, पवित्र मित्र मण्डली या पवित्र बिरादरी था, ये लोग विशेषकर पिथागोरस के 'सिद्धान्त' को मानते थे पवित्र संघ के सदस्यों की चार प्रकार की श्रेणियां थीं। प्रथम श्रेणी में १५ से ३० वर्ष तक के युवक थे, जिनका कर्तव्य अपने गुरुओं का पालन

करना था, द्वितीय श्रेणी में ३० से ४० वर्ष तक के सदस्य थे। इनको अध्यात्मिक शिक्षा से बाहर की विद्या को सीखना आवश्यक था, तृतीय श्रेणी में ४० से ५० वर्ष तक सदस्य थे, ये लोग संसार के दिव्य नियम को जानने की योग्यता प्राप्त किया करते थे और चतुर्थ श्रेणी में ५० से अधिक आयु वाले सदस्य होते थे, ये लोग सत्य का साक्षात्कार करते थे, इनको देवताओं के समान माना जाता था। इसके प्रवर्तक निम्नलिखित आचार्य्य थे "१ मुकद्दसीया अबूसुलेमान मुहम्मद इब्नमुशीर अल्वस्ती, २ जंजानी या अबुल हसन अली इब्नहारुनअल जंजानी, ३ नह्नाजूरी या मुहम्मद इब्न अहमद अलनह्ना हजूरी, ४ या अल औफ़ी तथा ५ रिफ़ाअ या जैद इब्न-रिफ़ाअ।"

पवित्र संघ का सिद्धान्त था कि इब्राहिम, मूसा, जतुश्त, मुहम्मद, अली इन सभी को पैगम्बर माना जाय तथा पिथागोरस सुक्रात अफलातूँ को भी ऋषियों और पैगम्बरों की श्रेणी में मानता था। सुक्रात, ईसा आदि को भी हसन-हुसेन की तरह शहीद मानता था। इस संघ में मजहब के विश्वास आचार-नियम साधारण बुद्धि वालों के लिये ठीक हैं। किन्तु अधिक उन्नत मष्तिष्क वालों के लिए दार्शनिक सिद्धान्त ही उपयुक्त है, इनके सिद्धान्त में जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न करना ही ठीक नहीं। हम क्या हैं इसी को जानना लाभ दायक है। धीरे धीरे जब बुद्धि उच्चावस्था तक पहुँच जाती है, तब सबसे महान् तत्व ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। उस ब्रह्म की प्राप्ति संसार त्याग और सदाचार से ही होती है, इन लोगों के मत में नव पदार्थ हैं "१ ईश्वर-परमात्मा या अद्वैत तत्व, २ कर्ता विज्ञान (नफ़्स फ़आल), ३ अधिकरण विज्ञान या सर्व विज्ञान (नफ़्स-इन्फ़आल), ४ मूल प्रकृति या मूल भौतिक तत्व (हेवला), ५ जगजीवन (नफ़्स आलम), ६ परम शरीर,

महत्तत्व (जिस्म मुतलक़), ७ पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि (अनासर-अर्व अ), ८ फरिस्ते या देव लोक (आलम अफलाक) और ९ भूतों से उत्पन्न-धातु-वनस्पति प्राणी (मवोलीद-सलासा) ।" इनकी व्याख्या विस्तार भय से नहीं कर रहे हैं सामान्य अर्थ उनके नाम से ही सिद्ध है ।

इन लोगों का मुख्य सिद्धान्त यह है कि सभी की उत्पत्ति ईश्वर से होती है । वह ईश्वर सब में है और सब ईश्वर में हैं, अर्थात् सब कुछ ईश्वर ही है । इनके मतमें त्याग-तपस्या पर अधिक वल दिया गया है तथा संसार के सब प्राणियों से प्रेम करना भी उत्तम माना गया है । इस्लाम में एक सूफी संप्रदाय भी है, उसका भी सिद्धान्त संक्षेप् में लिखते हैं । कुछ लोगों का कथन है कि सूफी शब्द यूनानी भाषा का है । किन्तु यूनानी में सोफिस्त है वह बिगड़ कर सूफी बन गया इस्लाम धर्म के मानने वालों में सर्व प्रथम यह उपाधि 'अवूहासिम' को मिली । इस्लाम में धर्मात्माओं को प्रथम "सहावा" साथी कहते थे । पीछे होने वालों को अनुचर (तावईन) पुनः अनु अनुचर (तवआ तावईन) कहा जाने लगा । अनन्तर शुद्धाचारी (जाहिद) और भक्त (आविद) कहा गया अन्त में सूफी शब्द का प्रयोग हुआ है । मुसल्मानों ने सूफी शब्द का अर्थ इस प्रकार से किया है कि जिन्होंने सब कुछ त्याग कर ईश्वर को अपनाया है उनका नाम सूफी है (जुन्नन मिश्री) जिनका जीवन-मरण केवल ईश्वर पर है (जनीद बगदादी)। संपूर्ण शुभाचरणों से पूर्ण और दुराचारों से मुक्त (अवू बक्र हरीरी) जिस व्यक्तिको न दूसरा कोई पसन्द करै और न वह किसीको पसन्द करै (मंसूर हुल्लाज) जो अपने आप को ईश्वर में सौंप दे (रोयम) पवित्र जीवन, त्याग और शुभ गुण जहां पर इकट्ठे हों (शहाबुद्दीन-सुहरा वर्दी)। गजाली ने सूफी शब्द का अर्थ लिखा है कि सूफी पन्थ ज्ञान और कर्म के मिश्रण का नाम है ।

कुछ लोग पैगम्बर के दामाद अली को सूफी सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि आदि प्रवर्तक का ठीक पता नहीं। क्योंकि प्रथम यह सम्प्रदाय गुप्त रूप से मुल्लाओं के भीतर चला था पश्चात् इमाम गजाली ने इसको सुव्यवस्थित रूप से लेख वद्ध करके सवको प्रकट किया। सूफी के सिद्धान्त में जीव-जगत्-ईश्वर से भिन्न नहीं हैं, सब ईश्वर ही है अर्थात् इनका मत अद्वैत था.। उस अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रेम की आवश्यकता है, विना प्रेम के वह प्राप्त नहीं होता। सूफी योग को भी मानते हैं। वैराग्य, एकान्त चिन्तन, जप, मानस जप, ईश्वर में तन्मयता योगि प्रत्यक्ष। योगी को सभी बातों का प्रत्यक्ष होता है, उसका प्रत्यक्ष सत्य ही होता है। इस्लाम के पूर्वीय दार्शनिकों में प्रथम 'अबू याकूव किन्दी' हुआ है, किन्दी के मत में ईश्वर ही जगत् का कर्त्ता है। किन्दी कार्य-कारण के नियम को मानता है तथा वह ज्योतिष के फलित सिद्धान्त को भी मानता है। जगत् दो प्रकार का है प्रकृति जगत् और शरीर जगत्। इसके मतमें ईश्वर और जगत् के मध्य में जग-जीवन है। इसीसे प्रथम देवता और मानव-जीव उत्पन्न होते हैं। मानवजीव का ध्येय है कि मन और शरीर से सुकर्म करना तथा विज्ञान और ईश्वर की कृपा को प्राप्त करना। किन्दी के मत में विज्ञान (नफ्स) के चार भेद हैं "१ जगत में जो कुछ सनातन सत्य अध्यात्मिक है, उसका कारण और सार परमात्मा है। २ वह बुद्धि (नफ्स) है जिससे मानवजीव समझा जा सकता है। ३ मानवजीव के कार्य्य करने की शक्ति और जीव की क्रिया। ४ इसके मत में समस्त विज्ञान का उद्गम स्थान ईश्वर है।" इसके अनन्तर 'अबूनस्रफ़ारावी' अच्छा दार्शनिक हुआ है, फ़ारावी तर्क को मानता है, ज्ञान तथा सिद्ध वस्तुओं से अज्ञात् वस्तु को जानना-प्रमाण-सिद्धान्त-तर्क है। उसके मत में सामान्य (जाति) भी

एक तत्त्व है; जोकि नित्य है। वस्तु के स्वयंपने को वह सत्ता मानता है।

फ़ारावी के मत में ईश्वर एक अद्वैतपूर्ण अपरिवर्तनशील और तृप्त है, इसी परमतत्त्व ईश्वर अद्वैत से जगत् का विकास होता है। फ़ारावी के सिद्धान्त में ज्ञान का उद्‌गमस्थान ईश्वर ही है, उसी ईश्वर में समा जाना जीव का चरम लक्ष्य है। ज्ञान से ही ईश्वर में समाजाना सम्भव है। फारावी फलित ज्योतिष तथा रसायन में विश्वास नहीं करता था, इसके अनन्तर 'वूअली-मसकविया' नामक दार्शनिक हुआ, जिसके मत में मानवजीव और पशुजीव में भेद माना गया है। शुभ कर्म करने से मनुष्यको परमतत्त्व की प्राप्ति होती है, विशेष शुभ तो ईश्वर के परमतत्व ज्ञान को ही कहते हैं, उस परम ज्ञान के प्राप्त होने पर अपने भीतर ही पूर्णानन्द अभिव्यक्त होता है। वह आनन्द ही अपना स्वरूप है. यह इसका दार्शनिक सिद्धान्त है।

'वूअली सीना' नामक दार्शनिक का सिद्धान्त है कि जीव-ईश्वर-प्रकृति ये तीन तत्व हैं, वह ईश्वर से प्रकृति की उत्पत्ति नहीं मानता एवं ईश्वर को एक अद्वैत ओर अकृत मानता है। सीनाके मत में जीव शरीर से पृथक् है, मनन करना जीव की सबसे बड़ी शक्ति है। भगवान् केसाथ प्रेम करनेसे आनन्द और ब्रह्म-निर्वाण की प्राप्ति होती है। 'गज़ालो' नामक विद्वान् दार्शनिक ने अपनी युक्तियों से प्रथम दार्शनिकों के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उसने 'तोहा फ़तुल फ़िलासफा' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसका अर्थ है दर्शन खण्डन। किन्तु उसने सब दर्शनों के सभी सिद्धान्तों का खण्डन नहीं किया है और उसने भी तो एक दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की है, अतएव उसने बीस प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों को गलत बतलाया है।

यथा १ "जगत् अनादि, २ जगत् अनन्त, ३ ईश्वर का जगत् कर्तृत्व भ्रम, ४ ईश्वर निर्गुण, ५ ईश्वर में सामान्य और विशेष है,

६ ईश्वर व्यक्तियों को नहीं जानता, ७ आसमान (फ़रिश्ते) और प्राणी इच्छानुसार गति करते हैं, ८ आसमान की गति के लिये दिये गये कारण, ९ आसमान सारे अवयवों का जानकार है, १० अप्राकृत घटना नहीं होती है, ११ कयामत और मुर्दों का जी उठना नहीं होता, (अर्थात् इनको गलत बतलाया है), १२ ईश्वर का अस्तित्व, १३ ईश्वर एक, १४ ईश्वर लक्षण रहित, १५ ईश्वर शरीर रहित, १६ ईश्वर अपने सिवा और को जानता है, १७ ईश्वर अपने आपको जानता है, १८ जीव एकद्रव्य है जो न गुण है न शरीर, १९ जीव नित्य है, २० इनके लिये कहता है कि साबित नहीं कर सकते उसका कथन है कि दार्शनिक को नास्तिक होना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि 'गजाली' युक्तियों के द्वारा कुरान के सिद्धान्तों को सिद्ध करता है। गज़ाली ने सूफी मत को सुव्यवस्थित ढंग से सिद्ध किया है यह प्रथम कह ही आए हैं। इसका भी सिद्धान्त था कि जो जिस बात के समझने का अधिकारी हो उसको वही बात समझाना चाहिए। अब संक्षेप में 'स्पेन' के दार्शनिकों के सिद्धान्त को भी दिखलाते हैं। स्पेन में 'अरस्तू' के दर्शन का प्रभाव है वहां का प्रथम दार्शनिक 'इब्न जिब्रोल' हुआ। उसका सिद्धान्त था कि संसार में परस्पर विरोधी दो शक्तियां हैं, भूत (मूल प्रकृति या हेवला) और आत्मा (विज्ञान) या आकार। किन्तु यह दोनों शक्तियाँ परम तत्व (परम सामान्य) के भीतर हैं। जिसको 'जिब्रोल' सामान्य भूत या सामान्य प्रकृति कहता है। जिब्रोल के इस सिद्धान्त का विकास 'रोश्द' ने किया है। जिब्रोल के अनन्तर बड़ा दार्शनिक 'मूसाबिन-मामून' हुआ है। कोई कोई मूसा को रोश्द का शिष्य बतलाते हैं स्पेन के अन्य दार्शनिक ये हैं १ 'इब्नवाजा' का सिद्धान्त था कि किसी भी प्रकार की आकांक्षासे रहित शुद्ध चिन्तन ही महान् ब्रह्मके दर्शन का अधिकारी बनाता है। इसके मतमें संसार के दो तत्व हैं गति युक्त और

गति रहित। जो गति युक्त है वह जड़ है और परिच्छिन्न है। अतएव यह स्वयं अपनी गति का कारण नहीं होता है। उसमें कारण उत्पन्न करने वाला तत्व गति रहित अपरिछिन्न है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। इन दोनों के बीच में जीव है, उस जीव की गति स्वतः है। इसका सिद्धान्त था कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। उस ज्ञान की प्राप्ति वौद्धिक क्रियाओं के द्वारा बौद्धिक शक्ति के स्वतः विकास से होती है। इस विकास के लिए एकान्त में रह कर चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद 'इब्नतुफैल' नामक दार्शनिक हुआ है यह बाजा के अनुसार ही बुद्धि पूर्वक ज्ञानकी प्रधानता मानता है इस मत में भी योगियों के प्रत्यक्ष के द्वारा ही ज्ञान का साक्षात्कार होता है। वह ज्ञान अद्वैत को प्राप्त कर उसमें एक हो जाना है।

'स्पेन'का एक और सबसे बड़ा दार्शनिक'इब्नरोश्द'हुआ है। रोश्द ने विभिन्न विषयों पर बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। दर्शन सम्बन्धी पुस्तकें संक्षेप (तलखीस) फ़ारावी, तथा सीना पर आक्षेप और वादशास्त्र के खण्डन अध्ययन करने योग्य हैं। हम यहाँ पर उसके सिद्धान्त को ही बतलावेंगे। रोश्द ने अरस्तू के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन उत्तम रीति से किया है। रोश्द ने गजाली के दर्शन खण्डन का भी खण्डन किया है। अतएव उसके ग्रन्थ का नाम ही दर्शनखण्डन खण्डन (तोहाफ़तुल् तोहाफतुल फिलासफ़ा) है। रोश्द गजाली के दर्शन खण्डन के बारे में लिखता है कि इन दार्शनिक सिद्धान्तों की जाँच वही कर सकता है, जिसने उन दर्शन की पुस्तकों को ध्यान से अध्ययन किया हो। (गजाली सीना के अतिरिक्त कुछ-नहीं जानता था), गजाली जो यह आक्षेप करता है उसके दो कारण हो सकते हैं या तो वह सब बातों को जानता है और पुनः आक्षेप करता है, यह दुष्टता का काम है, या अनभिज्ञ है तो भी आक्षेप करता है। किन्तु उसमें यह दोनों बातें नहीं मालूम होती। मालूम तो यह होता है

कि बुद्धि के अभिमान ने उसको इस पुस्तक के लिखने के लिए विवश किया। आश्चर्य नहीं कि उसकी मंशा इस तरह लोगों में प्रिय होने की रही हो। गजाली ने जो कार्य कारण के नियम का खण्डन किया है, रोश्द ने उस नियम को माना है। रोश्द कहता है कि जो मनुष्य कार्य-कारण के नियम को नहीं मानता, उसको यह भी मानने की आवश्यकता नहीं कि हर एक कार्य किसी न किसी कर्ता से होता है। अभिप्राय यह है कि जब कर्ता माना जाता है तब कार्य-कारण नियम भी मानना चाहिए। इसी तरह रोश्द ने अनेक युक्तियों से कार्य-कारण नियम को सिद्ध किया है और उसको अटल माना है। रोश्द जगत् को आदि-अन्त रहित मानता है। रोश्द के मत में प्रकृति गतिशील है, उसमें गति उत्पन्न करने वाला ईश्वर है। प्रकृति और ईश्वर के मध्य में जीव है, रोश्द अद्वैत शिव रूप परमात्मा के ज्ञान से ही आनन्द की प्राप्ति मानता है। परमात्मा के प्राप्त होने का साधन केवल ज्ञान है और कुछ नहीं। अब कुछ यहूदी दार्शनिकों का सिद्धान्त लिखते हैं, 'इब्न मैमून' के मत में ईश्वर की मान्यता है किन्तु उसका कथन है कि ईश्वर के विषय में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह 'यह नहीं' है और ऐसा नहीं है। उसमें अमुक २ गुण हैं, यह बतलाना हमारी सामर्थ्य के बाहर है। क्योंकि यदि हम ईश्वर के गुणों को स्पष्ट रूप से बतला सकें, तो वह भी संसार की वस्तु के समान ही हो जायगा। उसके मत में ईश्वर को असङ्ग और अद्वैत भी नहीं कह सकते क्योंकि ये भी एक प्रकार के गुण ही हैं। उसके मत में मनुष्य की उन्नति विद्या की उन्नति से ही होती है और विद्या की उन्नति को ही वह ईश्वर की उपासना मानता है। मनुष्य विद्या के द्वारा ही अपने जीवन की उन्नति कर सकता है। किन्तु इस विद्या रूप साधन का उपयोग सब के लिये सरल नहीं है। अतएव

अविद्वानों की शिक्षा के लिये ईश्वर पैगम्वरों को भेजता है। इब्न मैमून का शिष्य 'इब्न्यह्या' हुआ। इसने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। अपितुइसने अपने गुरु के सिद्धान्त का ही यहूदियों में प्रचार किया।

'इब्नखल्दून' नामक दार्शनिक प्रयोगवाद को मानता है उसका कथन है कि तर्क के द्वारा किसी वस्तु की सत्यता का निर्णय नहीं होता, उसका कथन था कि प्रयोग से जो अनुभव प्राप्त होता है, उसके ही द्वारा सत्य तक पहुँचा जा सकता है। केवल अपने ही अनुभव से नहीं किन्तु पूर्व हुए मनुष्यों के अनुभव का भी सहारा लेना चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति में तर्क कुछ सहायता करता है, ज्ञान तो मनन करते २ अपने आप प्रकट होता है। उसका यह सिद्धान्त था कि पूर्व इतिहास को देख कर उसके द्वारा सभी वस्तुओं के कार्य्य-कारण का पता लगाना चाहिए। जहां पर कारण की शृंखला का पता न लगे वहां ईश्वर को स्वीकार करना चाहिए।

यूरोपीय दार्शनिकों में 'जानस्काट्सएरिगेना' नामक प्रथम हुआ है, वह अरस्तू के दर्शन को पसन्द करता था। इसका मुख्य सिद्धान्त अद्वैत विज्ञानवाद और जगत की अनादिता है, उसका मत है कि जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व सभी वस्तुयें पूर्ण विज्ञान के भीतर रहती है, उसीमें से निकलती हैं, अलग २ नाम रूप को धारण करती हैं और नष्ट होकर अन्त में सब उसी पूर्ण विज्ञान में मिल जाँयगी। 'अमोरी' और 'दाविद' यह दोनों गुरु शिष्य थे। अमोरी का सिद्धान्त 'जिब्रोल' से मिलता है। दाविद के मत में जगत् की उत्पत्ति प्रकृति से होती है, उस प्रकृति की कोई आकृति नहीं है। 'रोसेलिन' का सिद्धान्त नामवाद था, उसका कथन है कि सभी प्रकार के व्यक्तियों की समानतायें व्यक्तियों से भिन्न नहीं है। 'राजरवैकन' का सिद्धान्त है कि कर्ता विज्ञान एक रूप में तो ईश्वर है और एक रूप

में देवात्माओं के तौर पर कर्ता, विज्ञान एक प्रकार जीव की अवस्था का नाम है। कर्ता, विज्ञान, मनुष्य और ईश्वर के बीच में सम्बन्ध कराने वाला अभौतिक द्रव्य है, इसकी स्वतः सत्ता है। 'दो मिनिक–अलवर्तसमग्न' भी दार्शनिक है किन्तु इसका कोई महत्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं। 'इब्नसीना' का सिद्धान्त स्वीकार करता सा मालूम होता है। क्योंकि उसका प्रशंसक था। इसका शिष्य 'तामस-अक्विना' हुआ, इसने अपने गुरू के ही सिद्धान्तों का प्रचार किया है। इसका सिद्धान्त द्वैतवाद का था इसके मत में जगत् के दो विभाग हैं। एक यह दृश्यमान जगत् और अन्य इसके भीतर रहने वाला मूल शुद्धतम सर्वश्रेष्ठ विज्ञान स्वरूप ईश्वर है। ईश्वर के अतिरिक्त अनेक जीवरूप विज्ञान भी हैं। जो सब एक से नहीं हैं, देव मनुष्य आदि इनकी भिन्न भिन्न कोटियां हैं। अक्विना ने धर्म और दर्शन के समन्वय करने का अधिक प्रयत्न किया है। ज्वावीला का शिष्य सीजर क्रिमोनी इस्लामी दर्शन का अध्यापन कराता था, इसका सिद्धान्त था कि ईश्वर को अपना ज्ञान है। ईश्वर के अस्तित्व में नक्षत्रों की गति ही प्रमाण है।

आधुनिक यूरोपीय दर्शन 'हाब्स' का अद्वैत भौतिकवाद प्रसिद्ध है, यहीं से यंत्रवाद का प्रारम्भ होता है। हाब्स लोकोत्तर वाद का विरोध करता था। उसका कथन है कि दर्शन, कार्य–कारण के द्वारा वस्तुओं के ज्ञान को बतलाता है। हम इन्द्रियों के साक्षात्कार के द्वारा वस्तु के ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। हाब्ज के मत में पुद्गल और गतिदो ही विश्व के तत्व हैं, चेतना भी पुद्गल का ही विकार है। हाब्ज ईश्वर की सत्ता को मानता था किन्तु उसका कथन था कि मनुष्य उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकता। इसके मत में पुण्य-पाप सापेक्ष हैं। क्योंकि कोईकर्म सदाअच्छा नहीं होसकता और सदा बुरा भी नहीं। किसी की अपेक्षा से बुरा भी अच्छा होता है और

अच्छा भी बुरा हो जाता है। 'टोलैंड' नामक दार्शनिक भी भौतिक-वादी हुआ है, यह भौतिकतत्व को गति शून्य नहीं मानता था, किन्तु सक्रिय द्रव्य या शक्ति रूप मानता है। 'डेकार्ट' नामक दार्शनिक यन्त्रवाद का प्रवर्तक है। यद्यपि यह शरीर से भिन्न आत्मतत्व तथा ईश्वर को मानता है। तथापि यन्त्रवाद की ओर इसका विशेष झुकाव है। डेकार्ट गणित का भी ज्ञाता था इसके मत में पुद्गल द्रव्य का प्रधान गुण विस्तार है।

ईश्वर ने ही पुद्गल और गति दोनोंको उत्पन्न किया है। संसार में गति परिमाण सदा एक ही रहता है। गति एक वस्तु से दूसरी वस्तु में संक्रान्त हो सकती है। समस्त ब्रह्माण्ड में गति और पुद्गल हैं। ईश्वर और जीव इनसे पृथक् हैं। 'डेकार्ट' पशु-पक्षियों में आत्मा को स्वीकार नहीं करता, उसका कथन है कि आत्मा का विशेष गुण सोचना है, वह शक्ति पशु-पक्षियों में नहीं है। अतएव उनमें आत्मा नहीं। उसका कथन था कि यदि मुझको पुद्गल तत्व मिल जाय तो मैं समस्त विश्व की रचना कर डालूँगा।

'स्पिनोज़ा' नामक दार्शनिक अद्वैत-विज्ञानवादी था, उसका कथन था कि हर प्रकार के शास्त्र तथा धर्म ग्रन्थों के प्रमाण से बुद्धि अधिक विश्वास के योग्य प्रमाण है। क्योंकि धर्म ग्रन्थों को सत्य सिद्ध करने के लिये बुद्धि रूपी कसौटी पर ही कसा जाता है। जैसे अन्य ऐतिहासिक लेखों या ग्रन्थों को किया जाता है। बुद्धि का काम यह जानना है कि प्रत्येक वस्तुओं का परस्पर क्या संबन्ध है। सभी प्राकृतिक घटनाओं का परस्पर संबन्ध है। उनकी व्याख्या के लिये उनसे परे किसी तत्व के मानने की आवश्यकता नहीं। एक शान्त तत्व अपनी सत्ता के लिये अन्य अगणित तत्वों पर निर्भर है। इस प्रकार इनके लिये पुनः अगणित तत्व मानते हुए अनवस्था हो जाती है, अतएव एक तत्व स्थिर मानना पड़ता है। जो स्वतः सिद्ध

है वह प्रकृति से परे नहीं। वही प्रकृति या सृष्टि स्वयं ईश्वर के कार्य्य को पूर्ण करती है, अतएव उसको प्रकृति या ईश्वर कहा जा सकता है। वह स्वयं सर्वमय अनन्त है और पूर्ण है। इससे अन्य तत्व की आवश्यकता नहीं। समस्त शक्ति ईश्वर का गुण है, वही सब जगत् का स्वरूप है। जो कुछ है वह अभिन्न है भ्रम या माया नहीं, सभी वास्तविक हैं। केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। क्योंकि लुप्त होने पर भी उनका अत्यन्ताभाव नहीं होता है, पर तत्व में सब स्थित रहते हैं। क्योंकि परम तत्व सदा रहता है। 'लॉक' नामक दार्शनिक द्वैतवादी था। इसके मत में अनुभव से परे कोई वस्तु नहीं है। उसके मत में मानसिक और भौतिक दो तत्व प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक तीसरा तत्व आत्मा है, जिसको ईश्वर भी कहते हैं। अपनी प्राकृतिक योग्यता का ठीक ठीक प्रयोग करने पर आत्मा का ज्ञान हो सकता है। कोई आचार या ईश्वरसबन्धी विचार स्वयम् नहीं। मन साफ है, प्रथम सिलेट के समान साफ होता है और मन में ज्ञान की सामग्री अनुभव द्वारा प्राप्त होती है। 'लाक' के मत में दर्शन को मस्तिष्क की उड़ान से बचाकर प्राकृतिक अध्ययन में लगाया जाये, जब योग्यता हो जायगी तो अपने आप ठीक बोध हो जायगा, नहीं तो कितने बिवाद और संदेह बढ़ते ही जांयगे।

'स्पिनोजा' नामक दार्शनिक के मत में संसार में कोई वस्तु स्वतन्त्र नहीं। सभी अपने कारणों द्वारा नियंत्रित या निर्धारित हैं। स्पिनोजा के मत में द्वैत नहीं। उसके सिद्धान्त में विस्तार और बोध या विचार दो भिन्न द्रव्यों के गुण या धर्म नहीं हैं। द्रव्य एक हो सकता है, बोध और विस्तार दोनों उसी के धर्म हैं। वही द्रव्य अपने आपको अनन्त प्रकार से प्रकट करता है। जिनको हम आत्मायें कहते हैं और जिनको जड़ कहते हैं वे भी एक ही द्रव्य के प्रकार हैं। आत्माओं में बोध गुण अभिव्यक्त होता है और जड़ में विस्तार गुण, यह सब

सृष्टि बिना प्रयोजन के होती है। 'स्पिनोजा' के सिद्धान्त का विरोध 'लाइवनिज' ने किया है। इसके मत में द्रव्य का प्रधान धर्म शक्ति का केन्द्र है अथवा परिवर्तनों का आश्रय होना है। विश्व सृष्टि इसी प्रकार अनन्त शक्ति केन्द्रों का समूह है। यह शक्ति केन्द्र चेतन है, आत्मा कण रूप है, सब एक से नहीं हैं, कोई कम विकसित है कोई अधिक, सबसे अधिक विकास ईश्वर का है। सभी आत्मकण स्वतन्त्र हैं। संसार के सभी पदार्थ क्रिया शील हैं निष्क्रिय कोई पदार्थ है नहीं 'लाइवनिज' के मत में दर्शन परमात्मा तक पहुँचाता है। यद्यपि वह भौतिक और यान्त्रिक सिद्धान्तों की व्याख्या करना चाहता है। उसकी व्यख्या के बिना चरम कारण भगवान् को मानही नहीं सकते।

'लाइवनिज' के मत में जड़ तत्व की सत्ता ही नहीं है। 'लाइवनिज' के मत में आत्मा अचल एक रस है, उसपर किसी का संस्कार नहीं पड़ता। आत्मा के भीतर भाव-द्रव्य, एकता, समानता कारण, प्रत्यक्ष कार्य-कारण, ज्ञान, परिमाण, इन सब का ज्ञान है। अतएव इनके लिए उसको इन्द्रियों का मुंह नहीं देखना पड़ता। इसके मत में बुद्धि, संगत, ज्ञान तभी सम्भव हो सकता है। जब कि कुछ सिद्धान्तों को स्वयंभू मान लिया जाय, जिससे उनके आधार पर अपनी युक्तियों का प्रयोग किया जा सकै। वह स्वयंभू सिद्धान्त समानता और विरोध हैं, इन्हीं के द्वारा सत्यता का निर्णय किया जाता है। दर्शन का मुख्य काम ज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों के साथ ही सत्यता के मौलिक सिद्धान्त या पूर्ण निश्चय है, और उनका आविष्कार करना है। 'वर्कले' का सिद्धान्त था कि भौतिक तत्व है ही नहीं। हमको मुख्य या गौण रूप से जो कुछ ज्ञान हो रहा है वह बाह्य तत्व के प्रतिविम्ब नहीं हैं। किन्तु केवल मानसिक वेदनाएं हैं। 'वर्कले' का मुख्य सिद्धान्त था कि सत्य तत्व भगवान और उनके

बनाए आत्मा और भिन्न भिन्न विचार जो कि उसी की आज्ञा से विशेष अवस्था में उत्पन्न होते हैं।

'कान्ट' के सिद्धान्त में वास्तविक ज्ञान उसको कहते हैं, जो सार्वदेशिक तथा आवश्यक हो। इन्द्रियां उस ज्ञान के लिए सामग्री इकट्ठी करती हैं। मन अपने स्वभावानुकूल उनको क्रमबद्ध करता है। 'कान्ट' का सिद्धान्त है कि प्रकृति में कार्य–कारण भावनादि नियमों का अखण्ड साम्राज्य है तथा नैतिक अथवा नैतिक प्रयत्नों के जगत् में बुद्धि मूलक स्वतन्त्रता है। नैतिक जगत् लक्ष्यान्वेषण अथवा आदर्शों के लाभ का संसार है। प्रकृति जगत तात्विक नहीं है, परमार्थ जगत् का बिर्वत मात्र है, उसमें रहकर हम कभी वस्तु तत्व को नहीं पकड़ सकते। हमारा नैतिक जीवन ही हमें आत्मा ईश्वर अमरता आदि का पारमार्थिक सत्यों से परिचय करा सकता है। 'कान्ट' का सिद्धान्त है कि ज्ञान निश्चय के रूप में ही प्रकट होता है। यदि निश्चय का कोई अपवाद हो तो वह सार्वदेशिक नहीं रहेगा। यदि कोई विरोधी भी आ सकता है तो वह आवश्यक नहीं। अतएव जो निश्चय सार्वदेशिक और आवश्यक नहीं वह विज्ञान सम्मत भी नहीं 'कान्ट' का सिद्धान्त है कि हम आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते, किन्तु उसके अस्तित्व पर मनन कर सकते हैं। यदि स्वयं चेतन आत्मा न हो तो ज्ञान सम्भव नहीं। उस आत्मा का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता ? क्योंकि आत्मा इन्द्रियों की सीमा से परे है। उसका कथन है कि वस्तु तत्व, अमर आत्मा, कर्म स्वातन्त्र्य और ईश्वर यदि हमारी समझ के विषय नहीं हैं, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे नहीं हैं। उनके अस्तित्व को हमको बुद्धि नहीं बतला सकती। क्योंकि वह बुद्धि की सीमा के परे का पदार्थ है, तो भी आचारिक नियम हमको वाध्य करते हैं कि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करें। नहीं तो अहिंसा, सत्य भाषण, चोरी न करना आदि

विचारों के पालन करने में नियन्त्रण नहीं रहेगा, इस प्रकार कान्ट ने ईश्वर को स्वीकार किया है।

'ह्यूम' नाम का दार्शनिक संदेहवादी कहा जाता है। उसका कथन हैं कि हम जो कुछ जान सकते हैं, वह हमारा मानसिक संस्कार है हमें इसका अधिकार नहीं कि भौतिक या अभौतिक की वास्तविकता को सिद्ध करें। हम उतने ही को जान सकते हैं, जितने को मन और इन्द्रियां ग्रहण करती हैं। इस क्षेत्र में भी संभावना के बारे में हम कह सकते हैं कि इस अनुभव से बढ़ कर ज्ञान प्राप्ति का साधन हमारे पास कोई नहीं है। 'ह्यूम' सभी विषयों में संदेह उत्पन्न करता है। अतएव उसका सिद्धान्त कोई निश्चयात्मक नहीं है। अतएव कुछ लोग इसको दर्शन कोटि में नहीं गिनते किन्तु यह एक संदेहवाद नामक दर्शन तो है ही। उसके सिद्धान्त में सभी वस्तुएं संदिग्ध हैं।

'फ़िख़टे' नामक दार्शनिक का सिद्धान्त है कि वस्तु सार भी मन से परे की कोई अन्य वस्तु नहीं। किन्तु मन ही की उपज है सभी अनुभव तथा मन के केवल आकार ही नहीं परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु वैयक्तिक मनों ने भी उत्पत्ति में भाग लिया है। परमात्मा ने अपने आपको ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में विभक्त किया है। क्योंकि आत्मा के आचारिक विकास के लिए ऐसे बाधा डालने वाले पदार्थों की आवश्यकता है कि जिनको आत्मा अपने आचारिक प्रयत्न से पार करे। इन्हीं कारणों से परम आत्मा को अनेक आत्माओं में विभक्त होना पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो उनको अपने कर्तव्यों को पूरा करने का अवसर न मिले। आत्मा के अनेक होने पर भी वह उस एक आचारिक विधान के प्रकाश हैं, जिनको परमात्मा या ईश्वर कहते हैं। 'फ़िख़टे' के सिद्धान्त में परम तत्व स्थिर नहीं किन्तु सजीव प्रबोध है।

फ़िखटे तथा कान्ट दोनों ही विश्वास (श्रद्धा) पर बल देते हैं।

उनका कथन है कि यह आचार तुमको अवश्य करना होगा, इनमें विश्वास करने से हम संदेहवाद, भौतिकवाद और नियतिवाद से बच जाते हैं। क्योंकि हम आचारिक विधान पर विश्वास करते हैं। अतएव उसको हम जानते हैं। यह आचारिक सत्यता ही हमको स्वतन्त्र बनाती है और हमारी स्वतन्त्रता को सिद्ध करती है। इनका मत है कि हम ज्ञान की परवाह किये बिना विश्वास पर दृढ़ होकर अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं, विश्वास करने या न करने में हम स्वतन्त्र हैं। यदि हम पूर्व लोगों के बनाए गए नियमों को नहीं मानते हैं, तो हम अपनी स्वतन्त्रता खो देते हैं। हमारी स्वतन्त्रता के शत्रु संदेहवाद और भौतिकवाद हैं, जो कि विश्वास पर कुठाराघात करते हैं। अतएव हमको विश्वास करना चाहिए, साथ ही विचार के द्वारा ज्ञान को और अनुभव को भी वह मानता है। उसके मत में आत्मा परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है, आत्मा सीमित है वह मन से परे नहीं है। उसके मत में ईश्वर ही एक परम तत्व है।

'हीगल' वास्तव में अध्यात्मवाद को मानता है, हीगल के मत में बुद्धि तत्व समस्त विश्व में व्याप्त है। अतएव विश्व की समस्त घटनाएँ नियमित या नियंत्रित होती हैं। उसके सिद्धान्त में विश्व और बुद्धि में कोई वास्तविक भेद नहीं, ज्ञाता और ज्ञेय द्वैत नहीं। क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय रूप में बुद्धि तत्व ही अभिव्यक्त होता है। उसके मत में संसार द्वन्दात्मक है, सभी वस्तुयें बदलने वाली हैं और बदलकर प्रथम से विरुद्ध हो जाती हैं। संसार की वस्तुयें द्वन्द्वात्मक होने पर भी उस अपने पूर्ण शरीर के विरोधी हैं। 'हीगल' ईश्वर को मानने वाला था उसका कथन है कि सार ही आभास है, अन्तर ही वाह्य है, मन ही शरीर है और ईश्वर ही विश्व है। एक स्थान पर उसका कथन है कि विश्व प्रक्रिया का पर्य्यवसान अथवा पूर्णलक्ष्य की प्राप्ति केवल उस भ्रम या भ्रान्ति के हटाने में है। जो

उसे अभी तक अप्राप्त प्रदर्शित करती है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि विश्व का विकाश अथवा विश्व प्रक्रिया मानना भ्रम है, वास्तविकता नहीं। इस प्रकार मान लेने से केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही विश्व प्रक्रिया को वास्तविक कह सकते हैं और ऊँचे जीवन के लिये प्रयत्न कर सकते हैं। वास्तव में पूर्णता प्रथम से ही सिद्ध है, इस प्रकार हीगल का सिद्धान्त एक अद्वैत तत्व को सिद्ध करता है। जो सब का मूल है और वही सब कुछ है। 'शोपनहार' नामक दार्शनिक का तृष्णावाद है। उसका सिद्धान्त है कि तृष्णा से परे कोई वस्तु अपने भीतर नहीं है तृष्णा ही कालातीत, देशातीत, मूल-तत्व और कारण विहीन क्रिया है, वही तृष्णा अनेक रूप से प्रकट होती है। इसके सिद्धान्त में वस्तुतः तृष्णा ही आत्मा है और शरीर भी तृष्णा का आभास है। यदि तृष्णा का निरोध हो तो प्राणी सुखी हो सकता है।

'निट्जशे' नामक दार्शनिक का द्वैतवाद है। उसका कथन है कि सोचना अस्पष्ट साक्षात्कार है। सोच में हम केवल समानता पर दृष्टि डालते हैं, इसका परिणाम यह होता है वास्तविकता का चित्र झूठा किया जाता है। वास्तव में ज्ञान के साधन का आविष्कार अपनी रक्षा के लिये है। किन्तु दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष संसार की कल्पना कर डाली है, वास्तव में सत्यता को खोजना चाहिए क्योंकि उसको गढ़ा नहीं जासकता। उसका सिद्धान्त था कि किसी तरह प्रभुता प्राप्त करनी चाहिए। उसके मत में शान्ति, सुख, दया, आत्मत्याग, जगत्से घृणा, जनानापन, अविरोध, समाजवाद, साम्यवाद, समानता, धर्म, दर्शन, और विज्ञान सभी जीवन सिद्धान्त के विरोधी हैं। अतएव इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

'स्पेन्सर' नामक दार्शनिक अज्ञेयतावादी है। उसका सिद्धांत है कि मानव ज्ञान इन्द्रियों से ज्ञात होने वाले पदार्थों तक ही सीमित

है। उसका कथन है कि इस संसार से परे एक अज्ञेय संसार है। हम शान्ति और सीमित वस्तुओं को ही जान सकते हैं, परमतत्व आदिकारण अनन्त का ज्ञान प्राप्त करना हमारी शक्ति से वाह्य हैं। उसके सिद्धान्त में परमतत्व या अज्ञेय अपने आपको दो परस्पर विरोधी बड़े समुदाय के रूप में प्रकट करता है, वह है आत्मा, अनात्मा, अन्तर वाह्य, मन और भौतिक तत्व।

'स्पेन्सर' विकासवादके अनुसार संसार की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानता है। उसका कथन है कि हमारा ज्ञान परम तत्व को भीतरी मन और वाह्य (जड़) प्रदर्शन तक ही सीमित है। दार्शनिक का काम है कि उनमें जो साधारण प्रवृति है 'सभी वस्तुओं का जो सार्वदेशिक नियम है' उसको ढूंढ़ निकाले और यही नियम है विकास का। विकास के भिन्न भिन्न प्रवाह देखने को मिलते हैं। उनका कथन है कि प्रारम्भ में जड़ द्रव्य वायव्य रूप में था वह एक रस या उसके अवयवों में संश्लेष का अभाव था, उसमें किसी प्रकार की जटिलता नहीं थीं। धीरे धीरे वह वायव्य द्रव्य घनीभूत होने लगा, क्रमशः घनीभूत होकर सौर मण्डल और तारों का प्रादुर्भाव हुआ, इसी प्रकार पृथिवी तथा पृथवी पर रहने वाले प्राणियों का विकास हुआ और समाज की व्यवस्थाओं का भी ऐसे ही क्रमशः विकास हुआ है। उसके सिद्धान्त में बाहरी तथा भीतरी सम्बन्धों का समन्वय करते रहना जीवन है। जिस समय बाहरी तथा भीतरी सम्बन्धों का पूर्ण समन्वय हो जाता है, वह पूर्ण जीवन होता है।

'बुख़नेर' नामक दार्शनिक भौतिकवादी था। उसके मत में सभी शक्तियां गति हैं और सभी वस्तुयें गति और भौतिक तत्वों के योग से बनती हैं। गति और भौतिक तत्वों को अलग समझा जा सकता है। किन्तु अलग किया नहीं जा सकता, आत्मा या मन कोई वस्तु नहीं। जीवन विशेष परिस्थिति में भौतिक तत्वों से ही पैदा होता

है, मन की क्रिया बाहर से आई उत्तेजना से मष्तिष्क की पीली मज्जा की सेलों की गति है।

'लुड्‌विगफ्वेरबाख़्' नामक दार्शनिक का सिद्धान्त है कि मनुष्य का मुख्य स्वभाव अपनी जाति की चेतना है। यह चेतना कितनी है यह उसके भावुक भावों और संवेदन से पता लगता है। उसके कथन में विशेषता है कि बुद्धि, इच्छा और स्नेह मनुष्य की सर्वोच्च शक्ति है। समझना, इच्छा करना और प्रेम करना अर्थात् समझने, इच्छा करने और प्रेम करने के लिये मनुष्य है। उसका कथन है कि "मनुष्य के लिये परम तत्व उसका अपना स्वभाव है।" मनोभाव से जिस दिव्य स्वभाव का पता लगता है वह वस्तुतः और कुछ नहीं, वह है स्वयं अपने प्रति आनन्द विभोर हो प्रसन्नता की भावना, अर्थात् अपने ही भीतर आनन्द-मयता। उसका कथन है कि इन्द्रियों के प्रत्यक्षमें विषय संबन्धी चेतना को अपनीचेतना से पृथक् किया जा सकता है। धर्म में विषयचेतना और आत्मचेतना एक बना दी जाती है। जिस मनुष्य के जैसे विचार तथा जैसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही उसका ईश्वर होता है। जितने मूल्य का मनुष्य होता है, उतना ही उसका ईश्वर होता है उससे अधिक नहीं। ईश्वर संबन्धी चेतना अपनी चेतना है और ईश्वर संबन्धी ज्ञान अपना ज्ञान है। उसका कथन है कि धर्म आत्म-चेतना का प्रथम स्वरूप है और धर्म पवित्र है। क्योंकि वह प्राथमिक-चेतना की कथायें हैं, ईश्वर द्वितीय कोटि का है। क्योंकि वह मनुष्य का सोचा हुआ मनुष्य का स्वभाव है। इस प्रकार का उसका सिद्धान्त है, इसके विचार को कुछ लोग धर्म विरोधी बतलाते हैं। किन्तु उसके बचनों से कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। वह मनुष्य को विशेष महत्त्व देता है, यही प्रतीत होता है।

'मार्क्स' गति वादी था, अर्थात् उसका कथन है कि सभी पदार्थ गतिशील हैं, सब में परिवर्तन हो रहा है, संसार का कोई भी

पदार्थ स्थिर नहीं, स्थूल दृष्टि से पदार्थ स्थिर प्रतीत होते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सभी में परिवर्तन हो रहा है। अतएव निरन्तर गतिशील भौतिक तत्व ही इस विश्व का मूल कारण है, इसी को द्वन्द्ववाद भी कहते हैं। क्योंकि इस वाद में परिवर्तन का कारण, वस्तुओं एवं सामाजिकसंस्थाओं में पारस्परिक विरोध या द्वन्द्व को मानते हैं। विज्ञानवाद का इसने खण्डन किया है, विज्ञान वादियों का कहना है कि विज्ञान वेत्ता जिस संसार पर बल देते हैं, वह सही नहीं ? विज्ञान वेत्ता वास्तविक जगत् को जानते ही नहीं, वास्तविक जगत् का आभास जो मन उत्पन्न करता है, वह तो केवल उसको जानते हैं। वह कार्य्य-कारण को सिद्ध नहीं कर सकते ? जैसे लोहा से आपको दागा जा रहा है, इसमें आप क्या जानते हैं ? लोहे का लाल रङ्ग और शरीर में आँच। रङ्ग और आँच के अतिरिक्त आप कुछ नहीं जानते हैं, यह दोनों मन की कल्पनाएँ हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि साइन्स (विज्ञान) के नियम या संभावनायें मन का स्वभाव मात्र है। 'मार्क्स' का कथन है कि आप किसी बस्तु को जानते हैं, तो उसमें बिचार अवश्य सम्मिलित रहता है। किन्तु इसका अभि-प्राय यह नहीं की आप लाल और आँच मात्र ही जानते हैं, यदि वस्तु की सत्ता नहीं मानेंगे तो ज्ञान का होना असंभव हो जायगा। जिस समय आप ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, उसी समय ज्ञाता और ज्ञेय को भी स्वीकार कर लेते हैं। विना ज्ञाता-ज्ञेयके ज्ञान कैसा ? विना उसके सबन्ध के हम केवल कल्पना मात्र से विश्व के अस्तित्व के ज्ञाता नहीं हो सकते, तो पुनः यह अर्थ कैसे होता है कि आप अपने विचारों के ही ज्ञाता हैं। इन्द्रिय और विषय का जब सन्निकर्ष होता है तो प्रथम बस्तु का अस्तित्व मात्र ज्ञात होता है। लाल रङ्ग और आँच तो पीछे की कल्पना है, जिसे वस्तुतः प्रत्यक्ष में ही नहीं चाहिये। प्रत्यक्ष सम्पूर्ण ज्ञानों का जनक है, वह प्रथम वस्तु के अस्तित्व मात्र का

ज्ञान कराता है, यह ठीक है कि हम वस्तु को पूर्णतया नहीं जानते हैं ? किन्तु उसके अस्तित्व को अच्छी तरह जानते हैं, इसमें सन्देह नहीं। इन्द्रियसाक्षात्कार हमको वस्तु के बारे में थोड़ा सा बतलाता है, जो बतलाता है वह सापेक्ष होता है। विज्ञानवाद में यदि कुछ सत्यता हो सकती है तो यही सापेक्षता है, जो कि सभी ज्ञानों पर लागू है। प्रकृति वाह्य पदार्थ के रूप में स्थित है यह निश्चित है। किन्तु वह पूर्णरूप से क्या है ? यह उसका रहस्य है जिसका खोलना उसके स्वभाव में नहीं है, वह हमको परिस्थितियों को बतलाती है। उन परिस्थतियों के रूप में हम प्रकृति को देखते हैं। सभी प्रत्यक्ष विशेष वैयक्तिक प्रत्यक्ष है, जो कि विशेष परिस्थतियों में होता है। शुद्ध प्रत्यक्ष, विशेष विषय और परिस्थिति से रहित कभी नहीं होता, हम सदा वस्तु के विशेष रूप को ही प्रत्यक्ष करतें हैं। अतएव ज्ञान वास्तविकता का आभास है, आभासमात्र नहीं। वह दृष्टिकोण और ज्ञाता के प्रयोजन–'अतएव ऐतिहासिक विकास की मुख्य अवस्था'–से बिलकुल सापेक्ष है। देश काल की परिस्थति को हटाकर वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता ? "प्रकृति का ज्ञान होता ही नहीं।" और वह सदा सापेक्ष ही होता है। इसमें उतना ही अन्तर हैं जितना हां और नहीं में। मार्क्स सापेक्ष ज्ञान को बिलकुल संभव मानता है, जिससे साइन्स (विज्ञान) की गवेषणाओं का समर्थन होता है। विज्ञानवाद वस्तु की सत्ता से ही इनकार करके ज्ञान को असंभव बना देता है, जिससे साइन्स को भी वह त्याज्य ठहराता है।

इस प्रकार मार्क्सके सिद्धान्तमें भौतिकतत्व, प्रकृति और जगत् मन की उपज नहीं ? बल्कि भौतिक तत्व की उपज मन है। उसके सिद्धान्त में मन प्रथम था ही नहीं। क्योंकि विकासवाद की रीति से यह सिद्ध होता है कि भौतिक तत्व प्रथम थे, पश्चात् मन उत्पन्न हुआ। अतएव मन की उपज भौतिक तत्व नहीं। किन्तु भौतिक तत्व से मन

उत्पन्न हुआ है, यह मार्क्स का सिद्धान्त है। इसके मत में ईश्वर आदि की अपेक्षा नहीं। इसी के मत से समाजवाद आदि चले हैं, ऐसा लोगों का कथन है।

'ह्वाइटहेड' धर्म और ईश्वर में विश्वास करने वाला गणित का ज्ञाता दार्शनिक है। उसका सिद्धान्त है कि समस्त संसार दीप कलिका के समान परिवर्तनशील है, किन्तु यह वास्तविक है। उसका कथन है कि "न बचने वाले प्रवाह में एक वस्तु है जो बनी रहती है, नित्यता को नष्ट करने में एक तत्व है। जो कि प्रवाह के रूप में बच रहता है।" उसका कथन है कि विश्व का 'साथ होना' सम्बन्ध होना ही ईश्वर है। अलग अलग वस्तु में ईश्वर नहीं है, बल्कि वह उनका आधार 'शरीर' है। विश्व पूर्ण एकता के लाने में तत्पर सन्तों का बहुत्व है। "ईश्वर भौतिक बहुत्व की खोज में तत्पर दृष्टि की एकता है।" वेदना के लिए वंसी या अंकुशी तथा इच्छा की अनन्त भूख है। 'ह्वाइटहेड' ईश्वर, धर्म और आचार का समर्थन करने वाला है।

'युकेन' नामक दार्शनिक के सिद्धान्त में सर्वोच्च वास्तविकता आत्मिक जीवन है, या सजीव आत्मा है, यह आत्मिक जीवन प्रकृति से ऊपर है। किन्तु वह उसमें इस प्रकार व्याप्त है कि उसके लिए सीढ़ी का काम दे सकता है। यह आत्मिक जीवन कूटस्थ एक रस नहीं किन्तु अधिक ऊंची–अधिक गम्भीरता की ओर बढ़ रहा है। ऐसी चमत्कारिक प्रक्रियाएँ (योग जैसी) हैं, जिसकी सहायता से आत्मिक जीवन का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य स्वयं इस आत्मिकजीवन की प्रगति में सहायक हो सकता है। साइन्स, कला, धर्म, दर्शन आदि को प्रेरणा इसी आत्मिक जीवन की ओर से मिलती है। और वह उसकी प्रगति में भाग लेता है। सत्य मनुष्य की कृति नहीं वह आत्मिक लोक में उपस्थित है, जिसका मनुष्य को केवल पता

लगाना है, ऐसे स्वयंसिद्ध सत्य की आवश्यकता है। क्योंकि उसके बिना श्रद्धा सम्भव नहीं। सत्य मनुष्य की नाप है, मनुष्य सत्य की नाप नहीं, सत्य वाध्य करके अपने अस्तित्व को मनवाता है। उसका दूसरा प्रमाण यह है कि कष्ट के समय लोग आत्मिक लोक या स्वार्गिक राज्य की शरण लेते हैं। प्रकृति की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इसके भीतर भी ज्ञान है, यह प्रकृति आत्मिक जीवन के मार्ग की प्रथम सीढ़ी है। इस आत्मिक जीवन का ज्ञान साइंस (विज्ञान) या तर्क-वितर्क से नहीं हो सकता? उसके लिये आत्मिक अनुभव की आवश्यकता है। यही आत्मिक जीवन ईश्वर है। धर्म मानव जीवन को आत्मिक जीवनके उच्च शिखर पर ले जाता है, उसके बिना मनुष्य का अस्तित्वसारहीन है। अर्थात् युकेन ने भी धर्म और ईश्वर की पुष्टि की है।

'वर्गसाँ' नामक दार्शनिक प्रकृति और प्राकृत नियमों को स्वीकार करता हुआ विश्व की आध्यात्मिकता को सिद्ध करता है। 'वर्गसाँ' के सिद्धान्त में परिवर्तन या सृजनात्मक विकास को स्वीकार किया गया है। उसका सिद्धान्त है कि विश्व प्रवाहमय है, विश्व-तत्व का वास्तविक धर्म सतत गति अथवा अनवरत परिवर्तन है। वास्तविक सिद्धान्त वर्गसाँ का है कि सदा वास्तविकता का प्रत्यक्ष दर्शन आत्मानुभूति रहा है और रहेगा, यह बात बिल्कुल शब्दशः ठीक है। आत्मानुभूति के द्वारा ही हम स्थिति, जीवन, चेतना का साक्षात्कार कर सकते हैं। परम तत्व तभी अपने आपको हमारे सामने प्रकट करेगा, जब कि हम कर्म करने के लिये नहीं, वल्कि उसके साक्षात्कार करने के लिए साक्षात्कार करना चाहेंगे। वर्गसाँ भी आत्मदर्शन और ईश्वर का समर्थन करता है।

'वर्ट रंड रसल' नामक दार्शनिक का सिद्धान्त है अन-उभयवाद, उसका सिद्धान्त है कि न प्रकृति मूलतत्व है

और न विज्ञान मूलतत्व है। रसल का कथन है कि दर्शन जीवन के लक्ष्य को स्थिर नहीं कर सकता, किन्तु वह दुराग्रहों तथा संकीर्ण दृष्टि के अनर्थों से बचा सकता है। 'विलियम जेम्स' नामक दार्शनिक को द्वैतवादी कहते हैं, उसका कथन है कि किसी वाद, विश्वास या सिद्धान्त की कसौटी, वहप्रभाव या व्यावहारिक परिणाम 'जो हम पर और जगत् पर पड़ता' दिखाई देता है। उसके मत में ज्ञान जीवन के लिये एक साधन है, जीवन ज्ञान के लिये नहीं है। सत्य, ज्ञान या विचार वह है जिसे हम हजम कर सकें एवं यथार्थ सिद्ध कर सकें और जिसकी परीक्षा कर सकें। उसका सिद्धान्त है कि जो कुछ अनुभव किया जा सके, वह सत्य है। वह ईश्वर को भी स्वीकार करता है। किन्तु उसका कथन है कि ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। किन्तु विश्वास से ईश्वर माना जाता है और वह उपासकों की सहायता भी करता है। उसका कथन है कि किसी भी दर्शन के सिद्धान्त को पूर्णतया सिद्ध नहीं किया जा सकता है, प्रत्येक दर्शन श्रद्धा करने की चाह पर है। इस प्रकार संक्षेप से पाश्चात्य दर्शनों का सिद्धान्त लिखा गया है। पाश्चात्य दार्शनिकों में भी अधिकांश अध्यात्मवादी ही हैं, इसके अनन्तर हम समस्त दार्शनिकों के अभिप्राय को लिख कर इस दर्शन सिद्धान्त का उपसंहार करेंगे।

* अभिप्राय *

सभी दार्शनिक इस दृश्यमान संसार का विचार करते हैं कि यह संसार क्या है? इसका कारण क्या है? इस संसार में सुखपूर्वक जीवन किसप्रकार विताया जा सकता है? सुख प्राप्ति का क्या मार्ग है? सुख क्या है? मानव जीवन की सफलता किसमें है? इत्यादि, स्वाभाविक प्रश्न सभी के मन में उठते हैं। दार्शनिक इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं अपने अपने दृष्टिकोण से सभीप्रश्नोत्तरों का वर्णन करते हैं। दार्शनिक सिद्धान्त समझने के लिये

बुद्धि की सूक्ष्मता की आवश्यकता है। देश–काल–अवस्था के अनुसार सभी दर्शनों की आवश्यकता होती है, सभी मनुष्य एक समान नहीं होते, अतएव सब के लिये एक ही प्रकार के दर्शन से लाभ नहीं हो सकता है। जिस मनुष्य की बुद्धि में जो सिद्धान्त दृढ़ होता है, उसको वही देख पड़ता है और उसी में उसको आनन्द भी आता है। इसी अभिप्राय से दर्शनकार अपने अपने सिद्धान्त को ही पुष्ट करते हैं। यदि किसी भी दर्शन में मनुष्य की निष्ठा हो जाय तो जन्म–मृत्यु के भय से मुक्त हो सकता है, विशेष विचार उपसंहार में करेंगे।

उपसंहार

दर्शनसिद्धान्त का प्रारम्भ हमने न्यायदर्शन सिद्धान्त से किया है। क्योंकि जितने भी दार्शनिक हैं, सभी न्यायदर्शन की ही युक्तियों से अपने २ सिद्धान्त को सिद्ध करते हैं। उसके अनन्तर वैशेषिक-दर्शन का सिद्धान्त लिखा है। क्योंकि वैशेषिक दर्शन में सांसारिक द्रव्य, पृथिवी आदि का लक्षण किया गया है, जिसके बिना किसी का परिज्ञान नहीं होता है। इसके अनन्तर सांख्यदर्शन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। क्योंकि प्रकृति, पुरुष तथा सत्व–रज–तम गुणों का विवेचन सांख्यदर्शन में ही है, अन्य किसी में उस तरह से बिचार नहीं किया गया है। सांख्य के अनन्तर हमने योगदर्शन का सिद्धांत लिखा है। क्योंकि तत्वसाक्षात्कार बिना योग के हो नहीं सकता, इसको प्रायः सभी दार्शनिक स्वीकार करते है। सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों में समानता है, इस कारण इन दोनों का साथही वर्णन कर दिया है। यदि ठीक से योग का अभ्यास किया जाय तो सभी पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है, अर्थात् पदार्थों का यथार्थ विज्ञान योग से ही होता हैं। योगदर्शन के अनन्तर हमने पूर्वमीमांसा (जैमिनि) दर्शन का सिद्धान्त प्रतिपादन किया है। क्योंकि उसमें धर्म का लक्षण वर्णन

किया है तथा कर्मकाण्ड की श्रुतियों के अभिप्राय को अभिव्यक्त किया गया है।

श्रुत्यर्थ परिज्ञान के लिये पूर्व मीमांसा का अध्ययन आवश्यक है, उसी की युक्तियों से संसार के धार्मिक नियमों का विवेचन होता है तथा मानव कर्त्तव्य का विचार पूर्व मीमांसा की ही रीतियों से किया जाता है, इस पूर्व मीमांसा के अनन्तर हमने उत्तर मीमांसा (वेदान्त-दर्शन) का विचार किया है। क्योंकि उसमें ब्रह्मके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथा उपनिषदों के सिद्धान्त का समन्वय किया है। किन्तु उस वेदान्तदर्शन के भाष्यकारों में मत भेद है, उस पर जितनी भाष्य या टीका लिखी गईं हैं उतनी किसी भी दर्शन पर नहीं। यदि सभी भाष्य तथा टीकाओं के सिद्धान्त का विवेचन करते तो बहुत बिस्तार हो जाता। अतएव हमने प्रायः प्रसिद्ध भाष्यकारों के मतों का ही संक्षेप में प्रतिपादन किया है। इन्हीं के अन्तर्गत अन्य भाष्य तथा टीकाकारोंके सिद्धांत आजाते हैं। इसके अनन्तर नकुलीश दर्शन, पाशुपतदर्शन, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन, रसेश्वरदर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, ये सभी दर्शन ईश्वर तथा वेद के मानने वाले हैं। इसके अनन्तर चार्वाक, बौद्ध, जैन, पाणिनिदर्शन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, इस प्रकार भारतीयदर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन संक्षेप में किया है। इस देश में षड्दर्शन ही आस्तिकदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं और अन्य षड्दर्शन नास्तिकदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु इसमें हमने कुछ अन्य दर्शनों का भी वर्णन किया है, जिनका कि वर्णन सर्वदर्शन संग्रह नामक ग्रन्थ में किया गया है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा का परस्पर सम्बन्ध है, इस प्रकार एक दर्शन दूसरे दर्शन के पूरक हैं। बिना इन सभी दर्शनों के अध्ययन किये किसी भी दर्शन के पूर्ण सिद्धान्त का परिज्ञान नहीं हो सकता। इनके सिद्धान्तों में जो परस्पर

घनिष्ट सम्बन्ध है, उसका परिज्ञान मूल दर्शन के सूत्रों का अध्ययन करने से होता है। भाष्य तथा टीकाकारों ने तो प्रायः सम्बन्ध विच्छेद करने का प्रयत्न किया है, तो भी कुछ भाष्यकार सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जहाँ कहीं इनमें मतभेद देखा जाता है, वह अधिकारी भेद से तत्वज्ञान कराने की रीतिमात्र है। क्योंकि तत्व ज्ञान के अनन्तर मुक्ति प्राप्त होने में सभी सहमत हैं, सभी के मत में मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती। मुक्ति में जीव सब दुःखों से रहित हुआ अकेला ही रहता है, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग में यह सिद्धान्त स्पष्ट ही है। पूर्व मीमांसा में कर्म के अनुसार स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उस स्वर्ग को नित्य माना है। स्वर्ग का स्वरूप पूर्व मीमांसा के सूत्रों में स्पष्ट नहीं है किन्तु स्वर्ग को नित्य तथा दुःख रहित माना गया है। उत्तर मीमांसा में भी मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानी गई है, मुक्ति के स्वरूप में भाष्यकारों में मतभेद है। किन्तु मूल सूत्रों से मतभेद प्रतीत नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि सभी मानव संसारके दुःखसे छूटना चाहते हैं और सभी के मत में सांसारिक दुःख की निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है, इस सिद्धान्त को तो नास्तिक दर्शनकार भी मानते हैं। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक प्रथम है, वह मरने के अनन्तर पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता है, उसका सम्पूर्ण दर्शन मिलता नहीं, तो भी देहात्मवाद के सिद्धान्तानुसार विचार किये जाने पर कल्याणदायक ही सिद्ध होगा। क्योंकि यदि देहात्मवाद को मानते हैं, तो भी श्रुति-स्मृति विहित तथा मानवधर्म का अनुष्ठान किया जासकता है। क्योंकि आत्मा तो शरीरसे पृथक् है, वह न मनुष्य है, न पशु, न पक्षी और न देवता ही है? शरीर का ही मनुष्यादि रूप से व्यवहार होता है, मनुष्यों में भी ब्राह्मण-क्षत्रियादि शरीर के ही नाम हैं। श्रुतियों में या स्मृतियों में जो विधान आता है, वहां पर ब्राह्मण यह कर्म करे,

क्षत्रिय यह कर्म करे, वैश्य यह कर्म करे और शूद्र यह कर्म करे, यह सब शरीर दृष्टि से ही कर्म करने का विधान है। अतएव शरीर रूपी आत्मा का रक्षण करना भी धर्म है। उसकी रक्षा के लिये वहुत से नियम पालन करने पड़ते हैं यदि किसी नियम का पालन नहीं किया जायगा तो देह की रक्षा भी नहीं होसकती और यदि देह सुरक्षित नहीं तो सुखोपभोग कैसे होगा? अतएव इन्द्रियों का संयम करना देहात्मवादी भी मानते हैं। सत्य-अहिंसा आदि सामान्यधर्म उनको भी मानना पड़ता है क्योंकि जैसे अपना शरीर आत्मा है, ऐसे ही अन्य का शरीर भी आत्मा है अर्थात् जैसे हम अपने शरीर की रक्षा करते हैं, वैसे ही अन्य शरीर की भी रक्षा करनी चाहिए। यदि ऐसा न माना जायगा तो संसार में बड़ी ही गड़वड़ी उत्पन्न होजायगी। अतएव चार्वाक भी सुख प्राप्ति का साधन इन्द्रियादि को वश में करना मानता होगा? नहीं तो सुखसे जीवन व्यतीत करनेका सिद्धान्तही नष्ट होजायगा।

इसी प्रकार वौद्ध दर्शन में भी दुःख निवृत्ति ही चरमलक्ष्य माना गया है। उसमें जितने प्रकार के वाद हैं, सबका लक्ष्य संसार से विरक्त होकर दुःख से छूटने का प्रयत्न करना है। अतएव इन्द्रिय-मन आदि को वश में करने के लिये विस्तार से साधन वतलाये गये हैं, ऐसे ही जैनदर्शन में भी साधन पर बहुत वल दिया गया है। इन्द्रिय तथा मनके निरोध करने के लिये अनेक साधन वतलाये हैं। जैन तथा बौद्ध दर्शन में भी मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती, यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। इससे यही निश्चय होता है कि भारतीय सभी दर्शन मुक्ति के मानने वाले हैं और उनका लक्ष्य केवल तर्क-वितर्क करना ही नहीं? अपितु तत्त्व का साक्षात्कार करना है, जिस समय यथार्थ रूप से तत्वका साक्षात्कार हो जाता है, उस समय मनुष्य निर्भय हो जाता है। जब तक शरीर है, तब तक व्यवहार भी करता है, जो व्यवहार जिसके लिये

जहां पर उचित होता है वह वही व्यवहार करता है। तत्त्व ज्ञान होने पर भी सभी ज्ञानियों के व्यवहार एक समान नहीं होते? क्योंकि ज्ञान होने पर भी शरीर की प्रकृति में कोई भेद नहीं होता है। अन्त में हमने अन्य देशीय दार्शनिकों के सिद्धान्तों को भी लिखा है। किन्तु उनका उल्लेख हमने अत्यन्त संक्षेप में ही किया है, उनके बहुत से सिद्धान्त भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों से मिलते भी हैं और बहुत से नहीं भी मिलते। किन्तु संसार के अधिक दर्शनों का सिद्धान्त अध्यात्मवाद पर ही बल देता है। वास्तव में सभी दार्शनिक सिद्धान्त मानव बुद्धि की उपज हैं, जिस मनुष्य की बुद्धि में जैसा संस्कार, 'देश-काल परिस्थिति के अनुसार' पड़ा उसी के अनुसार उसकी बुद्धि वैसा ही निश्चय करके देखने लगी। जिसकी बुद्धि में जो सिद्धान्त दृढ़ होजाता है, उसको वैसा ही प्रतीत भी होता है। अतएव दर्शनकार अपने सिद्धान्त को समझाने का प्रयत्न करते हैं। जिसकी बुद्धि में जिस सिद्धान्त का संस्कार संस्कृत होगया वह मिटता नहीं है, अर्थात जो संस्कार जिसकी बुद्धि में दृढ़ होगया उसीको वह सत्य मानता है। क्योंकि उसको वही प्रतीत होता है, अतएव उसीको सिद्ध करने के लिये वह युक्तियों को सोचा करता है। सभी सिद्धान्तों को सिद्ध करने की युक्तियाँ भी मिल ही जाती हैं, किन्तु कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ नहीं? अतएव सभी दर्शनसिद्धान्तों में कुछ न कुछ निर्वलतायें होती हैं और उन्हीं निर्वलताओंका खण्डन अन्य दर्शनकार करते हैं। किन्तु खण्डन करने पर भी जिसका अभिनिवेश जिस सिद्धान्त में होता है, उसका परित्याग वह नहीं करता, अतएव पूर्ण विवेकी मनुष्य सब को ही कल्पित समझते हैं। इस विषय में गौडपादाचार्य्य की एक कारिका है, उसका उद्धरण करते हैं। उसमें जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वह सिद्धान्त यदि समझ में आजाय तो किसी भी दर्शन शिद्धान्त से द्वेष नहीं होगा।

यथा— यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैतितम् ॥
॥ माण्डूक्य वै० २-२६॥

अर्थात् जिसका आचार्य्य (उपदेशक, नेता, गुरु, आप्त) जिसको जो भाव (पदार्थ) दिखलाता है कि यही तत्व है, वह मनुष्य उसको वैसा ही देखता है । यह मैं हूँ अथवा यह मेरा है और वह भाव उस साधक पुरुष की उसी प्रकार रक्षा भी करता है, अर्थात् साक्षात् असाधारण रूप से अपने में ही निष्ठा उत्पन्न करके अन्य ओर से उसकी प्रवृत्ति को निवारण करता है और वह मनुष्य उसी में अभिनिवेश करता हुआ उसीको प्राप्त होजाता है । यही कारण है कि संसार में अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं, हो रहे हैं और होंगे भी । क्योंकि विद्वान् लोग अपनी प्रतिभा के वल से किसी भी सिद्धान्त को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं । इसी कारण भारतीय दार्शनिकों ने भ्रम का कथन पांच प्रकार से किया है, उसीके भीतर सभी दार्शनिक सिद्धान्त आजाते हैं, अब संक्षेप में हम उनका भी कथन करते हैं ।

॥ पांच प्रकार की ख्याति ॥

१ "सत् ख्याति, २ असत् ख्याति, ३ आत्मख्याति, ४ अन्यथाख्याति और ५ आख्याति" सतख्याति वादीका सिद्धान्त है कि भ्रमस्थल शुक्ति में, शुक्ति के अवयव के साथ रजत के अवयव भी सदा रहते हैं । जैसेशुक्ति के अवयव सत्य हैं, वैसे ही रजत् के अवयव भी सत्य हैं । दोष युक्त नेत्र से उन सत्य रजत् के अवयवों से सत्य रजत की उत्पत्ति होती है और अधिष्ठान के ज्ञान से उन अपने अवयवोंमें ध्वंस होजाता है । असत् ख्यातिवादी दो प्रकार के हैं, "एक का सिद्धान्त है कि सभी पदार्थ असत् हैं, अतएव शुक्ति में रजत् भी असत् है और अधिष्ठान भी असत् है । असत् अधिष्ठान से असत् रजत उत्पन्न होता है, अतएव सब शून्य है ।" दूसरे असत् ख्याति वादियों

का मत है कि "शुक्ति आदि व्यावहारिक पदार्थ असत नहीं। किन्तु दोष के कारण शुक्ति स्थल में रजत् की प्रतीति होती है। वह रजत् असत् है।" कुछ लोगों का कथन है कि "शुक्ति में शुक्तित्व और शुक्तित्व का समवाय प्रतीत नहीं होता। अतएव उसमें रजतत्व का समवाय प्रतीत होता है। वह रजतत्व का समवाय शुक्तित्व में है नहीं अतएव वह असत् ख्याति है।"

आत्म ख्याति वादी का मत है कि "वाह्य रजत् नहीं है किन्तु अन्तर आत्मा का धर्म रजत् है, वह वाह्य रूप से प्रतीत होता है और वह प्रतीति दोष के कारण होती है।"

अन्यथा ख्याति वादी का मत है कि "जिस पुरुष को सत्य पदार्थ के अनुभव जन्य संस्कार हैं, उसीके दोष सहित नेत्र का पूर्व दृष्टसदृशपदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है और पुरोवर्ति-सदृश पदार्थ के सामान्य ज्ञान से पूर्व दृष्ट की स्मृति होती है अथवा सदृश के ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है। जिस पदार्थ की स्मृति होती है, अथवा जिसके सदृश संस्कार उत्पन्न होते हैं, उसी पदार्थ का धर्म पुरोवर्तिपदार्थ में प्रतीत होता है। जैसे सत्य रजत् के अनुभव जन्य संस्कार सहित पुरुष का रजत् सदृश शुक्ति के साथ दोष सहित नेत्र के सम्बन्ध होने पर रजत् की स्मृति होती है, उस स्मरण किये हुए रजत् के रजतत्व धर्म का शुक्ति में प्रतिभास होता है, इसीका नाम अन्यथा ख्याति है।" आख्यातिवादी प्रभाकर का कथन है कि "कोई ज्ञान अयथार्थ नहीं हैं; जहां पर शुक्ति में रजत् की प्रतीति होती है, वहां पर भी रजत का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु रजत् का स्मृति ज्ञान है। शुक्ति का सामान्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। किन्तु दोष सहित नेत्र के सम्बन्ध से रजत् के संस्कार उत्पन्न होकर रजत् की स्मृति कराते हैं, वहाँ रजत् और शुक्ति का ज्ञान होता है, किन्तु वह सामान्य ज्ञान होता है।

दोषके कारण विशेष की प्रतीति नहीं होती, अतएव इसको आख्याति-बाद भी कहते हैं।" वेदान्त दर्शनके मानने वाले "अनिर्वचनीय ख्याति" मानते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ है कि जिसको सत् या असत् रूप से निर्वचन न कर सकें, उसको अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। इस सिद्धान्त में शुक्ति में रजत् उत्पन्न होता है। किन्तु उसको न सत कह सकते हैं और न असत् कह सकते हैं। क्योंकि यदि सत् कहते हैं तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये,यदि असत् कहते हैं तो प्रतीति नहीं होनीचाहिए। किन्तु शुक्तिके ज्ञानसे उसकीनिवृत्ति होती है तथा प्रतीति भी होती है। अतएव वह अनिर्वचनीय है। इन सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन दर्शनों में विस्तार पूर्वक किया गया है, सभी लोग अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं, अन्य का खण्डन करते हैं और उन्हीं दृष्टान्तोंके द्वारा जगत् की प्रतीति का भी निश्चय करते हैं। इस प्रकार जगत् क्या है ? इस विषय में पूर्वीय तथा पश्चिमीय अनेक दर्शन-कारों के मत हैं, उन सब के सिद्धान्त को संक्षेप में हमने लिखा है। जिसकी रुचि जिस सिद्धान्त में हो, वह उसको स्वीकार करके उसमें दृढ़ हो जाय तो उसको लाभ होगा। केवल कोरी बातें या तर्क-वितर्क करने से कोई लाभ नहीं होगा। ॥ इति ॥

"दर्शन सिद्धान्त-परिशिष्ट"

संसार के समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों को संक्षिप्तरूप से ही हमने वर्णन किया है, उन सभी सिद्धान्तों के विचारने से यह निश्चय हो गया कि संसार के कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं हैं। अतएव इनमें आसक्त होने वाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता ? इस आसक्ति के छूटने के लिए वैराग्य की परम आवश्यकता है। अतएव प्रायः सभी दार्शनिक वैराग्य का उपदेश करते हैं, वैराग्य का यह अभिप्राय नहीं कि इन सांसारिक पदार्थोंका तथा संसारका सर्वथा परित्याग करके कहीं निर्जन स्थान में चला जाना ? क्योंकि मनुष्य जहां भी रहेगा, वह संसार तथा संसार के पदार्थों से अलग नहीं रह सकता है। निर्जन स्थान में भी संसार तथा संसार के पदार्थ विद्यमान रहते हैं। यदि मनुष्य के मन में विवेकदृढ़ नहीं तो वहां भी किसी न किसी पदार्थ में उसकी आसक्ति हो सकती है ? इतिहास तथा पुराणों में ऐसी कथाएं प्रसिद्ध हैं तथा वर्तमान समय में भी प्रत्यक्ष है कि वहुत से लोग गृहस्थाश्रम का परित्याग करके बन में चले गए हैं। किन्तु वहां पर भी आसक्ति के कारण वे अनेक प्रकार के दुःख को प्राप्त हुए और हो रहे हैं।

वास्तविक वैराग्य का अर्थ यह है कि इस संसारमें रह कर किसी भी पदार्थ में राग न हो। उन सांसारिक पदार्थों का उपयोग अपने जीवन निर्वाह के लिए ही करे, जिन पदार्थों के सेवन से शारीरिक, मानसिक और दैविक शक्तियों का विकास हो, उनको विवेक पूर्वक ग्रहण कर अन्य का परित्याग करे। पदार्थों के गुण-दोष का परिज्ञान उनके उपयोग से पूर्व ही होना चाहिये। किन किन पदार्थों के संमिश्रण से किन किन शक्तियों का आविर्भाव होगा एवं उनसे क्या

हानि और लाभ होगा ? इसका भी परिज्ञान प्रथम ही होना चाहिए। जिनको पदार्थों के वास्तविक तत्व का परिज्ञान होता है, वे ही इन सब बातों के जानने में समर्थ हो सकते हैं। उन पदार्थों के वास्तविक स्वरूप ज्ञान के लिये शुद्ध सात्विक बुद्धि की आवश्यकता है, उस सात्विक बुद्धि की उपलब्धि सात्विक देश, काल एवं आहार के सेवन करने से होती है। वर्तमान समय में इन सभी बातों का अभाव हो गया है और समस्त संसार में तमोगुण की प्रबलता बढ़ रही है। इसी कारण मनुष्यों की बुद्धि भी तामसी हो गई है और उस तमः प्रधान बुद्धि से किसी भी पदार्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं हो रहा है।

यद्यपि कहा जा रहा है कि इस समय मनुष्यों की बुद्धि का विकास हो रहा है। उस बुद्धि विकास का ही यह प्रत्यक्ष फल है कि मानव जीवन के स्तर को उच्चकोटि का बनाने के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं का आविष्कार होरहा है और इन आविष्कारों के द्वारा ही समस्त मनुष्यों को पूर्ण सु ख-शान्ति की प्राप्ति हो जायगी ? तथापि विचार करने पर यह निश्चित होजाता है कि इन आविष्कारों के द्वारा ही मनुष्यों का जीवनस्तर निम्न कोटि का होता जारहा है एवं दुःख और अशान्ति की अभिबृद्धि भी हो रही है। क्योंकि इन आविष्कारों के द्वारा समस्त वायुमण्डल दूषित होता जा रहा है। क्योंकि इन आविष्कर्ताओं की बुद्धि शुद्ध नहीं है।

आधुनिक आविष्कर्ताओं की बुद्धि शुद्ध न होने के कारण पदार्थों के गुण-दोष का परिज्ञान भी नहीं है तथ पदार्थों के समिश्रण करने से क्या गुण-दोष प्रकट होता है, इसका भो प्रथम ज्ञान नहीं है, केवल आर्थिक लाभ के लिए ही ये आविष्कार किए जा रहे हैं। जिसकी बुद्धि में अर्थ और काम की प्रबलता होती है। वह अपना तथा अन्य का भी अकल्याण ही करता है। इन आविष्कारों के कारण ही एक मनुष्य या किसी विशेष दल के पास अधिक सम्पत्ति तथा शक्ति

एकत्र होती जारही है, उनसे अन्य के पास दरिद्रता,दीनता तथा शक्ति-हीनता बढ़ती जा रही है। इसी कारण वर्ग विद्वेष बढ़ रहा है, जिनके पास सांसारिक पदार्थों का अभाव है वे भी दुःखी हैं और जिनके पास सभीपदार्थ उपलब्ध हैं वे भी दुःखी हैं। क्योंकि जिस सुख के लिए धन-संपत्तिइकट्ठी की जाती है,वह प्रायः धनवानों को प्राप्त नहीं हो रहा है। क्योंकि वे किसी न किसी महारोग से ग्रस्त होने के कारण सांसारिक सुख भोग नहीं सकते और जिनके पास नहीं हैं वे भी चिन्ता के कारण रोगग्रस्त होने से दुखी हैं। उन रोगों की निवृत्ति के लिए अनेक प्रकार की औषधियों का भी आविष्कार होरहा है। किन्तु उनसे भी रोग की निवृत्ति न होकर और अधिक वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं।

अब थोड़ा सा वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत पदार्थों का विचार कीजिए ! वैज्ञानिकों ने यन्त्र संचालन के लिए पत्थर का कोयला तथा मिट्टी क तेल खोजा है, उन्हीं के द्वारा प्रायः सभी यान्त्रिक शक्तियों का संचालन होता है। किन्तु इस बात का विचार नहीं किया कि इससे मानव समाज की हानि कितनी होगी ? पत्थर का कोयला, जल और अग्नि के संयोग से जो धूम्र उत्पन्न होता है, उसमें एक प्रकार की विषैली शक्ति होती है। वह वायुमण्डल में प्रविष्ट होकर वायु को दूषित कर देती है। जिसके द्वारा अनेक प्रकार के रोगों का आविर्भाव होता है। जिन नगरों में बहुत से यन्त्र पत्थर के कोयले से संचालित होते हैं, वहां पर सूक्ष्मरूप में कोयले के अंश वायु के द्वारा इधर उधर उड़कर वस्त्र को काला कर देते है और कभी कभी मनुष्यों की आंखों में पड़कर उसमें पीड़ा भी उत्पन्न करते हैं। उससे बचने के लिए धूम्र निकलने का मार्ग आकाश की ओर ऊँचा किया जाता है। किन्तु तब भी वह नीचे की ओर ही आता है और आकाश में व्याप्त होकर सूर्य की किरणों में जो जलाकर्षण और वर्षण शक्ति है उसको निर्बल बनाकर अति वृष्टि एवं अनावृष्टिका कारण होता है। जैसे गर्भवती स्त्री

गर्भ को धारण करने में समर्थ होती है, तो समय पर हृष्ट पुष्ट सन्तान उत्पन्न करती है। यदि आहार–विहार के विपरीत होने से गर्भ धारण करने की शक्ति निर्बल हो जाती है तो कुछ समय में गर्भपात हो जाता है अथवा गर्भधारण ही नहीं होता है। यदि किसी तरह संतान हुई भी तो निर्बल होती है, ऐसीही वर्षा की भी दशा है।

पत्थर के कोयले से उत्पन्न धूम्र की विशैली शक्ति का अनुभव लोगों को होता ही रहता है, कभी कभी किसी कोठरी में पत्थर के कोयले को जला कर सो जाने से कितने ही मनुष्यों की मृत्यु का समाचार सुनने को मिलता है। इसी प्रकार मिट्टी के तेल में भी बहुत से दोष हैं प्रथम तो दुर्गन्ध होती है; वह दुर्गन्ध घ्राण इन्द्रिय के द्वारा शरीर में प्रविष्ट हो कर शरीर को दूषित करती है। जब तेल जलाया जाता है तब उसमें से दुर्गन्ध भी फैलती है साथ ही उसका काजल भी उड़ता है, वह आंख में पड़ कर दर्शन शक्ति को हानि पहुँचाता है, जो अधिक निर्मल तैल होता है उसमें ये सब बातें कम होती हैं, तब भी सूक्ष्मरूप से रहती हैं। जिस गृह में मिट्टी का तेल जलाया जाता है वहां का वातावरण ही दुर्गन्ध से भर जाता है तथा उसके सूक्ष्म परमाणु सर्वत्र फैल कर अनेक रोग उत्पन्न करते हैं। जिन नगरों में मिट्टी के तेल से यन्त्र तथा अनेकों मोटरें चलती हैं, वहां का वायुमण्डल अति दूषित हो गया है। जिसके कारण क्षय आदि अनेकों भयङ्कर रोगों की वृद्धि हो रही है। इसी प्रकार तीव्र गति के वाहनों के आविष्कार से भी बहुत सी हानियाँ हो रही हैं। प्रायः उनसे फेफड़ा खराब हो जाता है। जैसे पद्वाहन (पैरगाड़ी), रेल, मोटर, वायुयान आदि।

विद्युत के तीव्र प्रकाश में अध्ययन करने वालों की नेत्र ज्योति निर्बल हो जाती है और चल चित्र (सिनेमा) दर्शन करने से भी नेत्र निर्बलता का रोग अधिक होता है। मोटर या रेल आदि गाड़ियों

के सम्मुख आने वाले मनुष्यों के नेत्र पर जब तीव्र प्रकाश अकस्मात पड़ता है तब नेत्र को और भी हानि होती है। त्वचा के ऊपर विद्युत प्रकाश के पड़ने पर वह भी निर्बल होकर शीतोष्ण सहन में असमर्थ हो जाती है। विद्युत पंखे की वायु से शरीर में रूक्षता और भारीपन आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इसीप्रकार द्रुतगामी वाहनोंपर बैठकर जब मनुष्य एक देश से दूसरे देशमें शीघ्रता से पहुँच जाता है तब वहाँ की विपरीत जल-वायु के कारण अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित हो जाता है। जैसे एक उष्ण देश निवासी मनुष्य जब शीत प्रधान देश में एकाएक शीघ्रगामी वाहन से पहुँचता है तो उसको शीत सहन न होने से सर्दी का रोग हो जाता है। यदि उस सर्दी के निवारण क लिए मद्य आदि का सेवन करता है तो उससे और भी रोग उत्पन्न होता है। यदि मानव धीरे धीरे पैदल यात्रा करता है तो प्रकृति परिवर्तन धीरे धीरे होने से उसे कोई हानि नहीं होती है।

इसी प्रकार अन्य देशों में समुत्पन्न खाद्य पदार्थ भी अन्य देशों के मनुष्यों को लाभदायक नहीं होता है। क्योंकि ईश्वर ने विभिन्न देश, काल और प्रकृति के अनुसार ही मनुष्य की प्रकृति तथा उसके सेवन योग्य खाद्यादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। अतएव उसी देश के पदाथ उसकी प्रकृति और रुचि के अनुसार होने से उसके लिए लाभदायक होते हैं। जैसे बङ्गाल या मद्रास निवासियों के लिए चावल आदि लाभदायक होते हैं, पंजाब के रहने वाले गेहूँ आदि के सेवन से लाभ उठाते हैं और ज्वार-बाजरा आदि मारवाड़ियों को रुचिकर तथा लाभदायक होता है। वर्तमान समय में यातायात के साधन सुलभ होने से सभी वस्तुएं सभी देशों में पहुँच जाती है। उनके उपयोग से लाभके स्थान में हानि ही अधिक होती है। वास्तव में जिस देश में मनुष्य को जन्म प्राप्त हुआ है वहीं पर उसके उपयोग की वस्तुयें भी प्राप्त हैं। यदि गृह निर्माण करना हो तो जहां पर मिट्टी और लकड़ी

मिलती है उसी से अच्छे से अच्छा गृह बन सकता है। प्राचीन समय में उसी तरह बनता था और अब भी ग्राम, बन तथा पर्वतों में बनता है। जहां मिट्टी तथा लकड़ी नहीं मिलती वहां पर जो मिलता है,उसी से मकान बन जाता है। जैसे पर्वतों में लकड़ी जहां अधिक उपलब्ध है वहां पर लकड़ी का ही मकान बनता है, जहां पत्थर उपलब्ध है वहाँ पर पत्थर का ही मकान बनता है।

वर्तमान समय के वैज्ञानिकों ने सीमेन्ट का आविष्कार किया और नगरों में प्रायः इसी का प्रयोग गृह निर्माण में होता है। सीमेन्ट से बनेहुए मकान में सर्दी के समय सर्दी अधिक लगती है और गर्मी में वह गर्माता अधिक है। उस सर्दी–गर्मी से बचने के लिए मकान में ऐसा यन्त्र लगाया जाता है जिससे उसको जब चाहें ठंढा करे जब चाहे तब गर्म कर लें। किन्तु उससे मनुष्य के शरीर पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। उसमें से बाहर निकलने पर सर्दी–गर्मी अधिक लगने का भय बना रहता है। प्रायः ऐसे मकानों में रहने वाले ही सर्दी–गर्मी तथा उससे उत्पन्न रोग से अधिक पीड़ित रहते हैं। सीमेन्ट का बना मकान अधिक दिन तक ठहरता भी नहीं। मिट्टी आदि के द्वारा बने मकान सर्दी में गर्म रहते हैं गर्मी में ठन्ढे रहते हैं और सैकड़ों वर्ष तक उपयोग में आते हैं।

वैज्ञानिकों ने मनुष्यों को सुविधा पहुँचाने के लिए नगरों में जल की व्यवस्था की है। किन्तु उसमें भी बहुत दोष हैं, प्रथम तो परतन्त्रता रहती है, समय पर जल नहीं मिलता है। यदि मिलता भी है तो सर्दी में ठंढा और गर्मी में गर्म, जिसके सेवन से उदर विकार बढ़ता है। गर्मी के दिनों में जल को शीतल करने के लिए बरफ़ का उपयोग किया जाता है, उससे भी उदर विकार बढ़ता है तथा पिपासा की शान्ति भी नहीं होती। यद्यपि नल का जल शुद्ध करके भेजा जाता है, तथापि वह शुद्ध नहीं होता, वह गंदी नालियों के

समीप या उनके अन्दर होकर आता है। उनका प्रभाव उसमें पड़ता है, जिससे अनेकों भयङ्कर रोग उत्पन्न हो रहे हैं। प्रायः बड़े बड़े नगरों के लोग रोगी हो रहे हैं। प्राचीन समय में घर घर में कूप होता था, उसका जल बड़ा ही लाभदायक होता है, वह स्वभावतः सर्दी में गर्म और गर्मियों में ठंढा रहता है एवं किसी प्रकार की परतन्त्रता नहीं, और जब चाहें तब भर कर अपने उपयोग में ला सकते हैं।

वैज्ञानिकों ने आटे की चक्की का आविष्कार किया है जिससे शीघ्र ही आटा पीसा जाता है। किन्तु इस आटे की शक्ति नष्ट हो जाती है, जिसके सेवन से मनुष्यों के उदर में रोग उत्पन्न होकर समस्त शरीर को रोगी बना देता है। इसी प्रकार वस्त्रोत्पादन के लिए तथा शक्कर (चीनी) उत्पन्न करने के यन्त्रों का आविष्कार हुआ है, उनसे भी अनेक प्रकार की हानि होती है। इसीप्रकार जो लाभ देशी चरखे के सूतसे बने वस्त्रसे तथा देशी शक्करसे होता है वह मिलों के बने पदार्थों से कभी नहीं होता है। कहाँ तक वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत वस्तुओं के दोषों का वर्णन करें, जो वस्तुयें मनुष्यों को सुखी बनाने के लिए आविष्कृत की गई हैं, जब वे ही दोष पूर्ण हैं, तो मनुष्यों के संहार केलिए आविष्कृत परमाणु बम-उद्जन बम के दोष तो अब सब को प्रत्यक्ष ही हो रहे हैं। क्योंकि जब उनके परीक्षण से वायु और वायु मण्डल दूषित हो रहा है। यदि कहीं युद्ध का आरम्भ हुआ तो सब का नाश ही संभावित है।

यदि कहा जाय कि "विज्ञान द्वारा मनुष्यों को सुखी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। खाने, पीने, रहने, आने और जाने की सुविधा हो गई है। रेल, तार, वायुयान, रेडियो आदि यन्त्रों के द्वारा मनुष्य सुखी हो रहा है, अर्थात् सारा संसार एक कुटुम्ब के समान हो गया है। अतएव विज्ञान की बुराई नहीं करना चाहिए?

यह मनुष्य की बुद्धि का विकास है, प्राचीन समय में मनुष्य जङ्गली थे, उनको कुछ ज्ञान नहीं था। अब मनुष्य विज्ञान के द्वारा सभ्यता की उच्च सीढ़ी पर चढ़ता जा रहा है, और भविष्य में ऐसा समय आवेगा कि मनुष्य सम्पूर्ण सुख शान्ति को अनुभव करने लगेगा ?" किन्तु यदि गम्भीरता से विचार करके देखा जाय तो इन वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा मनुष्यों को सांसारिक सुख भी नहीं प्राप्त हो रहे हैं। क्योंकि सांसारिक सुख भी तभी उपलब्ध होते हैं, जब मनुष्य की शरीरिक शक्ति दृढ़ होती है। वर्तमान समय में शारीरिक शक्ति का ह्रास होता जा रहा है। यदि प्राचीन समय के मानव इतिहास को वास्तविक रूप से अध्ययन किया जाय तो वे आज कल के समय से अधिक सांसारिक सुख का अनुभव करते थे। यदि कहा जाय कि प्रचीन समय में सब को सभी प्रकार की सुविधा नहीं थी, इस कारण सभी सब सुख को अनुभव नहीं कर सकते थे और अब तो सब को सब प्रकार की सुविधा प्राप्त है। अतएव सभी सुख का अनुभव कर सकते हैं। किन्तु अब भी सब को सब प्रकार की सुविधा प्राप्त नहीं है।

वर्तमान समय में किसी को भो संतोष नहीं ! क्योंकि सभी सब वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं और वस्तुएं प्राप्त हो नहीं रही हैं, इस कारण मनुष्यों का नैतिक पतन बढ़ता जा रहा है काम, क्रोध, लोभ और मोह की वृद्धि हो रही है, दम्भ-कपट-पाखण्ड बढ़ रहा है, तथा मनुष्यों की विवेक शक्ति भी क्षीण होती जारही है। अतएव विषयोपभोग की ओर अधिक प्रवृत्ति हो रही है। मनुष्य में स्वभावत: विषयोपभोग की प्रवृत्ति होती है। यदि इसको उचित शिक्षा न दीजाय तो अविवेक पूर्वक सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्त हो कर विषयोपभोग की शक्ति से भी रहित हो जाता है। वर्तमान समय में विषयोपभोग की शिक्षा दी जा रही है। इस कारण उधर ही अधिक प्रवृत्ति हो रही है। यदि कहा जाय कि क्या

मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग सांसारिक पदार्थों के विकास के लिए न करके जङ्गली पशुओं का सा जीवन व्यतीत करे? नहीं, मनुष्य बुद्धि का उपयोग करे किन्तु बुद्धि शुद्धि का भी प्रयत्न करता रहे। यदि मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है तो पदार्थों के गुण-दोष का परिज्ञान उनके सेवन के पूर्व ही हो जाता है। उस शुद्ध बुद्धि के लिए जितेन्द्रिय होने की आवश्यकता है। यदि इन्द्रियाँ वश में होती हैं तो सांसारिक पदार्थों का उपयोग भी उचित रीति से किया जा सकता है मनुष्य का परम कर्तव्य है कि वह प्रकृति के वश में न हो कर प्रकृति को अपने वश में करे।

वर्तमान समय के वैज्ञानिक प्रकृति के वश में होते जा रहे हैं, जैसे कोशकारकृमि अपने अन्दर से ही ऐसा जाल रचता है, जिसमें फँस कर वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। तैसे ही ये वैज्ञानिक स्वयं तो जाल में फंस ही रहे हैं तथा औरों को भी फंसा रहे हैं। ऐसा वैज्ञानिक आविष्कारों का जाल फैल गया है कि बर्तमान समय में कोई देश इसके बिना उन्नति नहीं कर सकता है। जिस देश में जितना ही अधिक वैज्ञानिक आविष्कार हो रहा है, वह उतना ही अधिक समुन्नत माना जाता है। जिसके पास एटम बम और हाइड्रोजन बम हैं वही अधिक शक्तिशाली है, अतएव सभी उन वैज्ञानिक आबिष्कारों के लिए दौड़ लगा रहे हैं और उसी के द्वारा सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु जो विवेकी हैं वे सदा विचार करते हैं, विचार के द्वारा निश्चय होता है कि चाहे कितना ही आविष्कार किया जाय किन्तु इन सांसारिक पदार्थों के सेवन से कभी भी पूर्ण सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वास्तविक सुख तो इन्द्रिय और मन के एकाग्र होने पर ही प्राप्त होता है, इसी कारण दर्शनकार इसी की शिक्षा देते हैं। यदि मन चञ्चल है तो समस्त विषयोपभोग के प्राप्त होने पर भी सुख नहीं प्राप्त होता है। यदि मन एकाग्र

है तो बिना किसी विषय के भी मनुष्य सुखी हो सकता है। संसार के प्रायः सभी दार्शनिक इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, इसी कारण इन्द्रिय संयम का उपदेश सब ने किया है। इन्द्रिय और मन को वश में करने से अनेकों प्रकार की शक्ति प्राप्त होती है। किन्तु उनसे भी वास्तविक सुख नहीं होता है।

प्रचीन समय के इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि उस समय भी भौतिक विज्ञान का पता था और वही यथार्थ ज्ञान था तथा उससे कोई हानि नहीं होती थी। वायुयान आदि उस समय भी बनते थे किन्तु उनमें मिट्टी के तेल का प्रयोग नहीं होता था। योगी लोग अपनी यौगिक शक्तियों के द्वारा अनेक विलक्षण कार्य्य करते थे, उनके इस शरीर में ही अणिमा आदि सिद्धियाँ आविर्भूत होती थीं जिससे दूर श्रवण,–दूर दर्शन–दूर गमन आदि उनके लिए सुलभ थे। इसी प्रकार दैवी शक्तियां भी देवताओं की उपासनाओं से प्राप्त होती थीं। यज्ञों के द्वारा समस्त वायुमण्डल शुद्ध होकर आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता था। किन्तु उन सब के विकसित होने पर भी पूर्ण शान्ति नहीं मिलती थी। पूर्ण शान्ति एवं सुख तो ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अतएव प्राचीन समय के दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करते थे। उनका जीवन साधारण रूप से व्यतीत होता था, उनके रहने के लिए वृक्ष की छाया अथवा पर्णकुटी ही पर्याप्त थी। भोजन भी वन में उत्पन्न फलादि अथवा भिक्षा के द्वारा जो कुछ मिल गया वही करते थे, पहिरने के लिए वस्त्र भी वल्कल या दिशा अथवा जो कुछ फटा पुराना मिल गया, उसी से निर्वाह करते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उस समय गृह निर्माण, भोजन निर्माण या वस्त्र निर्माण का परिज्ञान ही नहीं था।

इतिहास तथा प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से विदित होता है कि मानव के प्रयोग की समस्त सामग्री का यथार्थ विज्ञान पूर्वकाल में भी विद्यमान था। किन्तु उसका उपभोग किस प्रकार किसको करना चाहिए, इसके लिए नियम बना था और इसी लिए मानव समाज का चार विभाग किया गया था, जिसका नाम इस प्रकार है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन का भी चार विभाग किया गया था, यथा—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। गृहस्थ आश्रम में रहने वाले क्षत्रिय और वैश्य ही अनेक प्रकार के भवन, वस्त्र और भोजन आदि का निर्माण करके उनका उपयोग यथोचित रीति से करते थे, वे उनमें लिप्त नहीं होते थे। क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम में सभी का तपोमय जीवन व्यतीत होता था।

वर्णों में ब्राह्मण, गृहस्थाश्रम में रहकर भी तपस्वी ही होते थे। अतएव वे विषय लोलुप या धन संग्रही नहीं होते थे। शूद्र सेवा में तत्परता पूर्वक लगा रहने के कारण धनादि का संग्रह नहीं करता था। सेवा वही कर सकता है जो अपने आप को स्वामी के अर्पण कर दे और उस सेवक का समस्त जीवन निर्वाह स्वामी के द्वारा ही होता था। बन में रहने वाले बानप्रस्थी केवल तप करते थे, संन्यासी निर्धनों के समान वेष बना कर भिक्षा से जीवन निर्वाह करते थे। चारो वर्णों और आश्रमों के विशेष धर्मों का संस्कृत साहित्य में वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों तक में विस्तार से है, उन्हीं को देखना चाहिए। हमने भी संक्षेपमें सभी वर्णाश्रम धर्मों का वर्णन "साधु-दर्शन" नाम की पुस्तक में किया है, इस कारण यहाँ पर नहीं लिख रहे हैं। यह वर्णाश्रम धर्म किसी समय समस्त संसार में व्याप्त था। किन्तु समय के फेर से इसके रूप में परिवर्तन होगया और अब तो इस भारतवर्ष में भी पूर्ण रूप से समुपलब्ध नहीं हो रहा है।

आज तो अनेक प्रकार के मत चल पड़े हैं, सभी एक दूसरे की बुराई करते हैं, किसी को भी सन्तोष नहीं। जिन ऋषि,मुनि,तथा दर्शन-शास्त्र के वास्तविक ज्ञाताओं ने सांसारिक विषय का प्रत्यक्ष रूप से परित्याग कर दिया है वे संन्यासी, उदासी, वैरागी, भिक्षुक आदि के रूपसे संसारमें भ्रमण करते हुए स्वयं ज्ञानको प्राप्तकर परमानन्द में डूबे हुए औरोंको भी डुबाते थे। आज अपने आपको उन्हींके अनुयायी कहने वाले उन्हींके नामपर करोड़ोंकी सम्पत्ति तथा बड़े२ भवन के स्वामी बन कर विषयोपभोग में फँसकर दीन और दुखी हो रहे हैं। वास्तव में जो प्राचीन समय के समस्त संसार के दार्शनिक थे वे चाहे किसी भी देश, जाति, सम्प्रदाय में समुत्पन्न हुए थे, उनका जीवन निर्धनों के समान ही व्यतीत होता था। किन्तु वे सदा परमानन्द में निमग्न रहते थे, जिनका दर्शन करके ही संसार ताप से संतप्त जन परम शान्ति और सुख को प्राप्त करते थे।

वास्तव में यदि मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है, तो अपनी आवश्यकताओं को घटाकर जिस देश–काल में वह स्थित है, उसी के अनुसार अपना जीवन निर्वाह करता हुआ इन्द्रिय और मन को वश में करके परम तत्व को पाने का प्रयत्न करे। यही समस्त दर्शनों का सार है। हमने इस परिशिष्ट में कुछ आधुनिक वैज्ञानिक वस्तुओं की आलोचना की है। यदि प्रत्येक वस्तुओं की आलोचना करते तो बहुत विस्तृत ग्रंथ हो जाता, हमारी आलोचना का अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य सांसारिक पदार्थों का उपयोग नकरे। किन्तु उनका उपयोग विवेक पूर्वक करे और इस प्रकार उपयोग करे कि जिससे अपना और समस्त संसार के प्राणियों का भी लाभ हो। अर्थात् सभी मनुष्य सुख तथा शान्ति पूर्वक जीवनको निर्वाह करते हुए परमानन्द को प्राप्त करें और यह तभी सम्भव हो सकता है जबमनुष्य अपनी आवश्यकताओं को कम करे। क्योंकि मनुष्य की

आवश्यकता जितनी ही वृद्धि को प्राप्त होती है, उतना ही वह स्वयं अशान्त होता है और अन्य को भी अशान्त करता है। इसी कारण संसार में जितने भी दार्शनिक महापुरुष हुए हैं, उन्हों ने स्वयं सांसारिक आवश्यकता से दूर रह कर अन्य को भी वैसाही करने का उपदेश दिया है। वे अपनी बुद्धि के द्वारा ही पदार्थों के गुण-दोष का विचार करते थे, उनको वाह्य साधन की अपेक्षा नहीं होती थी। वर्तमान समय के वैज्ञानिकों को बहुत से वाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है, तब भी पदार्थों के वास्तविक गुण-दोष का परिज्ञान नहीं हो रहा है। अतएव यह प्रत्यक्ष है कि स्वयं उन आविष्कृत पदार्थों के दोषों के प्रभाव से भयभीत हो कर समस्त संसार को भी भयभीत कर रहे हैं। यद्यपि कुछ लोगों ने उससे बचने का प्रयत्न भी करना प्रारम्भ कर दिया है किन्तु उनका प्रयत्न सफल नहीं ह है। यदि मनुष्य सुख और शान्ति को चाहता है तो दार्शनिक-सिद्धान्तों पर आरूढ़ होकर अपने कर्तव्यों का पालन करता रहे, तभी सच्चा सुख और शान्ति प्राप्तहो सकती है अन्यथा नहीं।

॥ इति ॥

शुद्ध भाद्रपद शुक्ल मङ्गलवार
विक्रम सं० २०१३ को समाप्त

गङ्गा तट
हरद्वार